भारतीय शिक्षा
का
संक्षिप्त इतिहास

SPECIMEN

लेखक

प्रो० बंशीधरसिंह

एम० ए० (हिन्दी एवं इतिहास), बी० टी०, ए० डी० ई० (लन्दन)

अध्यक्ष—बलवन्त राजपूत शिक्षणमहाविद्यालय, आगरा

प्रो० भूदेव शास्त्री, सिद्धान्तशिरोमणि

एम० ए० (हिन्दी एवं संस्कृत), एल० टी०

प्राध्यापक—बलवन्त राजपूत शिक्षणमहाविद्यालय, आगरा

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड सन्स

आगरा, कानपुर, जयपुर, ग्वालियर

मूल्य ४॥)

प्राक्कथन

"भारतीय शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास" पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुये हमें हर्ष एवं संकोच दोनों का अनुभव हो रहा है। हर्ष का कारण तो स्पष्ट ही यह है कि हमें आशा है कि इसके माध्यम से उनकी किसी आवश्यकता की पूर्त्ति हो सकेगी, और संकोच हम इसलिये अनुभव कर रहे हैं कि समयाभाव के कारण यह उतना सुन्दर एवं उपयोगी नहीं बन सका है जितना कि हम इसे बनाना चाहते थे। फिर भी यदि हमारे पाठकों को इसमें कुछ सुन्दरता एवं उपयोगिता प्रतीत हो तो इसे हम उनकी गुणग्राहकता का ही परिणाम समझेंगे।

यह पुस्तक क्यों लिखी गई, इस विषय में दो शब्द कहना अनुचित न होगा। भारतीय शिक्षा के इतिहास पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। वे बड़ी सुन्दर तथा उपयोगी भी हैं परन्तु उनकी विद्यमानता में भी, हमें यह अनुभव हुआ कि अभी एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता है जिसमें भारत की प्राचीन तथा अर्वाचीन शिक्षाप्रणालियों का एक भारतीय की दृष्टि से विवेचन एवं मूल्यांकन किया जाये और साथ ही इन्हें इस रूप में प्रस्तुत किया जाये कि पाठक ऐतिहासिक क्रम से समूची शिक्षा के विकास के साथ-साथ उसके विविधस्तर-एवं-क्षेत्र-गत विकासों को भी पृथक्-पृथक् एक-एक स्थान पर संकलित पा सकें। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुये हमने वैदिक, बौद्ध एवं मुस्लिम शिक्षाओं को पृथक्-पृथक् एक-एक अध्याय दिया है और अध्याय सं० ७ तथा ८ में समूची बृटिशकालीन तथा स्वातंत्र्योत्तरकालीन शिक्षा को "एक दृष्टि में" प्रस्तुत करने के उपरान्त शिक्षा के विविध स्तरों तथा क्षेत्रों की चर्चा पृथक्-पृथक् एक-एक अध्याय में की है। हमें आशा है कि विषय-वस्तु की इस प्रकार की प्रस्तुति पाठकों के लिये अधिक सुविधाजनक रहेगी।

राज्य की दृष्टि से हमारा सम्बन्ध उत्तरप्रदेश के साथ है; अतः इस प्रदेश के प्रत्येक अध्यापक को इसके शिक्षा-सम्बन्धी विकास की विशिष्ट जानकारी होनी ही चाहिये। इसीलिये हमने "उत्तरप्रदेश में शिक्षा" शीर्षक एक अध्याय भी पुस्तक में सम्मिलित कर दिया है। उसमें पाठकों को इस राज्य की शिक्षा के विविधस्तरगत एवं क्षेत्रगत विकास का संकलित विवरण एक स्थान पर मिल जायेगा।

उत्तरप्रदेश के शिक्षा-विभाग द्वारा संचालित एल० टी० परीक्षा के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम में भारतीय शिक्षा का इतिहास एक अनिवार्य अंश के रूप

में रखा गया है। इस पुस्तक को लिखते समय हमारे सामने यह बात सदैव रही है कि एल० टी० तथा उसकी समकक्ष अन्य परीक्षाओं के लिये आवश्यक ऐतिहासिक जानकारी इसमें अवश्य संकलित हो जाये। परीक्षार्थियों के लिये इसकी उपयोगिता बढ़ाने की दृष्टि से ही हमने परिशिष्ट में परीक्षोपयोगी प्रश्नों की एक सूची भी दे दी है। जहाँ तक हमारी जानकारी है, परीक्षाओं की दृष्टि से आवश्यक सूचनाओं का इस प्रकार का संकलन किसी अन्य पुस्तक में नहीं हुआ है। हमें पूर्ण आशा है कि हमारा यह प्रयत्न परीक्षार्थियों की पूरी सहायता करेगा और अन्य पाठकों को भी भारतीय शिक्षा-विकास का पर्याप्त विस्तृत परिचय दे सकेगा।

प्रस्तुत पुस्तक में जो कुछ लिखा गया है वह शिक्षा-इतिहास के विविध विद्वानों द्वारा लिखे हुये ग्रन्थों तथा विभिन्न रिपोर्टों पर ही आधारित है। फलतः हम अपनी उपजीव्य सामग्री के सभी लेखकों के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करते हैं; क्योंकि उनके पथ-प्रदर्शन के बिना हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते थे। अन्त में हम इस पुस्तक प्रकाशक [illegible] श्री [illegible] ड सन्स, आगरा, के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। उनके सहयोग के बिना तो यह पुस्तक पाठकों की सेवा में पहुँच ही नहीं सकती थी। यदि इसके द्वारा भारतीय शिक्षा-इतिहास के जिज्ञासुओं तथा शिक्षणमहाविद्यालयों के छात्रों की कुछ सेवा हो सकी तो हम अपने-आपको कृत्यकृत्य अनुभव करेंगे। जो महानुभाव इसमें सुधार के भावों से हमें कृतार्थ करेंगे उनके प्रति तो हम और अधिक कृतज्ञ होंगे।

विजयादशमी
१४ अक्टूबर, १९५६ ई०

बंशीधरसिंह
भूदेव शास्त्री

अध्याय-सूची

अध्याय १

भारतीय इतिहास की रूपरेखा—सिंहावलोकन

अध्याय-संक्षेप :—१. प्रस्तावना। २. विषय-प्रवेश। ३. चार हजार ई० पू० से दो हजार ई० पू० तक। ४. दो हजार ई० पू० से छः सौ ई० पू० तक। ५. छः सौ ई० पू० से तीन सौ ई० तक। ६. तीन सौ ई० से इस्लामी विजय तक। ७. भारत में इस्लामी राज्य। ८. अंगरेजी राज्य। ९. स्वतन्त्र भारत।

प्रस्तावना—किसी देश के शिक्षा के इतिहास को ठीक प्रकार से समझने के लिए उसके इतिहास की मुख्य धाराओं से परिचय आवश्यक होता है। सभ्यता एवं संस्कृति के साथ शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। सभी विचारकों ने शिक्षा की उन्नति एवं अवनति का सभ्यता के उत्थान एवं पतन के साथ अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध माना है। इसलिए यह उचित होगा कि भारतीय शिक्षा के इतिहास को समझने का प्रयत्न करने के पूर्व इस देश के इतिहास की मुख्य-मुख्य धाराओं को हृदयंगम कर लिया जाये।

विषय-प्रवेश—भारत एक बहुत ही प्राचीन देश है। भारतीय परम्परा तो इसकी प्राचीनता को लाखों वर्ष पीछे तक खींच ले जाती है; परन्तु आधुनिक इतिहासकार भी इसको विश्व के प्राचीनतम देशों में से एक तो मानते ही हैं। इसका अपना अत्यन्त समृद्ध साहित्य-भण्डार भी है। विश्व के पुस्तकालय का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद इसीके साहित्य का अमूल्य रत्न है। परन्तु यह बड़े आश्चर्य एवं खेद का विषय है कि वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों एवं नानाविध दर्शनों से भरपूर इसके साहित्य में क्रमबद्ध इतिहास का पूर्णतः अभाव है। फलतः इस विषय में जो कुछ स्वदेशी एवं विदेशी सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर भारतीय इतिहास की पुनःरचना की जाती है और ज्यों-ज्यों नई-नई खोजें होती जाती हैं उसके रूप में परिवर्तन होता जाता है। अब तक जो कुछ जाना जा सका है, उसके आधार पर भारतीय इतिहास की रूपरेखा निम्नलिखित है:—

४००० ईस्वी पूर्व से २००० ईस्वी पूर्व तक

इस काल का क्रमबद्ध इतिहास अभी तक नहीं रचा जा सका है। भारत के आदि-निवासी कौन थे, क्या आर्य एक विदेशी जाति थे, उनके आगमन से पूर्व

भारत में कौन-सी जाति रहती थी, क्या वही भारत की मूल जाति थी अथवा स्वयं कहीं बाहर से आई थी; और यदि आर्य एक विदेशी जाति थे तो उनका आगमन कब और कहाँ से हुआ था, आदि प्रश्न अब भी विवादास्पद बने हुए हैं। फिर भी इस काल की मुख्य ऐतिहासिक घटनाएँ सिन्धुघाटी की सभ्यता एवं आर्यों का भारत में आगमन मानी जाती हैं। मोहन-जे-दड़ों एवं हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर पता चलता है कि इस काल में सिन्धुघाटी में एक उच्चकोटि की सभ्यता विकसित हो चुकी थी। यह अभी निश्चित नहीं हो सका है कि यह सभ्यता द्रविड़ों की थी अथवा उससे मिलती हुई किसी अन्य भारतीय जाति की। किन्तु खुदाई में प्राप्त मोहरों की लिपि से प्रकट होता है कि इस सभ्यता में शिक्षा का स्थान अवश्य था।

इस काल की दूसरी मुख्य घटना भारत में आर्यों का आगमन है। यह जाति सम्भवत: ३००० ई० पूर्व से २५०० ई० पूर्व के बीच भारत में आई। ऋग्वेद इसी जाति का धर्मग्रन्थ है। विद्वानों ने इसका निर्माण-काल २५०० ई० पूर्व माना है। ऐतिहासिक दृष्टि से ऋग्वेद का अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि इसकी रचना के समय तक आर्यों का प्रथम उपनिवेश पंजाब में स्थापित हो चुका था।

२००० ईस्वी पूर्व से ६०० ईस्वी पूर्व तक

२००० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक आर्यों के उपनिवेशों का विस्तार पूर्व एवं दक्षिण में होता रहा। भारत के पूर्व-निवासियों के साथ संघर्ष, समन्वय एवं उन्मूलन की प्रक्रिया भी निरन्तर चलती रही। इसी बीच में आर्यऋषियों ने अन्य संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना की। उपनिषदों के समय तक आर्य पूर्व में बिहार तथा दक्षिण में विन्ध्यप्रदेश तक बस चुके थे। इसी प्रसार-काल में उनके अनेक राज्य स्थापित हुए। कुरु, काशी, कोसल तथा विदेह इनमें से मुख्य थे। महाभारत का युद्ध अनुमानत: १४०० ई० पू० से १००० ई० पू० के बीच में हुआ था। इस समय तक आर्य-सभ्यता अपने पूर्ण विकास पर पहुँच चुकी थी।

६०० ईस्वी पूर्व से ३०० ई० तक

इस काल के भारतीय इतिहास का अधिक विस्तृत एवं क्रमबद्ध ज्ञान उपलब्ध है। इस समय तक सम्पूर्ण भारतवर्ष आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव में आ चुका था। छोटे-बड़े अनेक गणतन्त्र एवं राजतन्त्र भी स्थापित हो चुके

थे। प्रसिद्ध सोलह महाजनपदों की स्थापना का भी यही काल था। इन महाजनपदों में मुख्य अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जि, मल्ल, वत्स, कुरु, पाञ्चाल, अवन्ती एवं चेदि थे। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत जनपदों में विभक्त हो गया था।

पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में इन राज्यों के बीच आधिपत्य एवं प्रभुता की होड़ लग चुकी थी और संघर्ष आरम्भ हो गये थे। इस संघर्ष में मगध की विजय हुई तथा उसका प्रभुत्व बढ़ गया। मगध में शिशुनाग-वंश स्थापित हुआ। इसने साम्राज्यवादी नीति अपनाई। अंग तथा लिच्छवि गणतन्त्रों पर विजय प्राप्त करके मगध ने उन्हें अपने अधीन कर लिया। कोसल के साथ उसका निरन्तर युद्ध चलता रहा। अन्त में कोसल की पराजय हुई। ई० पू० चौथी शताब्दी के मध्य तक पंजाब तथा सिन्धु को छोड़कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत मगध साम्राज्य के अन्तर्गत आगया।

इसी काल में ३२७ ई०पू० से ३२५ ई०पू० के बीच भारतवर्ष पर यूनानी सम्राट् सिकन्दर का आक्रमण हुआ। ३२१ ई० पू० में मगध का सिंहासन मौर्यों के हाथ में आगया। सिकन्दर के छत्रप सेल्यूकस पर विजय प्राप्तकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध साम्राज्य को हिन्दुकुश एवं हिरात तक बढ़ाया।

राजनीतिक क्रान्तियों की भाँति इस काल में धार्मिक क्रान्तियाँ भी हुईं। छठी शताब्दी ई० पू० में उस समय के वैदिक-धर्म में उत्पन्न हो गई बुराइयों के विरोधी दो बड़े सुधारवादी धर्मों का उदय हुआ। वे धर्म थे जैन एवं बौद्ध। सम्पूर्ण भारतीय समाज वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्मों में विभक्त हो गया। भागवत-धर्म का उदय भी छठी शताब्दी ई० पू० में ही हुआ था।

मगध साम्राज्य बढ़ता जा रहा था। २७० ई० पू० से २३० ई० पू० तक प्रसिद्ध सम्राट् अशोक मगध के राजसिंहासन पर रहा। उसके राज्य-काल में लगभग सम्पूर्ण भारत मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। सुदूर दक्षिण में पिनार नदी तक उसके साम्राज्य की सीमा फैली हुई थी। सम्राट् अशोक ने कलिंग देश (वर्त्तमान उड़ीसा एवं मद्रास का कुछ भाग) पर चढ़ाई की और उसे रौंद डाला। उस युद्ध में होनेवाले जनसंहार से प्रभावित होकर उसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया और अहिंसा की नीति अपनाई। राजकीय समर्थन पाकर बौद्धधर्म अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया। भारतवर्ष का कोना-कोना ही नहीं अपितु इसके सभी पड़ोसी देश भी बौद्धधर्म के सन्देश से गूँजने लगे।

अशोक की शान्ति-नीति की प्रतिक्रिया भारत के राजनीतिक इतिहास पर भी हुई। राष्ट्र की सैनिक-शक्ति का ह्रास हुआ और मौर्य साम्राज्य विघटन के पथ पर

चल पड़ा। देश पर विदेशी शक्तियों के आक्रमण होने लगे। यूनानी, पार्थियन, शक, कुशान एवं हूण आदि विदेशी जातियाँ पश्चिमोत्तर की ओर से भारत पर चढ़ाई करने लगीं। देश के पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर इन जातियों ने अपनी सत्ता भी स्थापित कर ली। २०० ई० पू० से ईसा की तीसरी शताब्दी तक भारत में राजनीतिक उथल-पुथल बनी रही। लगभग ५०० वर्षों की अशान्ति एवं अस्थिरता के बाद ३२० ई० में मगध में गुप्त साम्राज्य का उदय हुआ। गुप्तों ने एक बार फिर देश में एक शक्तिशाली साम्राज्य को जन्म दिया।

३०० ईस्वी से इस्लामी विजय तक

इस काल में दो शताब्दियों तक भारत में गुप्त साम्राज्य की प्रधानता रही। उसकी छत्रछाया में वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति एक बार फिर अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई। किन्तु दो शताब्दियों की शान्ति एवं समृद्धि भोग लेने के बाद भारत का पश्चिमोत्तर पुनः मध्य एशिया के अर्द्धसभ्य हूणों के आक्रमणों से पदाक्रान्त होने लगा। उनकी चोटों ने गुप्त साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया। हूण-आक्रमणों के कारण भारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो गई और सम्पूर्ण देश अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त हो गया।

गुप्तों के उपरान्त भी उतरी भारत में साम्राज्य स्थापित करने के अनेक प्रयत्न हुए। ५३० ई० में यशोधर्मन् ने, ६०० ई० में शशांक ने, ६०० और ६४७ ई० के बीच हर्षवर्धन ने, ७०० ई० में यशोवर्मन ने तथा ७३० ई० में ललितादित्य ने इस दिशा में प्रयत्न किये; परन्तु किसीका प्रयत्न स्थायी रूप में सफल न हो सका।

दक्षिण भारत में चालुक्यों ने ५५० ई० से ७५३ ई० तक अपना शक्तिशाली साम्राज्य चलाया। ७५३ ई० में राष्ट्रकूटों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। ७५३ ई० से ९७६ ई० तक दक्षिण में राष्ट्रकूटों की प्रधानता रही। राष्ट्रकूट-शक्ति उत्तर भारतवर्ष की ओर भी बढ़ी; परन्तु यहाँ उसे दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों संघर्ष करना पड़ा। इस समय उत्तर भारत में बंगाल का पालवंश और राजस्थान तथा कन्नौज का गुर्जर-प्रतिहार वंश ये दो साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। राष्ट्रकूटों के साथ इनका संघर्ष होना स्वाभाविक ही था। प्रत्येक ने कुछ समय तक अपना-अपना साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की; परन्तु दो-सौ वर्षों—७५० ई० से ९५० ई० तक—के निरन्तर संघर्ष ने तीनों की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। परिणामस्वरूप भारतवर्ष फिर अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। देश की सामूहिक प्रतिरोध-शक्ति क्षीण हो गई

और भारत पर महमूद गज़नवी के आक्रमणों (१००० ई० से १०३० ई०) के लिए मार्ग सरल हो गया।

ईसा की सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का समय भारतीय इतिहास में "राजपूत-काल" के नाम से विख्यात है। महमूद गज़नवी के आक्रमण से १५० वर्ष तक भारतवर्ष पर विदेशी आक्रमण नहीं हुए। किन्तु इस बीच में राजपूत राज्य परस्पर लड़-लड़कर देश की शक्ति एवं एकता को नष्ट करते रहे। बारहवीं शताब्दी के अन्त में उत्तरी भारत के कन्नौज में गहरवार वंश का तथा दिल्ली-अजमेर में चौहानों का राज्य हुआ। सन् ११९२ ई० में मुहम्मद गोरी ने आक्रमण करके इन राजपूत राज्यों को समाप्त कर दिया। इस प्रकार इस्लाम की विजय हुई और भारतवर्ष में इस्लामी शासन की स्थापना हुई।

दक्षिण भारत में राष्ट्रकूटों के बाद चालुक्य-शक्ति का पुनः अभ्युदय हुआ। सन् ९३७ ई० से ११९१ ई० तक उनकी शक्ति प्रबल रही। इस काल के उपरान्त उनका साम्राज्य देवगिरि के यादवों तथा द्वारसमुद्र के हौइसलों में विभक्त हो गया। सुदूर दक्षिण में पल्लव-शक्ति का प्रभुत्व ईसा की नवीं शताब्दी तक बना रहा। उसके बाद उसका स्थान चोल-शक्ति ने ग्रहण कर लिया। चोल-शक्ति का प्रभुत्व तेरहवीं शताब्दी तक बना रहा।

भारत में इस्लामी राज्य

ऊपर कहा जा चुका है कि ११९२ ई० में मुहम्मद गोरी ने उत्तरी भारत में विजय प्राप्त की। उसके गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली में "गुलाम-वंश" के शासन की नींव डाली। सन् ११९२ ई० से सन् १५२५ ई० तक दिल्ली पर गुलाम-वंश, खिलजी-वंश, तुग़लक-वंश, सैयद-वंश तथा लोदी-वंश का राज्य क्रमशः चलता रहा। अलाउद्दीन एवं मुहम्मद तुग़लक जैसे प्रबल सुलतानों के शासन में प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष इस्लामी शासन के नीचे आ गया था। किन्तु दिल्ली के सुलतानों की शक्ति क्षीण होते ही प्रान्तीय राज्य अपना सिर उठा लेते थे। सन् १५२६ ई० में भारतवर्ष पर बाबर का आक्रमण हुआ और मुग़ल-राज्य की स्थापना हुई। २०० वर्षों तक भारत में मुग़ल साम्राज्य की सत्ता दृढ़ रही। औरंगज़ेब के उपरान्त ही मुग़ल साम्राज्य तेज़ी से विघटित होने लगा और अनेक प्रान्तीय राज्य स्थापित हो गये।

इस्लामी शासन-काल में भी कतिपय हिन्दू राज्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रहे। दक्षिण में विजयनगर साम्राज्य १३५० ई० से १५६५ ई० तक चलता रहा।

अकबर के शासन-काल में मेवाड़ राज्य न केवल अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रहा अपितु मुग़ल-सत्ता के सिर में दर्द उत्पन्न करता रहा। मुग़ल शासन के अन्तिम दिनों में मराठों, राजपूतों तथा सिखों ने क्रमशः दक्षिण, राजस्थान तथा पंजाब में अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में मराठों ने प्रायः सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

अंगरेज़ी राज्य

सोलहवीं शताब्दी से ही भारत में यूरोपीय जातियों का आना आरंभ हो गया था। डच, पुर्तगाली, स्पेनिश, फ्रांसीसी, तथा अंगरेज़ सभी आरंभ में व्यापारियों के रूप में भारत में आये थे और बहुत दिनों तक व्यापार ही करते रहे। धीरे-धीरे इन जातियों ने भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक दशा से लाभ उठाना आरंभ कर दिया और ये अपने-अपने राज्य स्थापित करने लगीं। उनके परस्परिक संघर्ष में अन्ततोगत्वा अंगरेजों की विजय हुई और इनकी शक्ति दिनों-दिन बढ़ती गई। अंगरेज़ों ने सन् १८१८ ई० में मराठा-शक्ति को पराजित किया और सन् १८४९ ई० में सिखों का राज्य छीन लिया। सन् १८५७ ई० तक सम्पूर्ण भारत पर उनका प्रभुत्व छा गया। सन् १८५७ ई० में ही धूधूपन्त नाना साहब, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई, कुँवर जगदीशसिंह आदि के नेतृत्व में भारत का प्रथम स्वाधीनता-संग्राम लड़ा गया जो कि असफल रहा और जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत-भूमि पर अंगरेज़ी शक्ति का आतंक छा गया। सन् १८५७ ई० से सन् १९४७ ई० तक सम्पूर्ण भारत पर अंगरेज़ी-शक्ति अक्षुण्ण राज्य करती रही।

स्वतन्त्र भारत

१५ अगस्त सन् १९४७ ई० के दिन भारत अंगरेज़ी शासन से मुक्त हो गया। देश की राष्ट्रीय शक्तियों के सतत प्रयत्नों तथा विश्व की राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से विवश होकर अंगरेज़ों ने भारत पर से अपनी सत्ता उठाली। किन्तु देश का विभाजन होगया और अखण्ड भारत हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान इन दो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र राज्यों में परिणत हो गया। स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त भारत निरन्तर प्रगति-पथ पर बढ़ता जा रहा है।

———

अध्याय २

भारतीय शिक्षा–इतिहास में काल-विभाजन

अध्याय-संक्षेप :––१. काल-विभाजन। २. काल-विभाजन के आधार। ३. काल और उपकाल। ४. नवीन काल का अभिप्राय। ५. बौद्धकाल की सीमाएँ।

काल-विभाजन–प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि भारत में आर्यों का आगमन सम्भवतः ३००० ई० पू० और २५०० ई० पू० के बीच में हुआ और भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना भी २५०० ई० पू० के लगभग ही हुई। चूंकि ऋग्वेद से पूर्ववर्ती कोई रचना उपलब्ध नहीं है; अतः शिक्षा के इतिहास का आरम्भ ऋग्वेद-काल से ही किया जा सकता है। इस काल अर्थात् २५०० ई० पू० से प्रवर्त्तमान सन् १९५६ ई० तक के लगभग ४,४५६ वर्षों को विचार एवं विवेचना की सुविधा के लिए हमने निम्नलिखित कालों में बाँट लिया है :––

१––वैदिककाल	२५०० ई० पू० से ५०० ई० पू०	तक।
२––बौद्धकाल	५०० ई० पू० से १२०० ई०	तक।
३––मुस्लिमकाल	१२०० ई० से १७०० ई०	तक।
४––सन्धिकाल	१७०० ई० से १८१३ ई०	तक।
५––बृटिशकाल	१८१३ ई० से १९४७ ई०	तक।

६––स्वातन्त्र्योत्तर काल सन् १९४७ से आगे।

काल-विभाजन के आधार–इन कालों के विषय में भी कुछ बातें स्पष्टतया समझ लेनी चाहिये। उन्हें समझ लेने से जो कुछ आगे लिखा जायेगा उसे हृदयं-गम करना सरल हो जायेगा। प्रथम बात तो यह कि वैदिककाल के आरंभ से लेकर वर्त्तमान काल तक के समय का उपरिलिखित छः कालों में विभाजन कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर समझने की सुविधा के लिए कर लिया गया है। वैदिककाल की ऊपरी तथा नीची सीमाएँ हमने ऋग्वेद-निर्माणकाल से भगवान् बुद्ध के जन्मकाल के लगभग तक रखी हैं। वहाँ से नालन्दा विश्व-विद्यालय के ध्वंस तक बौद्धकाल और तदुपरान्त मुग़ल-शासन की समाप्ति के लग-भग तक मुस्लिमकाल मान लिया है। मुग़ल-शासन की समाप्ति से सन् १८१३ ई० तक के काल को हम इसलिए सन्धिकाल कह रहे हैं क्योंकि इस बीच में पहले से चली आती हुई शिक्षा-प्रणालियाँ बिना किसी मजबूत सहारे के ज्यों-त्यों करके

पतनोन्मुख रूप में जीवित रहीं। सन् १८१३ ई० से हमने बृटिशकाल का आरंभ किया है। इसका कारण भी यह है कि इसी सन् में पार्लियामेण्ट के आज्ञापत्र के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में शिक्षा-संचालन का उत्तरदायित्व आंशिक रूप में स्वीकार किया था। यह काल सन् १९४७ ई० में बृटिश-राज्य की समाप्ति के साथ समाप्त हो गया। १५ अगस्त सन् १९४७ ई० से स्वातन्त्र्योत्तरकाल का आरम्भ हुआ और वह अब भी चल रहा है। अनेक लेखक पांचवें तथा छठे कालों को मिलाकर एक नाम—आधुनिक काल—ही देते हैं। हमने उन्हें अलग-अलग रखना ही उचित समझा है और उनके लिए हम पृथक् अध्याय भी देंगे।

काल और उपकाल—इस विषय में दूसरी बात यह है कि प्रत्येक काल अनेक उपकालों में विभक्त रहा है और वे समस्त उपकाल कतिपय सामान्य प्रवृत्तियों के कारण उस काल के अन्तर्गत रखे गये हैं। प्रस्तुत पुस्तक में हमने आरंभिक तीनों कालों की सामान्य प्रवृत्तियों का ही वर्णन किया है। कौन-सा काल किन-किन उपकालों में विभक्त रहा है, इसकी चर्चा आवश्यकतानुसार यथास्थान की जायेगी। सामान्य प्रवृत्तियों के ही वर्णन में हमारा एकमात्र प्रयोजन अनावश्यक विस्तार से बचना है।

"नवीन काल" का अभिप्राय—बहुत-से छात्र शिक्षा का इतिहास पढ़कर यह समझने लगते हैं कि एक काल की दी हुई अवधि समाप्त होने के बाद एकदम नवीन प्रकार की शिक्षा-प्रणाली आगई होगी। इस भ्रम के निराकरण के लिए हम तीसरी बात प्रस्तुत करना चाहते हैं। सत्य यह है कि प्रत्येक परवर्ती काल में अपने पूर्ववर्ती काल अथवा कालों की शिक्षा-व्यवस्था किसी-न-किसी रूप में विद्यमान अवश्य रही। उदाहरणार्थ, बौद्धकाल में बौद्ध शिक्षा-संगठनों के अतिरिक्त वैदिक ढंग के शिक्षा-संगठन भी निरन्तर चलते रहे और बौद्ध शिक्षा-संगठनों में जिनके शिक्षण की व्यवस्था नहीं हो सकती थी अथवा जो उसमें अपने बालकों को नहीं भेजना चाहते थे, वे उनका लाभ उठाते रहे। मुस्लिम-शासन में भी, जिसने न केवल अपने ढंग की शिक्षा-व्यवस्था चलाई अपितु वैदिक एवं बौद्ध शिक्षा-संगठनों को शस्त्रबल से ध्वस्त भी किया, प्राचीन ढंग के शिक्षा-संगठन चलते रहे। उपयुक्त अवसर पर इस विषय पर भी प्रकाश डाला जायेगा। और आजकल भी जब कि चारों ओर अंगरेज़ी तथा आधुनिकता का बोलबाला है, गुरुकुलों, ऋषिकुलों, विद्यापीठों तथा संस्कृत-पाठशालाओं के रूप में वैदिककाल के-से शिक्षणालय मिलते हैं। यह दूसरी बात है कि उनके रूप में युग

की माँग के अनुरूप थोड़ा परिवर्तन आ गया है। शिक्षा के इतिहास के विद्यार्थी को प्रत्येक काल का अध्ययन करते समय यही बात मन में रखनी चाहिये कि अमुक समय में अमुक-अमुक कारणों से शिक्षा के एक नये रूप को भी जन्म मिला और वह इतने समय तक इन-इन रूपों में चलता रहा।

बौद्धकाल की सीमाएँ—एक बात बौद्ध-काल के विषय में भी कह देना उचित होगा। प्रथम अध्याय में हमने भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन किया है। उसे देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जितनी अवधि (५०० ई० पू० से १२०० ई० तक) को हमने बौद्धकाल कहा है वह वस्तुतः बौद्धकाल, संक्रातिकाल, गुप्तकाल, हर्षकाल तथा राजपूतकाल इनका एक सम्मिलित रूप रहा है। और यह भी हम उसी अध्याय में कह चुके हैं कि गुप्तकाल तथा राजपूतकाल वैदिकधर्म के पुनरुत्थान के काल थे। इस परस्पर विरोध को जानते हुए भी हमने बौद्धकाल की अवधि को इतना विस्तृत इसलिए कर दिया है कि हमें आगे चलकर बौद्ध-विहारों, तक्षशिला विद्यापीठ तथा नालन्दा विश्व-विद्यालय का बौद्ध-शिक्षा के अन्तर्गत वर्णन करना है; और यह भी दिखाना है कि वैदिक पुनरुत्थान के प्रयत्नों का बौद्ध-शिक्षा-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा। सावधानी के लिए ये सामान्य बातें कहकर अब हम भिन्न-भिन्न कालों के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं।

अध्याय ३

वैदिककालीन शिक्षा

अध्याय-संक्षेप :—१. वैदिककाल के उपकाल। २. उपकालों की सामान्य प्रवृत्ति। ३. काल का नाम "वैदिककाल" ही। ४. शिक्षा के उद्देश्यों के आधार। ५. वैदिककाल की दशा-साहित्य, व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन, धार्मिक दशा, उधोग-धन्धे, राज्यतन्त्र। ६. वैदिककाल की शिक्षासम्बन्धी आवश्यकताएँ। ७. वैदिककालीन शिक्षा के उद्देश्य। ८. शिक्षा-प्रणाली–उपनयन, व्रतोपदेश, भिक्षावृत्ति, शिक्षा की अवधि, दीक्षान्त, व्रतग्रहण। ९. अनध्याय। १०. शिक्षा के स्थल एवं माध्यम। ११. पाठ्यक्रम। १२. अध्यापन-विधि। १३. स्त्री-शिक्षा। १४. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध। १५. समालोचना, विशेषताएँ—त्रुटियाँ। १६. उपसंहार।

वैदिककाल के उपकाल—पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि वैदिक-काल का विस्तार २५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक है। उस सम्पूर्ण काल को वैदिक-साहित्य की विभिन्न रचनाओं के रचनाक्रम के आधार पर निम्नलिखित उपकालों में विभक्त किया जा सकता है:—

१—ऋग्वेदकाल।

२—उत्तरवैदिककाल।

३—ब्राह्मणकाल।

४—उपनिषत्काल।

५—सूत्रकाल।

६—स्मृतिकाल।

उपकालों की सामान्य प्रवृत्ति—इस सम्पूर्ण काल को वैदिककाल कहने तथा इन समस्त उपकालों को वैदिककाल के अन्तर्गत करने का एक विशिष्ट कारण है। वह कारण यह है कि इस काल में वेद की प्रधानता रही। ब्राह्मण से लेकर स्मृतियों तक सभी साहित्य वेद को परम प्रमाण मानकर लिखा गया। इन सभी ग्रन्थों में वेदप्रतिपादित ज्ञानसूत्रों, कर्म-काण्डों तथा व्यवहार-मर्यादाओं की ही व्याख्या एवं विवेचना हुई। वेद की प्रधानता के कारण ही इस काल को "वैदिक-काल" कहा जाता है।

काल का नाम "वैदिककाल" ही—कुछ इतिहास लेखकों ने इस काल को "ब्राह्मणकाल" कहा है। सम्भवतः इस नामकरण में उनकी युक्ति यह रही है कि चूंकि इस काल में समाज एवं शिक्षा-व्यवस्था दोनों में ब्राह्मणों की प्रधानता रही है; इसलिए इसे ब्राह्मणकाल कहना चाहिये। हमारी सम्मति में इस काल को "वैदिककाल" ही कहना चाहिये; क्योंकि प्रधानता इसमें वस्तुतः वेद की ही रही है। ब्राह्मण की जो कुछ महत्ता रही वह वेद के ही कारण। वेद की महत्ता थी साध्य-रूप में और ब्राह्मण की उसके अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचार के साधन के रूप में।

शिक्षा के उद्देश्यों के आधार—सम्पूर्ण वैदिककाल में शिक्षा के उद्देश्य तो एक-से रहे; परन्तु ज्यों-ज्यों वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में बदलती गई, कर्म-काण्ड में जटिलता उत्पन्न होती गई, ज्ञानक्षेत्रों का विस्तार होता गया और नये-नये जीविका-साधन विकसित होते गये, वैसे-वैसे ही पाठन-प्रणाली एवं पाठ्यक्रम में परिवर्तन आता गया। शिक्षा किसी भी काल में दी जाये, उसके उद्देश्यों का निर्धारण या तो समाज की आवश्यकता पर आधारित होता है अथवा शिक्षा-संचालकों की आवश्यकता पर। जब समाज अपने भाग्य-निर्माण में स्वतन्त्र होता है तो वह अपनी शिक्षा का आधार अपनी सामाजिक आवश्यकता को बनाता है। परतन्त्र स्थिति में उसे विवश होकर शिक्षा-संचालकों की आवश्यकता को आधार बनाना पड़ता है। मुस्लिमकाल तथा अंगरेज़ी राज्यकाल में ऐसा ही हुआ। इसकी विवेचना यथास्थान की जायेगी।

वैदिककाल की दशा—यहाँ हमें वैदिककाल की शिक्षा-व्यवस्था को समझना है; अतः पहले उस काल के समाज की आवश्यकताओं को समझ लेना उचित होगा। इसके लिए हम साहित्य, व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन, धार्मिक दशा, उद्योग-धन्धे तथा राज्यतन्त्र इन पाँच शीर्षकों में उस काल के जीवन के स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

साहित्य

ऋग्वेदकाल में—इस समय का साहित्य ऋग्वेद के मन्त्रों तक ही सीमित था। इस समय तक लिपि का निर्माण हो पाया था या नहीं, इस विषय में विद्वानों में मत-भेद है। एक पक्ष कहता है कि इस समय आर्यों के पास एक लिपि थी और दूसरे पक्ष का कथन है कि नहीं थी। सत्य चाहे जो कुछ हो परन्तु वेद को कण्ठाग्र कर लेने की परम्परा अवश्य थी और शिष्य मन्त्रों का उच्चारण गुरु के उच्चारण के सहारे ही सीखता था।

उत्तर वैदिककाल में—इस काल में शेष तीन संहिताओं—यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद—की रचना हुई । भारतीय परम्परा के अनुसार संहिताएँ उपरिलिखित क्रम में ही बोली जाती हैं, परन्तु ऐतिहासिकों का विचार है कि उनका निर्माण सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद इस क्रम से हुआ ।

ब्राह्मणकाल में—ब्राह्मणकाल में ब्राह्मणग्रन्थों तथा आरण्यकों की रचना हुई। प्रत्येक संहिता का अपना-अपना ब्राह्मण है । इनमें उस संहिता में प्रतिपादित यज्ञों के छोटे-से-छोटे विवरणों की विस्तृत विवेचना एवं व्याख्या की गई है । ये ग्रन्थ आज भी मिलते हैं। ऋग्वेद का ब्राह्मण ऐतरेय, यजुर्वेद का शतपथ, सामवेद का पंचविंश तथा अथर्ववेद का गोपथ कहा जाता है।

ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यक कहे जाते हैं। संहिताओं में जो कुछ कहा गया है उसे दो काण्डों—ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्ड—में विभक्त किया जाता है । ज्ञानकाण्ड का सम्बन्ध यज्ञों से न होकर दार्शनिक विचारों के साथ है । आरण्यकों में यज्ञों के दार्शनिक पक्ष का चिन्तन हुआ है।

उपनिषत्काल में—जिस प्रकार ब्राह्मणों का मुख्य-विषय कर्मकाण्ड है, उसी प्रकार उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड । उपनिषदें आरण्यकों के अन्तिम रूप हैं । इनमें न केवल ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन हुआ है अपितु कर्मकाण्ड की निन्दा भी की गई है। इस काल में इन्हीं उपनिषत्-ग्रन्थों की रचना की गई। मुख्य उपनिषदें तो दस ही हैं परन्तु धीरे-धीरे अब तो उनकी संख्या सैकड़ों तक जा पहुँची है।

सूत्रकाल में—ब्राह्मण एवं उपनिषदों की भाँति सूत्र किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है। इस काल में जिन ग्रन्थों की रचना हुई सूत्रपद्धति में हुई। अधिक से अधिक वस्तु को कम-से-कम शब्दों में कहना सूत्र कहलाता है। सबसे पहले शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष इन वेदांगों की सूत्ररूप में रचना हुई । तत्पश्चात् कल्पसूत्रों पर आधारित श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों की रचना हुई। सूत्रग्रन्थों की रचना मंत्रों की व्याख्या, रक्षा एवं विनियोग की दृष्टि से हुई थी। धर्मसूत्रों में व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यवहार का प्रतिपादन हुआ । इसी काल में रामायण एवं महाभारत इन दोनों महाकाव्यों की भी रचना हुई।

स्मृतिकाल में—इस काल में स्मृतियों अथवा धर्मशास्त्रों की रचना हुई। इनकी रचना सूत्रपद्धति में न होकर श्लोकपद्धति में हुई। इनके आधार-ग्रन्थ सूत्रकाल के धर्मसूत्र रहे । मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा नारदस्मृति

इस काल के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। आज उनके जो रूप मिलते हैं उनमें बहुत-सा अंश बाद में जोड़ा हुआ है।

व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन

ऋग्वेदकाल में—इस काल के आर्य लोगों का व्यक्तिगत जीवन सरल एवं शुद्ध था। यौन-नैतिकता उच्चकोटि की थी। उनका दृष्टिकोण आस्तिकतापूर्ण तथा आदर्श "सादा जीवन उच्च विचार" था। सभी निष्ठा के साथ अपने धार्मिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों को पूरा करते थे।

सामाजिक दृष्टि से सम्पूर्ण आर्यजाति कुलों अथवा परिवारों में विभक्त थी। जाति-व्यवस्था का आरम्भ नहीं हुआ था। आर्य एवं अनार्य दो ही वर्ग थे। आर्य-वर्ग में पाँच कुल प्रमुख थे, जिन्हें "पञ्चजनाः" नाम से कहा जाता था। परिवार संयुक्त थे और उनमें पिता अथवा बड़े भाई की प्रधानता थी। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही आदरपूर्ण स्थिति प्राप्त थी। बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी और थोड़े-से प्रतिबन्धों के साथ उन्हें पति चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। अनार्यों के साथ आर्यों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता था और अनार्य व्यक्ति दासों के रूप में धीरे-धीरे समाज के अंग बनते जाते थे।

उत्तर वैदिककाल में—व्यक्तिगत जीवन के आदर्श एवं व्यवहार ऋग्वेद-काल के ही समान रहे। ऋग्वेदकाल की वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में परिणत होकर स्थायित्व ग्रहण करने लगी। परिवार का संगठन पूर्ववत् रहा। स्त्रियों की स्थिति रही तो आदरपूर्ण, परन्तु उनकी स्वाधीनता में कुछ कमी आने लगी। उनका कार्य-क्षेत्र परिवार में सीमित रहने लगा; तथापि यज्ञों में उनका भाग सुरक्षित रहा। अनार्यों पर आर्यों की विजय लगभग पूर्ण हो गई।

ब्राह्मणकाल तथा उपनिषत्‌काल में—व्यक्तिगत जीवन के आदर्श एवं व्यवहार ज्यों के त्यों रहे। जाति-व्यवस्था कुछ और कठोर हो गई। स्त्रियों की स्वाधीनता कुछ और कम हो गई। ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को अपने से नीची जाति की कन्याओं से विवाह करने की स्वतन्त्रता रही तथा विवाहाधिकार-विषयक समानता नष्ट हो गई। ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के अधिकारों में परस्पराश्रितता रही और वैश्यों तथा शूद्रों पर अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य अधिक लद गये। ऋग्वेदकाल में प्रचलित "एकपत्नीव्रत" इस काल में शिथिल हो गया।

सूत्रकाल में—व्यक्तिगत जीवन के आदर्श एवं व्यवहार पूर्ववत् रहे। पारिवारिक जीवन में जातकर्म आदि संस्कारों तथा संध्या एवं स्वाध्याय, अग्निहोत्र, अतिथि-

पूजन, पितृयज्ञ एवं भूतयज्ञ इन पाँच महायज्ञों पर बल दिया गया। विवाहों के ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच ये भेद करके आर्यों के लिए प्रथम चार ही करने की व्यवस्था दी गई। अन्तर्जातीय विवाहों एवं भोजन पर प्रतिबन्ध लगा। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के लिए पृथक्-पृथक् कर्म-विधान हुआ। द्विजों के सम्पूर्ण जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन चार आश्रमों में विभक्त किया गया और प्रत्येक आश्रमी के लिए पृथक्-पृथक् कर्म-व्यवस्था हुई। प्रत्येक गृहस्थ के लिए ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण उतारना आवश्यक हो गया।

स्मृतिकाल में–सूत्रकाल में जिस वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन किया गया, इस काल में व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन उसीसे नियन्त्रित होता रहा। स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन का निषेध हो गया। सम्पत्ति पर उनका अधिकार भी संकुचित हो गया। वे पूर्णतया पुरुषों के अधीन बना दी गईं। उनका कार्यक्षेत्र पूर्णतया परिवार में सीमित हो गया। पुरुषों को यह आदेश अवश्य दिया गया कि वे स्त्रियों को पूर्णतया सन्तुष्ट रखें।

धार्मिक दशा

ऋग्वेद काल में–आर्य जाति में उस समय आस्तिकता का भाव उदय हो चुका था। इस विषय में विद्वानों में मतभेद है कि उस समय के आर्य एकेश्वरवादी थे अथवा बहु-देवतावादी। एकेश्वरवाद के समर्थकों का विचार है कि आर्य अन्तिम-चेतन सत्ता के रूप में एक ब्रह्म में ही विश्वास करते थे; और प्रकृति की विविध क्रियाओं के पीछे उसीका हाथ मानकर उसे ही अग्नि, वायु आदि नामों से पुकारते थे। अनेक-देवतावादी विद्वानों की सम्मति में उस समय तक आर्य प्रकृति की प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया के पीछे एक-एक देवता की सत्ता मानते थे और उनमें अन्तिम एक चेतन सत्ता का भाव नहीं उदय हुआ था। धार्मिक कर्मों के रूप में उनमें यज्ञों का प्रचलन था; परन्तु उन्होंने जटिल रूप नहीं धारण कर पाया था। उनमें मन्त्रों का उपयोग भी होता था। आर्य पुनर्जन्म में विश्वास करते थे।

उत्तर वैदिककाल में–उस समय भी ऋग्वेदकाल की भाँति यज्ञों का प्रचलन रहा; परन्तु उनमें पहले की सरलता का स्थान जटिलता लेने लगी। परिणामस्वरूप पुरोहितों के नये-नये वर्गों को जन्म मिला।

ब्राह्मणकाल तथा उपनिषत्काल में–ब्राह्मणकाल में यज्ञों के नाना रूपों का विकास हुआ और जटिलता भी बहुत अधिक उत्पन्न हो गई। उपनिषत्काल में इस

स्थिति की प्रतिक्रिया हुई । दार्शनिक बुद्धि के विचारकों ने यज्ञों का विरोध किया और ज्ञान द्वारा, जन्म, मरण, बन्धन से छुटकारा पाने के विचार का समर्थन किया। इस प्रकार कर्मकाण्डियों तथा ज्ञानकाण्डियों के बीच आधारभूत सैद्धान्तिक मतभेद उत्पन्न हो गया। पुनर्जन्म एवं कर्मवाद में दोनों प्रकार के व्यक्ति विश्वास करते थे । अनेक देवताओं की सत्ता के विषय में भी दोनों वर्गों में मतभेद था। कर्मकाण्डी अनेक-देवतावादी थे, जब कि ज्ञानकाण्डी ब्रह्म को ही परम सत्ता मानते थे।

सूत्रकाल में—इस काल में धार्मिक स्थिति वही रही जो सम्मिलित रूप से ब्राह्मणकाल एवं उपनिषत्काल में थी । वर्णाश्रमधर्म के रूप में इन दोनों विरोधी मतवादों के समन्वय का भी प्रयत्न किया गया और ऐसे सामान्य मानव-जीवन की स्थापना की गई जिसमें कर्म एवं ज्ञान दोनों को समुचित स्थान मिल सके। पुनर्जन्म एवं कर्मवाद में विश्वास तो पहले से ही चला आता था। दार्शनिक दृष्टि से एकेश्वरवाद की महत्ता भी सभीने स्वीकार करली।

स्मृतिकाल में—सूत्रकाल में कर्म एवं ज्ञान में समन्वय स्थापित करने का जो प्रयत्न आरंभ हुआ था वही स्मृतिकाल में फला-फूला। दार्शनिक दृष्टि से जनता के विश्वास लगभग ज्यों-के-त्यों बने रहे।

उद्योग-धन्धे

ऋग्वेदकाल में पशुचारण एवं कृषि ही प्रमुख धन्धे थे । कातना, बुनना, बढ़ईगीरी, लुहारी, सुनारी, चर्मकारी आदि हस्तकौशल भी प्रचलित थे। मकानों तथा किलों का निर्माण आरंभ हो गया था। वस्तुओं का विक्रय तथा विनिमय एवं लेन-देन होने लगा था। ऋण पर व्याज लिया जाता था। व्यापार के लिए समुद्री मार्ग का प्रयोग होने लगा था। काफी बड़े-बड़े जलयान भी बनने लगे थे। आर्य लोग सूती तथा ऊनी कपड़ों का प्रयोग करते थे। वस्त्रों पर कढ़ाई का काम भी होता था।

ऋग्वेदकाल से स्मृतिकाल तक उद्योग-धन्धों का निरन्तर विकास एवं विस्तार होता गया। नये-नये अन्न उपजाये गये, नई-नई धातुएँ खोजी गईं, विविध पशुओं का पालन आरम्भ हुआ और सभीके सहयोग से समाज को सुखी एवं समृद्ध बनाया गया।

भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास में यह एक विशेषता रही कि उनका वर्णाश्रम धर्म के साथ समन्वय कर दिया गया। इनके समन्वय के कारण प्रत्येक जाति अपने-आप में एक सामाजिक-आर्थिक इकाई बन गई। प्रत्येक इकाई के पृथक्-पृथक् सामाजिक-आर्थिक वर्ग-संगठन बन गये ।

राज्यतन्त्र

राज्यतन्त्र की दृष्टि से ऋग्वेद राजतन्त्र का काल था। परन्तु राजाओं को स्वेच्छाचारिता प्राप्त नहीं थी। उन्हें पुरोहितों, सभाओं तथा समितियों के साथ सहयोग करके चलना पड़ता था। सभाएँ और समितियाँ सम्भवत: निर्वाचित संस्थाएँ होती थीं। उन्हें राजाओं को चुनने, हटाने तथा पुन: प्रतिष्ठित करने का भी अधिकार होता था; परन्तु साधारणतया राजा का पद परम्परागत होता था।

ऋग्वेदकाल से स्मृतिकाल तक राज्यतन्त्र का ही काल रहा, परन्तु राज्यतन्त्र एवं जनतन्त्र का जो समन्वय ऋग्वेदकाल में था वह न रह सका। यद्यपि सभाओं, समितियों, राज्यारोहण के समय की जानेवाली प्रतिज्ञाओं तथा वर्गसंगठनों के माध्यम से राजाओं की निरंकुशता पर अंकुश रखने के प्रयत्न चलते रहे; परन्तु राजसत्ता क्रमश: शक्तिशाली होती गई। स्मृतिकाल तक आते-आते तो उसमें देवताओं का वास ही मान लिया गया।

वैदिककाल की शिक्षासम्बन्धी आवश्यकताएँ—प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा है कि "शिक्षा का अभिप्राय उन संस्कारों से होता है जिन्हें प्रत्येक पीढ़ी अपनी आनेवाली पीढ़ी को जान-बूझकर इसलिए देती है कि जिससे वह उन्नति और विकास के अब तक प्राप्त स्तर को न केवल स्थिर रख सके अपितु उसे और ऊँचा उठाये।" शिक्षा की इस परिभाषा को दृष्टि में रखकर अब हमें यह सोचना चाहिये कि वैदिककाल की जनता अपने समाज की स्थिरता एवं विकास के लिए किस प्रकार के युवकों के निर्माण की आवश्यकता अनुभव करती होगी। वैदिककाल के जीवन का जो अध्ययन हमने ऊपर की पंक्तियों में किया है, उसको सम्पूर्णत: देखने से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि उस काल की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ निम्नलिखित होंगी :—

१—प्रत्येक व्यक्ति का जीवन सरल एवं पवित्र हो। "सादा जीवन उच्च विचार" उनके जीवन का आदर्श हो। उसकी वृत्ति आस्तिकतापूर्ण हो। वह वर्णाश्रमधर्म अर्थात् अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक कर्त्तव्यों को श्रद्धा के साथ पूरा करे।

२—वेद तथा प्रतिदिवस बढ़ते हुए वैदिक साहित्य में से अपने उपयुक्त अंश का प्रत्येक व्यक्ति ग्रहण, रक्षण एवं संक्रमण करे।

३—प्रत्येक व्यक्ति अपने उपयुक्त यज्ञविधियों को सीखे, विधि-विधान के साथ उनका अनुष्ठान करे और यथाशक्ति आत्मज्ञान की प्राप्ति में भी प्रयत्न-शील रहे।

४—प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुरूप एक जीविकासाधन चुन ले और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसका निर्वाह और विकास करे।

५—प्रत्येक व्यक्ति का शरीर एवं मन अधिक से अधिक स्वस्थ एवं विकसित हो जिस से वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों तथा शत्रुओं के साथ सफलतापूर्वक संघर्ष कर सके और प्रतिदिन बदलते हुए समाज में भी सुख और शान्ति के साथ रह सके।

६—प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी राजनीतिक चेतना हो कि वह प्रतिदिन दृढ़ होती हुई राजसत्ता की निरंकुशता पर नियन्त्रण रखने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में योग दे सके।

वैदिककालीन शिक्षा के उद्देश्य—हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रत्येक स्वतंत्र समाज की शिक्षा के उद्देश्य उसकी आवश्यकताओं के आधार पर बनते हैं। वैदिक-काल का आर्यसमाज एक स्वतन्त्र समाज था अतः अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप उसकी शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य थे :—

१—अपने राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप स्वस्थ चरित्र का निर्माण।

२—शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक तीनों दृष्टियों से व्यक्तित्व का अधिकतम समन्वित विकास।

३—सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षमता का विकास (वर्णाश्रमधर्म-पालन)।

४—वेद, वैदिक-साहित्य, यज्ञविधियों तथा आध्यात्मिक रहस्यों की रक्षा तथा उनका अगली पीढ़ी में संक्रमण।

५—अपनी परम्परा को जीवित रखने तथा उसे विकसित करने की महत्त्वा-कांक्षा का उत्पादन।

वैदिक-साहित्य में शिक्षासंम्बन्धी जो जानकारी बिखरी हुई पड़ी है और उस समय का जो कुछ इतिहास उपलब्ध होता है उसके आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि उस काल की शिक्षा के यही उद्देश्य थे।

शिक्षाप्रणाली

उपनयन—इस काल में शिक्षा की "गुरुकुलप्रणाली" प्रचलित थी। बालक बाल्यावस्था में ही पिता का गृह छोड़कर गुरु के गृह में निवास के लिए चले जाते थे। वे वहीं रहते तथा शिक्षा ग्रहण करते थे। शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता था। वैदिककाल में इस संस्कार का बड़ा महत्त्व था। इस संस्कार द्वारा आचार्य बालक को भौतिक शरीर के स्थान पर एक विद्यामय शरीर प्रदान करता

था। माता के गर्भ से जन्म लेने की अपेक्षा विद्यामयशरीर ग्रहण करने को अधिक महत्त्व दिया जाता था और इसके उपरान्त ही बालक को "द्विजन्मा" अथवा "द्विज" की संज्ञा मिलती थी।

"उपनयन" शब्द का अर्थ होता है "पास लाना"। इस संस्कार द्वारा बालक को अपने पास लाकर गुरु उसमें विद्या एवं गुणों का आधान आरम्भ करता था। जिस समय तक वर्णव्यवस्था जातिव्यवस्था में नहीं बदली थी उस समय तक बिना किसी भेदभाव के सभी बालकों का उपनयन होता था, परन्तु बाद में केवल द्विजों—ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों—के ही बालकों को इस संस्कार का अधिकार रह गया। शूद्र इससे वंचित कर दिये गये। कालान्तर में तीनों वर्णों के संस्कारों में भी भिन्नता आ गई और उनके लिए आयु भी भिन्न-भिन्न कर दी गई।

उपनयन संस्कार के अवसर पर गुरु बालक को तीन दिन अपने निकट-तम सम्पर्क में रखता था और उसकी समुचित परीक्षा करके यह निर्णय करता था कि उसे किस वर्ण की शिक्षा दी जाये। परन्तु जब वर्णव्यवस्था जाति अर्थात् जन्म से चलने लगी तब यह परम्परा बन्द हो गई और पिता के वर्ण के आधार पर ही बालक का वर्ण माना जाने लगा। इस संस्कार में से गुजर चुकने के बाद बालक की संज्ञा "ब्रह्मचारी" हो जाती थी। अपने गुरु के साथ एक कुल में ही निवास करने के कारण ब्रह्मचारी को "अन्तेवासी" अथवा "आचार्यकुलवासी" भी कहा जाता था।

व्रतोपदेश—अन्तेवासी बनते समय बालक को निम्नलिखित आदेश एवं उप-देश दिये जाते थे:—

"हे बालक! आज से तुमने ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया है। आज से प्रति-दिन सन्ध्योपासन तथा भोजन के पूर्व शुद्ध जल से आचमन करना। निरन्तर कर्म-शील रहकर धर्माचरण करना। आचार्य के अधीन रहकर वेदाध्ययन करना। ब्रह्मचर्यव्रत को अखण्डित रखकर एक-एक वेद का १२–१२ वर्ष अध्ययन करना। आचार्य की आज्ञाओं का पालन करना परन्तु अधर्म आचरण का आदेश उनका भी न मानना। क्रोध, असत्य भाषण, आठों प्रकार के मैथुन तथा चारपाई पर सोना छोड़े रखना। गाना-बजाना, नाचना, इत्र और सुरमा आदि लगाना छोड़ देना। अत्यधिक स्नान, भोजन, निद्रा तथा जागरण और परनिन्दा, लोभ, मोह, भय तथा शोक मत करना। प्रतिदिन रात्रि के चौथे पहर में उठकर आवश्यक दैनिक कृत्य (शौच, दन्तधावन, स्नान, संध्योपासन, अग्निहोत्र, व्यायाम, योगाभ्यास)

किया करना। हजामत न बनवाना। मांस तथा रूखे पदार्थों का भोजन तथा मादक-पदार्थों का सेवन छोड़ देना। बैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि की सवारी मत करना। ग्राम के भीतर निवास, और जूते तथा छाते का प्रयोग मत करना। लघुशंका के प्रयोजन के अतिरिक्त मूत्रेन्द्रिय का स्पर्श मत करना तथा वीर्य की अपने शरीर में रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनना। तेल लगाना, उबटन कराना, देह दबवाना आदि कार्य मत करना। अत्यन्त खट्टे, तीखे, कसैले, नमकीन, रेचन (दस्तावर) पदार्थों का सेवन मत करना। प्रतिदिन अपने व्रत के लिए उपयुक्त आहार एवं आचरण रखते हुए विद्योपार्जन में यत्न करते रहना। सुशील, मितभाषी एवं सभ्य बनना। मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र के लिए समिधाओं का संग्रह, स्नान, आचार्य की सेवा तथा उनको प्रातः-सायं नमस्कार करना। विद्योपार्जन तथा अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना। ये तुम्हारे नित्य-कर्म हैं।" (गोभिल गृह्यसूत्र ३।१।१५—२६) और बालक को इनका पालन करना पड़ता था।

भिक्षावृत्ति—जैसा कि इन उपदेशों से प्रकट है कि ब्रह्मचारियों का भरण-पोषण भिक्षा द्वारा होता था। चूंकि उपनयन एवं ब्रह्मचर्याश्रम सभी के लिए अनिवार्य थे और सभी के बालकों को भिक्षा माँगनी पड़ती थी अतः इसमें लज्जा की कोई बात नहीं मानी जाती थी। इतना ही नहीं प्रत्येक गृहस्थ ब्रह्मचारी को भिक्षा देकर अपना अहोभाग्य समझता था। ब्रह्मचारियों में भी इसके कारण समाज के प्रति नम्रता एवं कृतज्ञता का भाव उत्पन्न होता था।

शिक्षा की अवधि—ब्रह्मचारियों के गुरुकुलवास की तीन अवधियाँ थीं—(१) चौबीसवें वर्ष तक, (२) ३६ वें वर्ष तक, (३) ४८ वें वर्ष तक। इन तीनों अवधियों तक व्रत का पालन करनेवाले ब्रह्मचारी क्रमशः वसु, रुद्र एवं आदित्य कहलाते थे।

दीक्षान्त—अभीष्ट अवधि तक गुरुकुल में विद्याध्ययन कर चुकने पर ब्रह्मचारी का समावर्तन संस्कार होता था। जब तक वर्णव्यवस्था जातिव्यवस्था में नहीं बदली उस समय तक इस अवसर पर आचार्य अपने शिष्यों के लिए वर्णनिर्णय भी करते रहे। वस्तुतः इस संस्कार की सार्थकता भी इसी में है कि एक लम्बे सम्पर्क, निरीक्षण एवं शिक्षण के उपरान्त आचार्य यह निर्णय करे कि अमुक व्यक्ति का अमुक वर्ण होगा परन्तु जन्मपरक वर्णवाद ने जब प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण पहले से ही निश्चित कर दिया तो आचार्य का यह अधिकार समाप्त हो गया। फिर भी गृहस्थाश्रम के माध्यम से संसार में प्रवेश करने के पूर्व ब्रह्मचारियों को आवश्यक आदेश एवं सुझाव देने की परम्परा चलती ही रही।

व्रतग्रहण—समावर्तनसंस्कार के अनन्तर ब्रह्मचारी "स्नातक" कहलाता था। स्नातक होते समय उसे आचार्य निम्नलिखित आदेश, सुझाव अथवा व्रत देता था :—

"सदा सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। आचार्य की सेवा में उनका प्रिय धन लाकर देते रहना और सन्तान एवं शिष्यपरम्परा का लोप मत होने देना।

"सत्य में प्रमाद मत करना, धर्माचरण में प्रमाद मत करना, अपनी सुरक्षा एवं कल्याण में प्रमाद मत करना, ऐश्वर्यप्राप्ति में प्रमाद मत करना, स्वाध्याय एवं अध्यापन में प्रमाद मत करना, देवकार्य (यज्ञ) एवं पितृकार्य (वृद्ध जनों की सेवा) में प्रमाद मत करना।

"माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि को देवतुल्य मानकर उनकी सेवा करना। जो हमारे अनिन्दित कर्म हैं उन्हीं का तुम आचरण करना औरों का नहीं। जो हमारे सदाचारयुक्त कर्म हैं उन्हीं को तुम ग्रहण करना अन्यों को नहीं।

"जो कोई अपने समाज के श्रेष्ठ ब्राह्मण हों उनका तुम आसन आदि के द्वारा सत्कार करना।

"श्रद्धा से दान देना, अश्रद्धा से दान देना, शोभा के लिए दान देना, लज्जा-वश दान देना, समाज एवं सृष्टि के नियमों के भय से दान देना, सहयोग (बदले) की भावना से दान देना (पर देना अवश्य)।

"यदि तुम्हें किसी कर्म अथवा आचरण के विषय में सन्देह हो तो समाज में जो विचारशील, समाहितचित्त, तुमसे स्नेह करनेवाले परन्तु धर्मप्रेमी ब्राह्मण हों, वे जैसा करें वैसा करना। जो निन्दित लोग हैं उनके विषय में भी विचारशील समा-हितचित्त, स्नेही स्वभाव के, धर्मप्रेमी ब्राह्मण जैसा व्यवहार करें वैसा ही करना।

"यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदों का रहस्य है, यही अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना चाहिए। ऐसा ही अवश्य आचरण करना चाहिए।"

—**"तैत्तिरीयोपनिषद्"**

समावर्तनसंस्कार के साथ बालक की नियमित शिक्षा समाप्त हो जाती थी। समावर्तन के उपरान्त प्रत्येक स्नातक अपनी शक्ति-भर गुरु को दक्षिणा भी भेंट करता था।

अनध्याय (छुट्टियाँ)

वर्तमान युग के विद्यालयों की भाँति गुरुकुलों में भी अनध्याय हुआ करते थे। पर्वों के अवसर पर—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या एवं पूर्णिमा के दिन, आकाश

मेघाच्छन्न होने पर, आँधी तथा आकस्मिक विपत्ति आने पर शिक्षणकार्य बन्द रहता था ।

शिक्षा के स्थल एवं माध्यम

वैदिककाल में शिक्षाप्रचार के प्रमुख स्थल, गुरुकुल, ऋषिकुल एवं आश्रम थे । नगरों से दूर, वनों और पर्वतों की उपत्यकाओं में तथा नदियों के सुरम्य तटों पर इनकी स्थापना की जाती थी । ब्रह्मचारीगण कोलाहल एवं सांसारिक जीवन के आकर्षणों और उपद्रवों से दूर रहकर एकाग्रता के साथ यहाँ विद्याध्ययन किया करते थे । इन संस्थाओं में धनी और निर्धन का कोई भेद न था और ऊँची से ऊँची शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी । भिक्षा, गुरुदक्षिणा, दान तथा आश्रमवर्ती उद्योगों से इनका संचालन होता रहता था । इन शिक्षासंस्थाओं पर राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं होता था । इनके अतिरिक्त विविध विषयों के विशेषज्ञों की परिषदें भी शिक्षा का कार्य करती थीं परन्तु वे एक प्रकार की स्नातकोत्तर-शिक्षा (Post-graduate education) की संस्थाएँ थीं । इस प्रकार की परिषदें उत्तर-वैदिककाल से उपनिषत्काल तक चलती ही रहीं ।

प्राचीनकाल के शिक्षादार्शनिक शिक्षा को शिक्षासंस्थाओं में ही चलनेवाली प्रक्रिया नहीं मानते थे । आश्रमव्यवस्था में संन्यास-आश्रम की स्थापना तथा संन्यासी के निरन्तर भ्रमणशील रहने की व्यवस्था में उनका यह विश्वास भी कारण था। उसकी विशेष चर्चा न करके यहाँ इतना कहना उचित है कि उस काल में शिक्षा के माध्यम गुरुओं के अतिरिक्त चरक (ज्ञानप्राप्ति अथवा वाद-विवाद के लिए निरन्तर घूमनेवाले विद्वान्) तथा परिव्राजक भी थे ।

पाठ्यक्रम

ऋग्वेदकाल से स्मृतिकाल तक साहित्य का जो विस्तार हुआ था उसकी संक्षिप्त चर्चा ऊपर हो चुकी है । प्रत्येक काल में अपने समय में उपलब्ध सभी साहित्य पाठ्यक्रम में रहा । यह कहना बिलकुल गलत है कि वैदिककाल में शिक्षा धार्मिक ही रही। उस समय के पाठ्यक्रम में—परा (आध्यात्मिक) तथा अपरा (लौकिक)—दोनों प्रकार की विद्याएँ सम्मिलित रहीं । उपनिषत्काल के पाठ्यविषयों की एक तालिका छान्दोग्य-उपनिषद् में इस प्रकार दी गई है:—

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और पुराण, व्याकरण, पित्र्य, राशि (अंकशास्त्र), दैव (शकुनविद्या), निधि (भूगर्भविद्या), वाकोवाक्य (तर्क-

शास्त्र), एकायन (आचारशास्त्र), देवविद्या (भौतिकी), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, (प्राणिशास्त्र), क्षत्रविद्या (सैन्यविज्ञान), नक्षत्रविद्या, (ज्योतिष), सर्पविद्या देवजनविद्या (शिल्पविज्ञान, संगीतशास्त्र, एवं आयुर्वेद)।

स्मृतिकाल में ऊपर लिखे विषयों के अतिरिक्त वेदों की विविध शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, दर्शनों, धर्मशास्त्रों, वैखानससूत्र, नास्तिक दर्शनों, वार्ता (अर्थशास्त्र), आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र), तथा दण्डनीति (राजनीतिविज्ञान) का भी उल्लेख मिलता है।

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिककाल में पाठ्य-विषय बहुत थे और उनका अध्ययनाध्यापन चलता था। आरंभ में त्रिवर्ण की शिक्षा एक सी थी परन्तु ज्यों-ज्यों जातिव्यवस्था दृढ़ होती गई, ज्ञानक्षेत्र का विस्तार होता गया और उद्योग-धन्धे बढ़ते गये, तीनों वर्ण अनेक उपवर्णों में विभक्त होते गये और उनकी शिक्षा में भी अन्तर पड़ता गया। धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन, और धार्मिक कृत्यों से सम्बन्धित ज्ञान ब्राह्मणवर्ग की विशेष सम्पत्ति हो गया। क्षत्रियों की शिक्षा में राजनीति तथा सैनिकशिक्षा का विशेष महत्त्व होगया। इसी प्रकार वैश्यों की शिक्षा में गोपालन, कृषि, ललितकलाओं तथा व्यापारशास्त्र की प्रधानता हो गई।

अध्यापनविधि

इस काल की अध्यापनविधि मुख्यतया मौखिक थी। मैत्रेय उपनिषद् के अनुसार शिक्षा का आरम्भ शब्दों के शुद्ध उच्चारण से होता था। उच्चारण की शुद्धता को वैदिककाल के विद्वान् बहुत अधिक महत्त्व देते थे। महाभाष्य-कार ने तो यहाँ तक लिखा है कि शब्दों का अशुद्ध उच्चारण यजमान को मार डालता है। गुरु के उच्चारण को सुनकर तदनुसार शिष्य भी उच्चारण करते थे और यही उच्चारण धीरे-धीरे ग्रन्थों के पाठ में बदल जाता था। मौखिक रूप में ही ग्रन्थों के अर्थ एवं भाष्य भी बालकों के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते थे। छात्र गुरुमुख से सुनकर एकान्त में वस्तु का मनन और निदिध्यासन (चिन्तन) करते थे। अध्यापन में प्रश्नोत्तरप्रणाली भी चलती थी। गुरु और शिष्य दोनों स्पष्टीकरण एवं जिज्ञासा की शान्ति के लिए एक दूसरे से प्रश्नोत्तर करते थे। संदेहात्मक वस्तु के निर्णय में तर्कशास्त्र की उपनय एवं निगमन (Inductive and deductive) विधियों का भी प्रयोग होता था। वस्तु के स्पष्टीकरण के लिए उपमा, रूपक, दृष्टान्त, अन्योक्ति तथा कहानियों आदि का

प्रयोग किया जाता था। छात्र परस्पर वाद-विवाद भी करते थे जिससे उन्हें किसी विचार के पक्ष-विपक्ष पर विचार करके निर्णय का अभ्यास हो जाता था । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अध्यापन की उपस्थापन (Presentation), प्रश्नोत्तर, चिन्तन, स्वाध्याय एवं वाद-विवाद, विधियाँ उस समय प्रचलित थीं। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि शिक्षणकार्य में गुरु "सरल से कठिन की ओर" आदि सिद्धान्तसूत्रों का भी ध्यान रखते थे। इतने विस्तृत वैदिकसाहित्य की रक्षा एवं उसका अध्ययन मौखिक रूप में ही होता रहा इस बात पर विश्वास करने का मन तो नहीं होता परन्तु पुस्तकाधारित अध्यापनविधि के प्रमाण नहीं मिलते यह दुर्भाग्य की बात है। वैदिकसाहित्य में स्वाध्याय पर इतना अधिक बल दिया गया कि उससे अनुमान होता है कि पुस्तकें लिखी अवश्य जाती होंगी। यह दूसरी बात है कि सामग्री के अभाव में उनकी संख्या कम हो।

स्त्री शिक्षा

ऋग्वेदकाल में स्त्रियों को पुरुषों की ही भाँति वेदाध्ययन की स्वतन्त्रता थी। वे ब्रह्मचर्याश्रम का पालन भी करती थीं और यज्ञों में भी भाग लेती थीं। अनेक वेदमन्त्रों की तो ऋषिकायें भी स्त्रियाँ थीं। विश्ववारा, घोषा, रोमशा, लोपामुद्रा, उर्वशी, अपाला आदि अत्यन्त विदुषी महिलाएँ ऋग्वेदकाल की थीं। उपनिषत्काल में भी गार्गी एवं मैत्रेयी नाम की दो परम विदुषी स्त्रियों का नाम मिलता है। इतिहासों तथा पुराणों में भी स्थान-स्थान पर विदुषी स्त्रियों के नाम तथा उनके अग्निहोत्र आदि करने का वर्णन मिलता है। सूत्र तथा स्मृति काल में स्त्रियों की स्थिति हीनतर हो गई परन्तु उस समय उनकी शिक्षा का इतना विधान तो मिलता ही है कि वे पतियों के साथ यज्ञों में भाग ले सकें और घर का हिसाब-किताब रख सकें। सूत्रकाल में भी उन पर प्रतिबन्ध वेदाध्ययन के विषय में लगा, अन्य विषयों तथा शास्त्रों के अध्ययन पर नहीं।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कन्याओं के लिए संगठित शिक्षासंस्थाएँ नहीं थी । उनकी शिक्षा घर पर ही माता, पिता, भाई अथवा कुलपुरोहितों द्वारा होती थी । सम्भवतः धनिक लोग अध्यापकों को भी नियुक्त कर लेते हों। पाणिनीय सूत्रों के आधार पर डा० राधाकुमुद मुकर्जी का विचार है कि कतिपय स्त्रियाँ वैदिक शाखाविद्यालयों में भी प्रवेश प्राप्त कर लेती थीं और कहीं-कहीं उनके लिए छात्रावासों की भी व्यवस्था थी।

गुरुशिष्यसम्बन्ध

वैदिककाल के गुरुकुल परिवार और समाज के मध्यवर्ती संगठन थे। उनमें बालकों को परिवार का प्यार तथा समाज का संघर्ष दोनों मिल जाते थे। यदि एक शब्द में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि गुरु और शिष्य के बीच में वही सम्बन्ध रहता था जो पिता और पुत्र के बीच में होना चाहिये। वैदिकसाहित्य में पुत्र को पिता की आत्मारूप तथा शिष्य को आचार्य का उत्तररूप कहा है। जिस प्रकार पिता अपनी सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा भौतिक सम्पत्ति को पुत्र को सौंप देता है, जिस प्रकार किसी भी जलप्रवाह का पूर्व-रूप अपना सर्वस्व उत्तर-रूप को अर्पित कर देता है और जिस प्रकार प्रत्येक दीपक अपने से प्रज्ज्वलित होनेवाले दीपक में अपनी जैसी अग्निशिखा उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार आचार्य अपना सम्पूर्ण तप एवं विज्ञान शिष्य के सम्मुख प्रस्तुत कर देता था। संस्कृत की एक कहावत के अनुसार गुरु विद्या और तप में सम्पूर्ण विश्व से तो जीतना चाहता था परन्तु अपने शिष्य एवं पुत्र के विषय में यही आकांक्षा करता था कि वह उसे परास्त करे। भावी पीढ़ियाँ प्रत्येक दृष्टि से अधिक समुन्नत हों इसके लिए इससे अधिक और कौन-सी भावना उपयोगी हो सकती है ?

भौतिक रूप से गुरु शिष्य के लिए भोजन, वस्त्र, निवास, औषधि, सेवा-शुश्रूषा, मनोरंजन आदि सभी की व्यवस्था करता था। उसके प्रत्येक सुख-दुःख में पिता-माता की भाँति सुखी-दुःखी होता था। शिष्य उसके ऋषि-ऋण उतारने का प्रधान साधन होता था अतः वह उसके प्रति शुद्ध कर्तव्यभाव से प्रेरित होकर व्यवहार करता था और योग्य शिष्य को अपने जैसा बनाकर कृतकृत्य अनुभव करता था।

शिष्य भी गुरु को पिता और माता से बढ़कर मानते थे। वे अनुभव करते थे कि माता-पिता ने केवल उनके शरीर को जन्म दिया है परन्तु गुरु उनको मनुष्यत्व से भी ऊपर उठाकर देवत्व की ओर ले जा रहा है। वे उसके प्रति वास्तविक श्रद्धा रखते थे। वे उसके प्रत्येक आदेश को ध्यान से सुनते थे और उसका आचरण करके अपने को धन्य मानते थे। वे अपना सर्वस्व गुरु की सेवा में अर्पित करने के लिए सदैव तय्यार रहते थे और भिक्षा, अन्न, जल, आश्रम-कार्य, गो-सेवा, आदि द्वारा उसको पूर्णतया प्रसन्न रखते थे। इतना ही नहीं समावर्तन-संस्कार के अनन्तर भी वे अपने गुरु के प्रति कृतज्ञता अनुभव करते हुए उसकी विद्या-परम्परा को जीवित रखने का प्रयत्न करते रहते थे। आज के गुरुशिष्यसम्बन्धों को देखकर

तो प्राचीन गुरु शिष्यसम्बन्धों का वर्णन कल्पनाप्रेरित-सा प्रतीत होता है परन्तु सम्पूर्ण वैदिकसाहित्य उनकी ऐतिहासिक सत्यता का साक्षी है।

समालोचना

समालोचना शब्द का अर्थ किसी वस्तु को "भली प्रकार चारों तरफ से देखना" होता है। इस प्रकार देखने से गुण और दोष दोनों पर दृष्टि पड़ती है। फलत: हम वैदिककालीन शिक्षा की विशेषताएँ और त्रुटियाँ दोनों का अध्ययन करेंगे।

विशेषताएँ—ऐतिहासिकों ने उस काल की शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है :—

१—नगरों के कोलाहलपूर्ण एवं अशान्तिमय वातावरण से दूर शिक्षा-उप निवेश (गुरुकुल) स्थापित किये जाते थे। वहाँ बालकों के लिए अध्ययन एवं चरित्रनिर्माण के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं होता था। वे प्रत्येक प्रकार की विलासिता से कोसों दूर रहते थे।

२—शिक्षा-उपनिवेश गुरुओं और शिष्यों के सम्मिलित प्रयत्न से चलते थे अत: शिष्य "जीकर" जीने की कला सीख सकते थे।

३—बालक गुरु के परिवार का अंग बनकर रहता था अत: उसे वहाँ पारिवारिक वातावरण के साथ-साथ उसकी सर्वोत्तम विशेषता "सुरक्षा की भावना" निरन्तर मिलती रहती थी।

४—शिक्षा-व्यवस्था में ब्रह्मचर्य एवं तप इन दो की प्रधानता होने के कारण बालक के शरीर, मन, एवं आत्मा तीनों का प्रशिक्षण एवं विकास चलता रहता था।

५—गुरुकुलों के प्रबन्ध पर कुलपतियों और आचार्यों का ही पूर्ण नियन्त्रण होने के कारण उन में दलगत राजनीति का प्रवेश असंभव था।

६—बालक बचपन से ही गुरुकुलों में पहुँच जाते थे अत: उनके व्यक्तित्व के निर्माण के लिए पर्याप्त समय एवं अवसर मिल जाता था।

७—शिक्षा बालक की रुचि एवं क्षमता तथा सामाजिक आवश्यकता के समन्वय पर आधारित थी फलत: उसे इहलोक के पूर्णजीवन के लिए तैयार करती थी।

८—प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुरु की पर्याप्त देख-रेख मिल जाती थी क्योंकि कक्षाएँ छोटी-छोटी हुआ करती थीं।

९—प्रकृति की सुरम्य गोद में पलने के कारण प्रत्येक बालक में एक अनिर्वचनीय आध्यात्मिकता, सरलता एवं उदात्तता उत्पन्न हो जाती थी।

१०—गुरुशिष्यसम्पर्क बहुत अधिक गहरा होता था फलतः बालक के व्यक्तित्व को भली प्रकार समझकर उसके निर्माण का अवसर मिल जाता था।

११—प्रतिदिन भिक्षाचरण करने के कारण बालकों में समाज के प्रति कृतज्ञता का भाव उत्पन्न होता रहता था। फलतः गुरु के नियन्त्रण के बाहर भी वे आत्मनियन्त्रित रहने की प्रेरणा प्राप्त करते रहते थे।

१२—द्विज-मात्र के लिए उपनयन एक आवश्यक संस्कार था। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी विद्या को योग्य पात्र में देकर ऋषि-ऋण उतारना भी आवश्यक था। फलतः शिक्षा सार्वजनिक थी।

१३—स्वाध्यायव्रत एवं चरकों तथा परिव्राजकों के माध्यम से शिक्षा जीवन भर चलती रहती थी।

१४—शिक्षा में शारीरिक दण्ड का लगभग अभाव था।

१५—कुपात्र को विद्यादान नहीं दिया जाता था फलतः उसके दुरुपयोग की संभावना वहुत कम थी।

१६—ऊँची से ऊँची शिक्षा भी निःशुल्क थी अतः कोई व्यक्ति निर्धनता के कारण उससे वंचित नहीं रहता था।

त्रुटियाँ—आलोचकों ने उस काल की शिक्षा में निम्नलिखित त्रुटियाँ बताई हैं :—

१—शिक्षा-व्यवस्था पर धर्म का प्रभाव अधिक था। बालकों का बहुत-सा समय यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि में निकल जाता था।

तीनों वर्णों को आवश्यक कर्मकाण्ड की शिक्षा अवश्य दी जाती थी परन्तु उसकी मात्रा सबके लिए समान नहीं थी। इस प्रकार की शिक्षा की प्रधानता उन ब्राह्मणों के लिए थी जिन्हें भविष्य में पुरोहित अथवा ऋत्विक के रूप में कार्य करना था अथवा उसी विषय का अध्यापक बनना था।

२—शिक्षा व्यक्ति की मनोवृत्ति को इतना अधिक आध्यात्मिक बना देती थी कि भौतिक विज्ञानों के विकास में उसकी रुचि नहीं रहती थी और इसीलिए भारत में भौतिक विज्ञानों का विकास नहीं हुआ।

यह आरोप भागतः सत्य है। ज्यों-ज्यों कर्मकाण्ड का जगड्वाल फैलता गया और तत्पश्चात् उसकी प्रतिक्रिया के रूप में कोरा ज्ञानवाद पनपा, समाज में

इस लोक को सुखी और समृद्ध बनाने की प्रवृत्ति कम होती गई। परन्तु यह आरोप भागतः ही सत्य है और संस्कृत-साहित्य इस बात का साक्षी है। अपनी नष्ट-भ्रष्ट स्थिति में भी उसमें ऐसे ग्रन्थों की कमी नहीं है जो अपने निर्माणकाल में पर्याप्त प्रगति के परिचायक हैं।

३—स्त्रियों की शिक्षा की उतनी सुचारु व्यवस्था न थी जितनी पुरुषों की।

४—इस शिक्षाव्यवस्था में शूद्रों के साथ न्याय नहीं हो पाता था।

५—ज्यों-ज्यों जातिव्यवस्था कठोर होती गई त्यों-त्यों प्रत्येक जाति के उन व्यक्तियों को, जो अपनी विशेष प्रतिभा के कारण उच्चतर जाति के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के उपयुक्त थे, प्रतिभा के उपयोग और विकास का अवसर नहीं मिल पाता था।

६—इस शिक्षा के परिणामस्वरूप व्यक्ति में पुरोदर्शित्व (Forward-looking attitude) की अपेक्षा पश्चदर्शित्व (Backward-looking attitude) अधिक विकसित होता था।

शास्त्रवाद का अधिक प्रभाव विदेशी आक्रमणों तथा लौकिक कलाओं को शूद्रों के हाथ में सौंप देने के कारण बढ़ा। इस काल में जितना-जितना हम प्राचीनता की ओर बढ़ते जाते हैं उतना-उतना ही यह आरोप निर्बल होता जाता है। संपूर्णतः देखने पर यह आरोप भागतः सत्य है।

७—लौकिक कलाओं के लिए शिक्षा-व्यवस्था में स्थान न था।

इन कलाओं का विकास पारिवारिक उद्योगों के रूप में होता था परन्तु वेदांगों तथा उपवेदों के अध्यापन के लिए आवश्यक व्यवस्था गुरुकुलों में अवश्य रहती थी।

उपसंहार—वैदिककाल की शिक्षा जीवनकेन्द्रित थी। व्यक्तित्वनिर्माण के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है वे सभी उस समय शिक्षा-संस्थाओं में विद्यमान रहती थीं। भारतीय साहित्य में जो कुछ विवरण उस शिक्षाव्यवस्था का मिलता है उसके आधार पर निर्भयतापूर्वक कहा जा सकता है कि युग के अनुरूप आवश्यक परिवर्तन करके आज भी उसको प्रचलित किया जा सकता है और निश्चय ही उससे देश की अनेक शैक्षणिक एवं सामाजिक समस्याएँ हल हो सकेंगी। यह अपने देश का ही सौभाग्य है कि शिक्षाविषयक अनेक सिद्धान्तों एवं व्यवहारों के आविष्कार के उपरान्त भी हमें अपने शिक्षा-सम्बन्धी इतिहास पर अभिमान करने का पर्याप्त अवसर है।

सहायक पुस्तकें:—

१—एजुकेशन इन एन्शियेण्ट इण्डिया अलतेकर

२—हिन्दू सिविलाइज़ेशन — आर० के० मुकर्जी
३—सत्यार्थप्रकाश — स्वामी दयानन्द
४—संस्कारविधि — स्वामी दयानन्द
५—एजुकेशन इन इण्डिया — आर० के० मुकर्जी
६—हिस्ट्री आफ इण्डियन एजुकेशन — एफ० ई० के
७—भारतीय शिक्षा का इतिहास — प्यारेलाल रावत

अध्याय ४

बौद्धकालीन शिक्षा

अध्याय-संक्षेप:—१. प्रस्तावना। २. विषय-प्रवेश। ३. बुद्धकाल की दशा—धार्मिक एवं सामाजिक। ४. प्रतिक्रिया। ५. बौद्धकालीन शिक्षा का तात्पर्य एवं उद्देश्य। ६. शिक्षाव्यवस्था का जन्म। ७. शिक्षाव्यवस्था–पब्बज्जा, पब्बज्जा के अधिकारी, उपसम्पदा, रहन-सहन, गुरुशिष्यसम्बन्ध, भिक्षुणियों के लिए। ८. पाठ्यक्रम–धार्मिक, लौकिक, पाठ्यक्रम का विकास। ९. अध्यापनविधि। १०. अध्यापन का माध्यम। ११. समालोचना। १२. बौद्धशिक्षा की भविष्य को देन। १३. वैदिक एवं बौद्ध शिक्षाव्यवस्था के अन्तर। १४. कतिपय बौद्ध शिक्षा केन्द्र। १५. उपसंहार।

प्रस्तावना—प्रथम अध्याय में लिखा जा चुका है कि छठी शताब्दी ई० पू० में भारत में धार्मिक क्रान्तियाँ हुईं और उस समय प्रचलित वैदिकधर्म के विरोधी दो बड़े सुधारवादी धर्मों का उदय हुआ। उनका नाम था—जैन धर्म और बौद्ध-धर्म। धार्मिक क्रान्ति का प्रभाव शिक्षाक्षेत्र पर भी पड़ा। इस अध्याय में हम यही पढ़ेंगे कि बौद्ध एवं जैन धर्माचार्यों ने शिक्षा के किस रूप एवं संगठन को जन्म दिया।

विषय-प्रवेश—तृतीय अध्याय में हम कह चुके हैं कि किसी काल की शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण या तो समाज की आवश्यकता पर आधारित होता है अथवा शिक्षासंचालकों की आवश्यकता पर। इस काल की शिक्षा के उद्देश्यों को समझने के लिए भी हमें पहले उसकी सामाजिक आवश्यकताओं को समझ लेना चाहिये। वैदिककाल का अध्ययन हमने साहित्य, व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन, धार्मिक-दशा, उद्योग-धन्धे तथा राज्यतन्त्र इन पाँच शीर्षकों में किया था। बौद्धकालीन शिक्षा का सम्बन्ध मुख्यतया उस समय की सामाजिक एवं धार्मिक दशा के साथ है अतः हम इन्हीं दो शीर्षकों में उसका अध्ययन करेंगे।

धार्मिक दशा—जिस समय भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ उस समय वैदिकधर्म ब्राह्मणधर्म में बदल चुका था। ब्राह्मणधर्म में ज्ञान एवं कर्म के समन्वय का पूर्णतः नाश हो चुका था और उसका व्यावहारिक पक्ष यज्ञमय हो गया था। चारों ओर यज्ञों की धूम रहती थी और उनमें पशुओं के मांस की आहुतियाँ देने की परम्परा

प्रचलित थी। सब ओर हिंसा का बाजार गर्म था। जनता के मन में यह विश्वास घर कर चुका था कि मनुष्यजीवन का एकमात्र उद्देश्य स्वर्गप्राप्ति है और उसका एकमात्र साधन है यज्ञों का अनुष्ठान। यज्ञों के आध्यात्मिक पक्ष के समझने और समझाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी फलतः यज्ञानुष्ठान भी भावना-शून्य यान्त्रिक कर्म-सा बन गया था। मनोवृत्ति में इस प्रकार का परिवर्तन हो जाने के कारण आचार की पवित्रता की ओर किसी का ध्यान न जाता था। यज्ञानुष्ठान एवं दम्भ का गठबन्धन हो गया था।

सामाजिक दशा—धार्मिक क्षेत्र में यज्ञों की प्रधानता के कारण सामाजिक क्षेत्र में ब्राह्मणों की प्रधानता थी। हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि स्मृति-काल तक आते-आते वर्णव्यवस्था न केवल जातिव्यवस्था में बदल चुकी थी अपितु स्त्रियों एवं शूद्रों के साथ दुर्व्यवहार भी होने लगा था। इस काल की सामाजिक स्थिति वही समझनी चाहिये जो कि स्मृतिकाल के प्रसंग में ऊपर लिखी जा चुकी है।

प्रतिक्रिया—इस धार्मिक एवं सामाजिक दशा की प्रतिक्रिया जैन एवं बौद्ध धर्मों के रूप में हुई। उनमें भोगपूर्ण स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष एवं निर्वाण को जीवन का लक्ष्य ठहराया गया। उसकी प्राप्ति का साधन भी यज्ञों के स्थान पर तपस्या एवं सदाचार माना गया। पशुहिंसा का डटकर विरोध किया गया। ब्राह्मण की जातिगत प्रधानता की निन्दा करके कर्म एवं योग्यता की प्रधानता का समर्थन किया गया। वैदिकधर्म में जो विकार उत्पन्न हो गये थे उनके कारण उसके प्रति जनता में भी विरक्ति उत्पन्न होने लगी थी। फलतः जनता ने इस प्रतिक्रिया का खूब स्वागत किया। साधारण जनता ने ही नहीं अपितु राजाओं एवं सम्राटों ने भी नवीन धर्मों की दीक्षा ली। राजाश्रय पाकर दोनों ही धर्म तीव्रता के साथ फले-फूले परन्तु इन दोनों में बौद्धधर्म का अधिक प्रचार हुआ। जैनधर्म अधिक व्यापक न हो सका।

बौद्धकालीन शिक्षा का तात्पर्य एवं उद्देश्य—भगवान् बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए स्थान-स्थान पर विहारों की स्थापना की थी। ये बौद्ध भिक्षु इन विहारों में रहते हुए स्वयं भी धर्मप्रचार करते थे और धर्मविस्तार के लिए नवीन भिक्षुओं को प्रशिक्षित भी करते थे। बौद्धधर्म चूंकि एक प्रचार-प्रधान धर्म था अतः नवीन-नवीन प्रचारकों का प्रशिक्षण एवं पालन-पोषण उसकी प्रधान आव-श्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए जिस शिक्षाप्रणाली को जन्म मिला उसे ही प्रधानतः "बौद्धकालीन शिक्षा" इस नाम से कहा जाता है। यह कोई

सार्वजनिक शिक्षाप्रणाली थी ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिये। हमने "प्रधानतः" यह शब्द इसलिए जोड़ दिया है क्योंकि बौद्धकाल के अन्तिम भाग में स्थापित बौद्ध-विद्यापीठों में चलनेवाली शिक्षा को यद्यपि बौद्धकालीन शिक्षा का ही एक अंग माना जाता है तथापि वह केवल भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए ही नहीं रह गई थी और न उनके अध्ययनाध्यापन का विषय भी केवल बौद्ध-साहित्य ही रहता था। इन विद्यापीठों के द्वार जाति एवं धर्म के पक्षपात से शून्य होकर प्रत्येक विद्योत्सुक व्यक्ति के लिए खुले रहते थे और उनमें अपने समय तक ज्ञात सभी बौद्ध एवं अबौद्ध विषय पढ़ाये जाते थे। इन शिक्षासंगठनों को बौद्ध शिक्षाव्यवस्था का अंग भी सम्भवतः इसीलिए माना जाता है कि उनके संचालक एवं प्रबन्धक बौद्ध थे। अन्यथा उनमें वैदिक एवं बौद्ध शिक्षाव्यवस्थाओं के समन्वय के ही दर्शन अधिक होते हैं।

शिक्षाव्यवस्था का जन्म—भगवान् बुद्ध के पुरुष शिष्य भिक्षु तथा स्त्री शिष्याएँ भिक्षुणियाँ कहलाती थीं। गृहस्थ अनुयायियों को क्रमशः "उपासक" एवं "उपासिकाएँ" कहा जाता था। ये भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ निर्वाण की कामना करते हुए विहारों में निवास करते थे और सरल एवं सात्विक जीवन बिताते हुए वहीं शिक्षा ग्रहण करते थे। उनकी शिक्षा बौद्धधर्म के अनुसार होती थी। इन्हीं की शिक्षाव्यवस्था से बौद्धकालीन शिक्षाप्रणाली को जन्म मिला। जैनों ने भी जिस शिक्षाव्यवस्था को जन्म दिया वह भी बौद्धों की व्यवस्था से मिलती-जुलती थी अतः एक के ही वर्णन से दोनों का स्वरूप समझ लेना चाहिये।

शिक्षाव्यवस्था

वैदिकशिक्षा की भाँति बौद्धशिक्षा भी संस्कारों द्वारा ही आरंभ की जाती थी। उन संस्कारों में पब्बज्जा (प्रव्रज्या) और उपसम्पदा मुख्य थे।

पब्बज्जा—वैदिककाल के उपनयनसंस्कार के स्थान पर बौद्धकाल में पब्बज्जासंस्कार होता था। यह संस्कार कम-से-कम आठ वर्ष की आयु में किया जाता था और इसी के माध्यम से बालक संघ अथवा मठ में प्रवेश करता था। इसके लिए जातिभेद का कोई विचार नहीं किया जाता था। इस संस्कार के समय विद्यार्थी को सिर मुड़ाकर पीले वस्त्र पहनने पड़ते थे। वह नतमस्तक होकर भिक्षु को प्रणाम करता था और उनसे प्रार्थना करता था कि वे उसके गुरु बनने की कृपा करें। प्रार्थना के स्वीकृत होने पर उसे अपने उपाध्याय के सम्मुख शरणत्रयी—बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्म्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि—लेनी पड़ती थी।

इस संस्कार के उपरान्त विद्यार्थी समनेर अथवा श्रमण कहलाता था और अपने उपाध्याय की अधीनता में रहता था। वैदिककालीन ब्रह्मचारी की ही भाँति उसे भी हत्या, पाप, झूठ, मादकवस्तुसेवन, असमय भोजन, नृत्य एवं गीत आदि व्रतविरोधी कृत्यों से बचने का प्रण करना पड़ता था।

पब्बज्जा के अधिकारी—छूतरोग के पीड़ित रोगी, अंगहीन, दास, अपराधी तथा राजकर्मचारी व्यक्तियों को इस संस्कार का अनधिकारी माना जाता था। ऐसे अवयस्क व्यक्तियों का भी पब्बज्जा संस्कार नहीं किया जाता था जिनको इस के लिए अपने माता-पिता की आज्ञा न प्राप्त हुई हो।

उपसम्पदा—यह संस्कार पब्बज्जा के बारह वर्ष बाद अथवा कम से कम बीस वर्ष की आयु हो जाने पर होता था। इस संस्कार के नियम पब्बज्जा के समान ही होते थे। इसके उपरान्त श्रमण भिक्षु कहलाता था। यह संस्कार एक उत्सव के समान होता था जिसमें अनेक भिक्षु सम्मिलित होते थे। श्रमण भिक्षु का वेश धारण करके भिक्षुओं के सम्मुख नतमस्तक हो हाथ जोड़कर बैठ जाता था और समागत भिक्षुओं में से अपने लिए उपाध्याय चुनता था। इसके उपरान्त वह पूर्ण भिक्षु बन जाता था और उसे चार व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। वे व्रत थे:—(१) वृक्ष के नीचे वास करना, (२) भिक्षापात्र में एकत्रित करके भोजन करना, (३) माँगे हुए वस्त्रों से शरीर ढकना, (४) ओषधि रूप में गोमूत्र सेवन करना। उपाध्याय उसे चोरी, प्राणिवध, चमत्कारप्रदर्शन, एवं मैथुन इन चार कर्मों से बचने का उपदेश भी देते थे। इसके उपरान्त वह अपने उपाध्याय के अधीन रहकर विद्याध्ययन करता था।

रहन-सहन—श्रमणों एवं भिक्षुओं का जीवन वैदिककाल के ब्रह्मचारियों के ही समान शुद्ध एवं सात्विक होता था। सरलता, पवित्रता, एवं निर्धनता उनके जीवन की विशेषताएँ थीं। भिक्षा माँगने के भी निश्चित नियम थे और उन्हीं के अनुसार उन्हें भिक्षा माँगनी पड़ती थी। विनय एवं अनुशासन का उनके जीवन में प्रमुख स्थान था। उनका भोजन अत्यन्त सादा होता था और भिक्षा में जो कुछ उन्हें प्राप्त हो जाता था उसी पर वे निर्वाह करते थे। भोजन का समय ठीक मध्याह्न निश्चित था और उसके बीत जाने पर वे भोजन नहीं करते थे। नागरिकों, उपासकों तथा उपासिकाओं की ओर से उन्हें भोजन का निमंत्रण भी मिलता था। वस्त्र के रूप में सभी "चीवर" का प्रयोग करते थे। आरम्भ में श्रमण एवं भिक्षु वृक्षों के नीचे तथा गुफाओं में रहते थे किन्तु बाद में वे अपने-

अपने उपाध्यायों के साथ मठों और विहारों में रहने लगे । बड़े शिक्षाकेन्द्रों में छात्रावासों का भी प्रबन्ध रहता था ।

गुरुशिष्यसम्बन्ध—बौद्ध शिक्षाव्यवस्था में गुरुशिष्यसम्बन्ध वही रहा जो वैदिक-काल में था । उपाध्याय की सेवा करना, प्रातःकाल उससे पहले उठकर उसके लिए मिट्टी, जल, एवं दातून की व्यवस्था करना, उसके लिए आसन लगाना, भोजन कराना, निवासभूमि की सफाई करना, उपाध्याय के साथ भिक्षा माँगने जाना, रुग्ण होने पर उसकी देखभाल करना—शिष्य का मुख्य कर्त्तव्य था । इसी प्रकार उपाध्याय का भी यह कर्त्तव्य था कि वह शिष्य को अपना पुत्र समझकर उसके भोजन, छादन, रहन-सहन की व्यवस्था करे, अस्वस्थता की दशा में पिता के समान उसकी परिचर्या करे और उसे नियमानुसार मानसिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा दे । उपाध्याय का यह भी धर्म था कि वह शिष्य के सम्मुख उच्च नैतिक जीवन का क्रियात्मक आदर्श प्रस्तुत करे । उपाध्याय एवं भिक्षु दोनों अपनी-अपनी कर्त्तव्य-मर्यादाओं का निष्ठापूर्वक पालन करते थे ।

भिक्षुणियों के लिए—स्त्रियों को भी पब्बज्जा एवं उपसम्पदा की अनुमति थी। उनके मठ एवं विहार पृथक् होते थे। भिक्षुणियों को श्रेष्ठ भिक्षुओं की अधीनता में रहना पड़ता था । भिक्षुओं की भाँति भिक्षुणियों को भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना पड़ता था।

पाठ्यक्रम

बौद्ध शिक्षाव्यवस्था में दो प्रकार का पाठ्यक्रम होता था:—(१) धार्मिक; तथा (२) लौकिक । धार्मिक पाठ्यक्रम भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए और लौकिक साधारण नागरिकों के लिए। लौकिक पाठ्यक्रम में जीवनोपयोगी औद्योगिक विषयों की प्रधानता रहती थी।

धार्मिक—इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य भिक्षुओं को निर्वाण प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करना तथा योग्य प्रचारक तैयार करना होता था । इसमें पाठ्य-वस्तु के रूप में बौद्धधर्म की पुस्तकें—त्रिपिटक आदि— रहती थीं ।

लौकिक—इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य साधारण नागरिकों को लोक के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के उपयुक्त बनाना होता था। इसमें पाठ्यवस्तु नानाविध कलाकौशल, शास्त्रार्थ, सारथ्य (रथ हाँकना), धनुर्वेद, मल्लविद्या, चित्रकला, संगीत, चिकित्साशास्त्र आदि होते थे ।

शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा था। शिक्षा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की होती थी। दोनों प्रकार के पाठ्यक्रमों में तुलनात्मक ज्ञान के लिए वैदिककालीन शास्त्रों एवं विषयों का भी अध्ययन कराया जाता था।

पाठ्यक्रम का विकास—इस युग के आरंभ में तो पाठ्यक्रम शुद्ध धार्मिक ही रहा परन्तु बौद्धों एवं वैदिकों के बीच निरन्तर चलनेवाले संघर्ष ने दोनों पक्षों के विद्वानों के सम्मुख दूसरे पक्ष के उपयोगी विचारों के ग्रहण द्वारा अपने साहित्य की श्रीवृद्धि करने तथा शास्त्रार्थों के अवसर पर दूसरे पक्ष का खण्डन करने के लिए एक-दूसरे के साहित्य के अध्ययन की उपयोगिता स्पष्ट कर दी। इसी प्रकार सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की आवश्यकताओं ने भी धीरे-धीरे अपना प्रभाव प्रकट किया। फलतः बौद्धकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम धीरे-धीरे अपने शुद्ध धार्मिक रूप से मिश्रित रूप की ओर विकसित हुआ। प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठों में हमें इसी अत्यन्त उदार मिश्रित पाठ्यक्रम के दर्शन होते हैं।

अध्यापनविधि—वैदिककाल के प्रसंग में वर्णित अध्यापनविधियों का इस काल में भी प्रयोग होता था। देशाटन एवं प्रकृतिनिरीक्षण को भी पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था। इस काल में इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि लिपि का प्रचलन होगया था; अतः पुस्तकाधारित अध्यापनविधि भी चालू हो ही गई होगी।

अध्यापन का माध्यम—इस काल में शिक्षा का माध्यम लोकभाषा रही। परन्तु बौद्ध विश्वविद्यालयों में माध्यम संस्कृत भाषा भी थी। जो छात्र वैदिक शास्त्रों एवं विषयों का अध्ययन करना चाहते थे, यह माध्यम उन्हीं के लिए था। बौद्धसाहित्य एवं लौकिक पाठ्यक्रम का अध्ययन तो लोकभाषा के ही माध्यम से चलता था।

समालोचना

विशेषताएँ—वैदिककालीन एवं बौद्धकालीन शिक्षाव्यवस्थाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से हमारा ध्यान बौद्धशिक्षा की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर आकृष्ट होता है:—

१—वैदिककाल की शिक्षा की विशेषताओं के प्रसंग में परिगणित आइटम सं० १, २, ३, ४, ५, ६, ८, ९, १०, ११, १५।

२—जातिभेद एवं लिंगभेद के विचार का अभाव।

३—सुसंगठित शिक्षाकेन्द्रों में उच्चशिक्षा की प्रभावशाली व्यवस्था।

४—अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान।

५—लोकभाषा में शिक्षा।

इन विशेषताओं के साथ-साथ इस व्यवस्था में कतिपय कमियाँ भी थीं:—

१—सार्वजनिकता का अभाव।

२—धार्मिकता का आधिक्य एवं जीवनोपयोगी औद्योगिक एवं कलाकौशल-मयी शिक्षा की हीन स्थिति।

३—सैनिकशिक्षा की अवहेलना।

४—भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के सहनिवास के कारण क्रमशः अनाचार की वृद्धि।

बौद्धशिक्षा की भविष्य को देन—विधाता की सम्पूर्ण सृष्टि गुणदोषमयी है। बौद्धशिक्षा भी इस नियम का अपवाद नहीं थी, परन्तु यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि उसने भावी शिक्षाव्यवस्थाओं को कतिपय उपयोगी तत्व दिये। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

१—जातीय, आर्थिक एवं लैंगिक पक्षपात से ऊपर उठकर शिक्षाप्रदान की परम्परा।

२—संगठित शिक्षणालय। यूरोप की मठीय शिक्षा, मुसलमानों की मक़तबीय शिक्षा एवं हिन्दुओं की मन्दिरीय शिक्षा के पीछे प्रेरणास्रोत निश्चित रूप से बौद्ध शिक्षाव्यवस्था थी।

३—शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क।

४—लोकभाषा के माध्यम से अध्यापन को प्रोत्साहन।

वैदिक एवं बौद्ध शिक्षाव्यवस्थाओं के अन्तर—बौद्धशिक्षा के विषय में इतनी जानकारी प्राप्त कर लेने के उपरान्त अब हमारे लिए यह भी संभव एवं उचित है कि हम इस तथा इससे पूर्ववर्ती शिक्षाव्यवस्था के अन्तरों को भी समझ लें। ऐतिहासिकों ने दोनों में निम्नलिखित अन्तरों का परिगणन किया है :—

१—बौद्धशिक्षा मठों, संघों तथा सुसंगठित शिक्षासंस्थाओं में दी जाती थी; जब कि वैदिककालीन शिक्षा गुरुगृहों, गुरुकुलों तथा आश्रमों में। वैदिककालीन शिक्षा में पारिवारिकता अधिक थी; जब कि बौद्धशिक्षा में संस्थागतता।

२—वैदिकशिक्षा अपने स्वरूप में पितृतंत्रवादी थी जब कि बौद्धशिक्षा में थोड़ा-बहुत जनतान्त्रिकता का पुट था। बीस वर्ष की आयु के बाद श्रमण अपने उपाध्याय का स्वयं चुनाव कर सकता था। उपसम्पदा के उपरान्त उसे यह

भी अधिकार प्राप्त हो जाता था कि वह अपने उपाध्याय के नियमभंग को भी प्रकट कर सके। वैदिक शिक्षा में शिक्षण का माध्यम संस्कृत थी और बौद्ध शिक्षा में लोकभाषा। यह भी एक जनतांत्रिक विशेषता है।

३—वैदिकशिक्षा में विद्यार्थीजीवन बहुत कठोर एवं तपोमय था। इसके विपरीत बौद्धशिक्षा में विद्यार्थियों के लिए प्रसाधन की भी सुविधा थी और जीवन आपेक्षिक रूप में अधिक आराम का था।

४—वैदिकशिक्षा जीवन के लिए थी जब कि यह केवल धर्मप्रचार के लिए। बौद्धयुग के अन्तिम चरण में शिक्षासंस्थाओं में बौद्ध एवं वैदिक दोनों प्रकार के विषयों का अध्ययनाध्यापन होता था; अतः उस काल की शिक्षा को धर्मप्रचारार्थक नहीं कहा जा सकता।

५—वैदिक शिक्षाव्यवस्था में सभी बालक-बालिकाओं का उपनयन होता था, परन्तु बौद्धशिक्षा का लाभ एक विशिष्ट वर्ग को ही मिलता था। फलतः पहली सार्वजनिक थी और दूसरी वर्गबद्ध। उस वर्ग में भी स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा कम होने के कारण स्त्रीशिक्षा और अधिक पिछड़ी रहती थी।

कतिपय बौद्धशिक्षाकेन्द्र

यद्यपि वैदिककाल से ही गुरुकुलों एवं आश्रमों के रूप में शिक्षासंगठनों की परम्परा चली आ रही थी, परन्तु सामूहिक एवं संगठित शिक्षासंगठनों का निर्माण एवं संचालन मुख्यतः बौद्ध एवं जैन शिक्षासंस्थाओं द्वारा किया गया। इन संस्थाओं का निर्माण एवं संचालन भी अधिक जनतन्त्रीय आधार पर किया जाता था। इस युग में प्राचीनकाल से चले आते हुए कुछ शिक्षाकेन्द्र नवीन रूप में बदल गये और कुछ नवीन भी स्थापित हुए। इनको तत्कालीन राजाओं तथा धनिकों की सहायता भी खूब प्राप्त हुई। फलतः इनका विकास भी इतना अधिक हुआ कि वे शिक्षा के अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गये।

इन शिक्षाकेन्द्रों में विद्यार्थियों का प्रवेश योग्यता के आधार पर होता था। आयु का कोई प्रतिबन्ध न था। छात्रों के भोजन, निवास एवं चिकित्सा आदि की व्यवस्था शिक्षाकेन्द्रों की ओर से ही रहती थी। दिनचर्या उनकी वैसी ही होती थी जैसी कि ब्रह्मचारियों एवं भिक्षुओं के लिए निर्धारित थी। पाठ्यविषय में उस समय तक ज्ञात सभी वैदिक एवं अवैदिक विषयों का समावेश था। प्रसिद्ध विद्वान् एवं आचार्य ही इन शिक्षाकेन्द्रों के अध्यक्ष एवं संचालक हुआ करते थे।

प्रबन्ध में किसी प्रकार का वाह्य हस्तक्षेप नहीं था । अध्यक्ष की अधीनता में विभिन्न विषयों के महोपाध्याय हुआ करते थे। फाह्यान, ह्वेनत्सांग, इत्सिग आदि विदेशी यात्रियों ने इनका बहुत विस्तृत वर्णन किया है। शिक्षाकेन्द्र तो बहुत थे, परन्तु उनमें कतिपय प्रसिद्धों का ही संक्षिप्त वर्णन नीचे की पंक्तियों में दिया जाता है :—

तक्षशिला

तक्षशिला भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त पर एक प्रसिद्ध नगर था। आज भी वह तक्सिला नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इसे भगवान् राम के अनुज भरत के पुत्र तक्ष ने बसाया था। यह नगर गान्धार राज्य की राजधानी था। यहाँ पर कोई सुसंगठित विद्यालय न था। आचार्यलोग पारिवारिक प्रणाली पर छात्रों को शिक्षा दिया करते थे। किसी-किसी आचार्य के पास ५०० तक छात्र हो जाते थे । विद्यार्थियों के निवास एवं भोजन की व्यवस्था आचार्यों द्वारा नियन्त्रित छात्रावासों में होती थी । यह शिक्षाकेन्द्र बौद्धकाल से बहुत पहले से चला आ रहा था। पहले यहाँ वैदिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी, परन्तु युग बदलने के साथ धीरे-धीरे पाठचक्रम में परिवर्तन हो गया । यहाँ के आचार्य अपनी योग्यता एवं विद्वत्ता के कारण दूर-दूर तक विख्यात थे; अतः भारत के कोने-कोने तथा विदेशों के छात्र अध्ययनार्थ यहाँ आया करते थे। महावैयाकरण पाणिनि, भारतीय राजनीति के प्रसिद्ध महान् व्यक्ति चाणक्य, भगवान् बुद्ध के व्यक्तिगत चिकित्सक जीवक, प्रसिद्ध भारतीय सम्राट् चन्द्रगुप्त एवं पुष्यमित्र इसी केन्द्र के छात्र थे।

प्रवेश एवं शुल्क—यहाँ पर प्रवेश सोलह वर्ष की आयु में होता था। शिक्षाशुल्क के विषय में तीन प्रकार की व्यवस्था थी। प्रथम यह कि छात्र शुल्क के रूप में एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ दे। दूसरी यह कि यदि उस समय ही संभव न हो तो वह इतनी ही मुद्राएँ शिक्षासमाप्ति के उपरान्त कमाकर देने का वचन दे; और तीसरी यह कि छात्र सेवा का "शुल्क" दे । इस व्यवस्था का परिणाम यह होता था कि किसी भी योग्य छात्र को निराश होकर वापस जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

पाठ्यक्रम—यहाँ के पाठ्यविषयों में वेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद, ज्योतिष, तर्क, तंत्र, व्याकरण, चित्रकला, वास्तुकला, कृषि, व्यापार, पशुविज्ञान आदि प्रमुख थे। सीमावर्ती प्रदेश पर अवस्थित होने के कारण यहाँ की शिक्षा में भारतीय एवं विदेशी दोनों प्रकार के चिन्तनों एवं पद्धतियों के दर्शन होते थे।

समाप्ति—उत्तर-पश्चिम से होनेवाले विदेशी आक्रमणों ने इस ज्ञानपीठ को नष्ट कर दिया।

नालन्द

नालन्द विश्वविद्यालय वर्त्तमान बिहार प्रदेश में था। यह बौद्धकाल का सबसे प्रमुख विश्वविद्यालय था। इस विश्वविद्यालय की स्थापना एक बौद्ध विहार के रूप में सम्राट् अशोक के काल में हुई थी। धीरे-धीरे यह एक अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र बन गया और शताब्दियों तक ज्ञानप्रभा से विश्व को आलोकित करता रहा।

यह विश्वविद्यालय अत्यन्त सुसंगठित था। इसमें अनेक विभाग थे। इसमें लगभग १०,००० छात्र लगभग १,५०० विद्वान् अध्यापकों की देख-रेख में अध्ययन किया करते थे। यहाँ का शिक्षास्तर बहुत ऊँचा था। विद्या के लिए इसकी प्रसिद्धि लगभग पाँचवीं शताब्दी से ही दूर-दूर तक फैलने लगी थी। गुप्त-काल में नालन्द अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। सातवीं शती में जब चीनी यात्री ह्वेनत्सांग यहाँ आया तो उसने इसे वैभव की चरम सीमा पर देखा। उसके समय में छात्रों की जो संख्या थी वह ऊपर लिखी जा चुकी है। उसने इसका विस्तृत वर्णन लिखा है।

रचना—विश्वविद्यालय का उपनिवेश एक चारदीवारी से घिरा हुआ था। उसमें एक प्रवेशद्वार था। उसके भवन दिव्य, छःमंजिले तथा सुदृढ़ थे। उसमें भीतर चारों ओर सरोवर बने थे जिनमें कमल खिले रहते थे। भीतर आठ बड़े सभामण्डप, तीन-सौ अध्ययनकक्ष तथा छात्रावास थे। इस विश्व-विद्यालय में प्रतिदिन एक-सौ भाषण हुआ करते थे। उसका पुस्तकालय नौ मंजिलों तथा तीन खण्डों में विभाजित था। इसमें सभी ग्रन्थों की अनेक प्रतियाँ रहती थीं। यहाँ के अध्यापक अपने विषय के माने हुए विद्वान् हुआ करते थे।

प्रवेश—इस विद्यालय में प्रवेश बड़ा कठिन था। द्वार पर एक द्वारपण्डित रहता था जो प्रवेशेच्छुक विद्यार्थियों की परीक्षा लिया करता था और जो उसकी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाते थे उन्हें वह वहीं से वापस कर देता था। कहा जाता है कि आये हुए विद्यार्थियों में से दस प्रतिशत से अधिक छात्र प्रवेश नहीं प्राप्त कर पाते थे। प्रवेश एवं अध्ययन दोनों के लिए किसी प्रकार का शुल्क नहीं लगता था।

निवास एवं भरण-पोषण—विद्यार्थियों के निवास, भरण-पोषण एवं चिकित्सा आदि की व्यवस्था विश्वविद्यालय की ओर से निःशुल्क रहती थी।

प्रत्येक छात्र को आवश्यकसामग्रीसमेत एक कोठरी दे दी जाती थी और अन्य आवश्यक सामग्री समय-समय पर मिलती रहती थी।

पाठ्यविषय—नालन्द में वैदिकधर्म, जैनधर्म तथा बौद्धधर्म की हीनयान तथा महायान शाखाओं से सम्बद्ध सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इनके अतिरिक्त व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन, कलाकौशल, ज्योतिष, वास्तुकला आदि की उच्चशिक्षा भी दी जाती थी। आजकल की भाषा में यह स्नातकोत्तर-अध्ययन का केन्द्र था।

प्रबन्ध—इसके प्रबन्ध के लिए विद्वानों की एक समिति थी। भिन्न-भिन्न राजाओं की ओर से मिले हुए २०० ग्रामों की आय तथा फुटकर दानराशियों से इसका संचालन होता था।

समाप्ति—बारहवीं शती में बख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया। उसी समय यह विद्या-केन्द्र भी उसकी चपेट में आगया। पुस्तकालय में आग लगादी गई और विद्वानों की हत्या कर डाली गई। जो बचे वे इधर-उधर चले गये। इस प्रकार यह ज्ञानदीप सदा के लिए बुझ गया।

अब पुनः इस स्थान पर एक विद्यापीठ स्थापित किया गया है। उसके विकास का यत्न हो रहा है। हमारी कामना है कि वह अपनी जन्मस्थली के साथ सम्बद्ध इतिहास की पुनरावृत्ति करे।

विक्रमशिला

यह शिक्षाकेन्द्र भी बिहार में ही था। यहाँ पर मुख्यतया व्याकरण, तर्क, तन्त्र तथा दर्शनशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ पर भी शिक्षा एवं प्रबन्ध दोनों दृष्टियों से एक अत्यन्त उच्चस्तर का निर्वाह हुआ था। यहाँ की प्रवेश-विधि एवं शिक्षाप्रणाली नालन्द के ही समान थी। अनेक संस्कृत एवं पाली ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी यहाँ किया गया था। इसका ध्वंस भी बख्तियार खिलजी के ही हाथों से हुआ था।

इसी प्रकार के अन्य शिक्षाकेन्द्र वलभी (गुजरात), काशी, उज्जयिनी, अमरावती, ओदन्तपुरी, मिथिला, नवद्वीप (नदिया), जगद्दला, मथुरा, अयोध्या, एवं काञ्ची (दक्षिण) आदि में थे। उनमें भी भिन्न-भिन्न विषयों की उच्चकोटि की शिक्षा दी जाती थी। सभी स्थानों पर छात्रों को निवास एवं भोजन की सुविधाएँ या तो विद्यालयों की ओर से, नहीं तो राजाओं तथा धनिकों की ओर से मिल जाती थीं। शिक्षा सर्वत्र निःशुल्क ही दी जाया करती थी।

उपसंहार—प्रत्येक शिक्षाव्यवस्था अपने काल की सामाजिक आवश्यकता की उपज होती है ; इसलिए किसी काल की व्यवस्था को ज्यों का त्यों किसी दूसरे काल में नहीं ग्रहण किया जा सकता। फिर भी बौद्धकालीन शिक्षा के जिन गुणों का ऊपर की पंक्तियों में कथन किया गया है उनमें से अनेक आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था में सम्मिलित किये जा सकते हैं। उससे हमारी वर्त्तमान शिक्षा के अनेक दुर्गुण एवं दुष्परिणाम दूर हो जायेंगे। परन्तु इसके लिए "पुराना सब कुछ बुरा और नया सब कुछ अच्छा" तथा "इस युग में यह सम्भव नहीं है" इन मनोवृत्तियों का परित्याग करके स्वतन्त्र चिन्तन का अभ्यास करना पड़ेगा। यूरोपीय देशों की शिक्षाव्यवस्था को आँख मीचकर अपना लेने से अपने देश का काम नहीं चल सकेगा।

सहायक पुस्तकें

१—एजुकेशन इन एन्शियेण्ट इण्डिया—अलतेकर
२—हिन्दू सिविलाइजेशन—आर० के० मुकर्जी
३—एजुकेशन इन इण्डिया—आर० के० मुकर्जी
४—हिस्ट्री आफ इण्डियन एजुकेशन—एफ० ई० के
५—भारतीय शिक्षा का इतिहास—प्यारेलाल रावत

———

अध्याय ५

मुस्लिमकालीन-शिक्षा

अध्याय संक्षेप:— १. प्रस्तावना। २. विषयप्रवेश। ३. मुस्लिम शासकों की आकांक्षाएँ ४. मुस्लिम शासकों की परिस्थितियाँ। ५. मुस्लिम शासकों की आवश्यकताएँ। ६. मुस्लिमशिक्षा के उद्देश्य। ७. शिक्षाव्यवस्था—प्रवेश, प्रारंभिक शिक्षा, उच्चशिक्षा, गुरुशिष्यसम्बन्ध, स्त्रीशिक्षा, शिक्षा और राज्य। ८. समालोचना—गुण एवं दोष। ९. मुस्लिमकालीन-शिक्षा के केन्द्र। १०. मुस्लिमशिक्षा का पूर्ववर्ती शिक्षाप्रणालियों पर प्रभाव।

प्रस्तावना—प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि भारत में मुस्लिम शासन मुख्यतया सन् ११९२ से सन् १७०७ तक रहा। इस शासन में यहाँ एक नवीन शिक्षाप्रणाली की नींव पड़ी। इस युग के आरम्भ होने तक देश में वैदिक एवं बौद्ध शिक्षाप्रणालियाँ प्रचलित थीं। मुस्लिम शासकों ने न केवल एक नवीन शिक्षाप्रणाली को जन्म दिया अपितु पुरानी शिक्षाप्रणालियों को उखाड़ने में भी कोई कसर न छोड़ी। इस अध्याय में संक्षेपत: हम उस शिक्षाप्रणाली का अध्ययन करेंगे जिसको जमाने का मुस्लिम शासकों ने प्रयत्न किया था।

विषयप्रवेश—बौद्धकालीन शिक्षा की भाँति ही मुस्लिमकालीन शिक्षा कोई सार्वजनिक शिक्षाप्रणाली नहीं थी। जिस प्रकार पूर्ववर्ती का जन्म बौद्ध प्रचारकों की आवश्यकताओं के कारण हुआ था उसी प्रकार परवर्ती का जन्म भी मुस्लिम शासकों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ था। फलत: इस शिक्षा के उद्देश्यों तथा पाठ्यक्रम आदि को समझने के लिए यह जानना परम आवश्यक है कि उस काल के मुस्लिम शासकों की सामान्य आवश्यकताएँ क्या थीं।

मुस्लिम शासकों की आकांक्षाएँ—किसी भी देश पर बाहरी आक्रमणों के तीन कारण हुआ करते हैं:—(१) धन एवं स्त्रियों की लूट, (२) राज्य-स्थापना, (३) धर्मप्रचार। जिन मुस्लिम शाहों ने केवल प्रथम कारण से भारत पर आक्रमण किया उनको तो शासक कहना ही नहीं चाहिये। वे संगठित लुटेरों की भाँति आये और लूटपाट करके चले गये। जो मुस्लिम आक्रमणकारी राज्य-स्थापना की दृष्टि से भारत में आये और जिन्हें अपने उद्देश्य में सफलता भी मिली उन्हें ही शासक कहा जा सकता है। ऐसे लगभग सभी शासकों की ये

आकांक्षाएँ रहीं कि इस देश में उनका राज्य स्थापित हो और जनता में इस्लाम-धर्म का प्रचार हो।

मुस्लिम शासकों की परिस्थितियाँ—जिस समय मुस्लिम शासक इस देश में आकर जमे उस समय यहाँ की सम्पूर्ण जनता हिन्दू थी। उसके लिए नवीन मुस्लिम शासक विदेशी, विधर्मी एवं आक्रमक थे। शासकों के लिए भी यहाँ की जनता विदेशी, विधर्मी तथा डण्डे से ही वश में रखने योग्य थी। फलतः दोनों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। जब तक शासक प्रबल रहते थे, वे अपना शासन जमाये रहते थे और जब जनता का पक्ष प्रबल हो जाता था तो वह उन्हें मारकर भगा देती थी। यहाँ के जनमहासागर में उनकी स्थिति उस छोटे-से द्वीप के समान थी, जो सागर की लहरों में कभी बिलकुल डूब जाता हो और कभी दिखाई पड़ने लगता हो। उस समय वे अपने शासन की स्थिरता के लिए केवल उन सैनिक-साथियों पर ही आश्रित रह सकते थे जिनके सहारे उन्हें सैनिक विजय में सफलता मिला करती थी। परन्तु यदि इन साथियों की संख्या की देश की साधारण जनता की संख्या के साथ तुलना की जाय तो यह स्पष्ट है कि उसकी संख्या बहुत थोड़ी थी और चाहे वह एक बार सैनिक विजय के लिए पर्याप्त हुई हो परन्तु उस संघर्षमय वातावरण में शासन की सैनिक एवं नागरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो निश्चय ही अपर्याप्त थी। साथ ही राज्यसीमा के विस्तार के साथ इस अपर्याप्तता की मात्रा भी बढ़ ही जाती थी।

मुस्लिम शासकों की आवश्यकताएँ—विदेश में राज्यस्थापन तथा धर्मप्रचार की आकांक्षा, साथी थोड़े तथा चारों ओर शत्रुतामय वातावरण इन परिस्थितियों में किसी भी विदेशी शासक की भाँति मुस्लिम शासकों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे अपने सैनिकसाथियों को सन्तुष्ट रखते और ऐसी व्यवस्था करते जिससे शासन के सहयोगियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती। किसी व्यक्ति को सन्तुष्ट रखने के लिए न जाने कितने उपाय करने पड़ते हैं, परन्तु उन परिस्थितियों में निम्नलिखित तो बिलकुल आवश्यक थे:—

१—सैनिक साथियों के लिए सम्मानपूर्ण जीविका की व्यवस्था।

२—उनको इस प्रकार का आश्वासन कि वैसी ही सम्मानपूर्ण जीविका उनकी आगे आनेवाली सन्तति के लिए भी सुरक्षित रहेगी।

३—भावी सन्तति के निर्माण की इस्लाम के अनुकूल व्यवस्था।

इनमें से प्रथम उपाय का सम्बन्ध राज्य की नौकरियाँ देने के साथ है। मुस्लिम शासकों के समक्ष अपने सैनिक साथियों को राज्य के ऊँचे तथा विश्वसनीय पद देने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं था; क्योंकि वे अपने राज्य की सुरक्षा के लिए स्थानीय लोगों पर विश्वास कर ही नहीं सकते थे। उन्होंने ऐसा किया भी। इससे साथी भी सन्तुष्ट हुए और राज्य का कार्य भी चला। साथियों की सन्तुष्टि के लिए द्वितीय एवं तृतीय उपाय काम में लाये जा सकें इसके लिए यह आवश्यक था कि भावी सन्तति में राज्य की रक्षा एवं संचालन की योग्यता उत्पन्न करने, उसको अधिकाधिक ज्ञान प्रदान करने तथा उसे इस्लाम के सिद्धान्तों से परिचित कराने के लिए आवश्यक शिक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय। उस व्यवस्था से ही साथियों की सन्तानों में अपनी परम्परागत सम्मानपूर्ण जीविका——राज्य की नौकरियों——को सुरक्षित रखने की योग्यता उत्पन्न हो सकती थी।

इस व्यवस्था के साथ उनके सैनिक साथियों की प्रसन्नता का एक और रूप में भी सम्बन्ध था। पैगम्बर मुहम्मद तथा हजरत अली आदि धर्माचार्यों ने ज्ञान की प्राप्ति एवं उसके प्रदान को एक बड़ा पुण्यकार्य बताया है। इसीलिए बहुत-से लोग मकबरे बनवाकर उनके ऊपर विद्यालय स्थापित करते थे जिससे कि विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के चरणों के स्पर्श से मृत आत्मा पवित्र हो जाय। शिक्षा की व्यवस्था करने से शासक को भी यह अनुभव होता था कि वह एक आवश्यक धार्मिक कर्त्तव्य पूरा कर रहा है और उसके साथी भी समझते थे कि वह एक धार्मिक एवं प्रत्येक प्रकार से समर्थन करने योग्य शासक है। उस धर्मान्धता के युग में साथियों का शासक की धार्मिकता में विश्वास एक महत्वपूर्ण बात थी।

मुस्लिम शासकों की द्वितीय आवश्यकता शासन के सहयोगियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि थी। आरंभिक मुस्लिम शासन एक प्रकार का वर्गशासन था। "एक प्रकार का" यह हम इसलिए कह रहे हैं कि शासकवर्ग भी जनतांत्रिक आधार पर संगठित न होकर एकतन्त्रीय आधार पर ही संगठित था। शासकवर्ग की रचना का आधार भी मुख्यतया जातीय-धार्मिक था। शासक जिस देश से आया हुआ होता था उसी देश के मुस्लिम निवासी उसके लिए अधिक विश्वसनीय होते थे। उसके बाद विश्वसनीयता के द्वितीय स्तर पर कोई मुसलमान ही रह सकता था। अपनी निज की धार्मिक कट्टरता तथा उस समय के जातीय संघर्षमय वातावरण के कारण उस समय किसी अ-मुसलमान को विश्वसनीय तथा सहयोगी बनाना उनके लिए कठिन था। इसलिए द्वितीय आवश्यकता की स्पष्ट व्याख्या

"अ-मुस्लिमों में इस्लाम का प्रचार" होती है। इस प्रचार से मुस्लिम शासकों को विश्वसनीय सहयोगी तो मिलते ही थे; उनके सैनिक साथी भी प्रसन्न होते थे क्योंकि भारत में इस्लाम का प्रचार उनकी महत्त्वाकांक्षा भी तो थी।

धीरे-धीरे जब मुस्लिम शासन देश में पुराना पड़ता गया, शासकवर्ग एवं शासितों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा हितसमन्वय होने लगा और शासन की स्थायिता के लिए शासकों को इस देश के हिन्दुओं का सहयोग भी आवश्यक प्रतीत होने लगा तो समझदार शासकों के मन में इस्लाम की अविरोधी एक सामान्य नागरिकता के विकास की उपयोगिता भी आने लगी। कुछ क्षेत्रों में इसका ईमानदारी से प्रयत्न भी किया गया और थोड़ी-बहुत सफलता भी मिली।

ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ विवेचन किया गया उससे यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि उन परिस्थितियों में अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए मुस्लिम शासकों की प्रधान आवश्यकताएँ निम्नलिखित थीं :—

१—राज्य की सेवा के लिए योग्य कर्मचारियों का शिक्षण एवं प्रशिक्षण।

२—मुसलमानों में इस्लाम के सिद्धान्तों तथा आचार का प्रचार तथा ज्ञान का प्रसार।

३—अन्य धर्मावलम्बियों में इस्लाम का प्रचार।

४—इस्लाम की अविरोधी एक सामान्य नागरिकता का विकास।

मुस्लिमकालीन-शिक्षा के उद्देश्य—पिछले अध्याय में हम कह चुके हैं कि किसी काल में तात्कालिक समाज अथवा शिक्षा के व्यवस्थापकों की आवश्यकताएँ ही उस काल की शिक्षा के उद्देश्य बनती हैं। इसलिए यह निर्भय होकर कहा जा सकता है कि मुस्लिम शासकों की उपयुक्त आवश्यकताएँ ही मुस्लिमकालीन-शिक्षा के उद्देश्य थीं।

शिक्षाव्यवस्था

प्रवेश—वैदिककालीन उपनयन तथा बौद्धकालीन पब्बज्जा की भाँति मुस्लिम-कालीन-शिक्षा का आरम्भ भी "बिस्मिल्लाह" संस्कार से होता था। जब बालक चार वर्ष, चार मास और चार दिन का हो जाता था तो उसे नये कपड़े पहनाकर विद्यारम्भ के लिए किसी मौलवी अथवा मुल्ला के सामने उपस्थित किया जाता था। वह समस्त कुटुम्बियों के सामने बालक का विद्यारम्भ कराता था। विद्या का आरम्भ कुरानशरीफ की कुछ आयतों अथवा "बिस्मिल्लाह" के उच्चारण से होता था।

प्रारंभिक शिक्षा—प्रारंभिक शिक्षा मकतबों में दी जाती थी। मकतब प्रत्येक मस्जिद के साथ जुड़े रहते थे। मुहल्ले या गाँवभर के मुसलमान बच्चे वहीं आकर एकत्रित हो जाते थे और मुल्ला या मौलवी उन्हें कुरान की आयतें तथा प्रार्थनाएँ याद कराता था। साथ ही वह उन्हें पढ़ना-लिखना तथा साधारण गणित भी सिखाया करता था। लिपिज्ञान, उच्चारण तथा व्याकरण पर विशेष बल दिया जाता था। किन्हीं-किन्हीं मकतबों में हदीस, कविता, एवं नीतिशास्त्र भी पढ़ाये जाते थे ।

शासकों तथा धनी-मानी व्यक्तियों के बच्चों का बिस्मिल्लाह तथा अध्यापन उनके घर पर ही हुआ करता था । शाहजादों के लिए विशेष प्रकार का पाठ्यक्रम रहता था, जिसमें अरबी, फारसी, सैनिक शिक्षा, कानून, न्यायालयकला तथा धर्म का विशेष स्थान होता था। जो हिन्दू अपने बच्चों को अरबी-फारसी पढ़ाना चाहते थे वे भी अपने बच्चों को मकतबों में भेज सकते थे । लड़कों की भाँति लड़कियों की शिक्षा की भी व्यवस्था हो जाती थी। ये मकतब राज्य तथा धनी मुसलमानों की आर्थिक सहायता से चलते थे । यह सहायता पर्याप्त मात्रा में मिल जाती थी, क्योंकि प्रत्येक समर्थ व्यक्ति अपनी सामर्थ्यानुसार विद्या के प्रसार में सहायक होना अपना कर्त्तव्य समझता था।

उच्चशिक्षा—उच्चशिक्षा मदरसों में दी जाती थी। इनका प्रबन्ध समितियों और प्रतिष्ठित नागरिकों के हाथ में रहता था। उनको राज्य की ओर से भी सहायता मिलती थी। मदरसों में पाठ्यक्रम दो प्रकार का होता था:—(१) धार्मिक; एवं (२) सांसारिक। धार्मिक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत कुरानशरीफ एवं उसके आलोचनात्मक अध्ययन, इस्लामी इतिहास, तथा कानून पर विशेष बल दिया जाता था। सांसारिक पाठ्यक्रम में अरबी, फारसी, व्याकरण, साहित्य, गणित, इतिहास, भूगोल, यूनानी चिकित्सा, कृषि, दर्शन, कानून, नीतिशास्त्र, धर्म, तर्कशास्त्र, ज्योतिष, बहीखाता, अर्थशास्त्र आदि सम्मिलित थे। दर्शनों के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। सभी विषय सभी स्थानों पर नहीं पढ़ाये जाते थे। शिक्षाकाल दस या बारह वर्ष का रहता था। शिक्षा का माध्यम अरबी भाषा थी। बड़े-बड़े मदरसों के साथ पुस्तकालय भी जुड़े रहते थे। कुछ मदरसों में संगीत, शिल्पकला, तथा वास्तुकला का शिक्षण एवं प्रशिक्षण भी होता था। अकबर ने मदरसों के पाठ्यक्रम में संस्कृत भाषा एवं साहित्य, भूमिति, शरीरविज्ञान, भौतिकविज्ञान, गृहविज्ञान, शासनपद्धति, संगीत, तथा शिल्पशास्त्र आदि सम्मिलित करा दिये थे।

अध्यापनविधि—'मदरसा' शब्द अरबी की "दर्स्" धातु से, जिसका अर्थ भाषण देना होता है, बनता है। इसी से प्रकट है कि वहाँ का अध्यापन भाषणों के माध्यम से चलता होगा। साथ ही प्रश्नोत्तर भी चलते थे। प्रायोगिक विषयों में प्रयोगाभ्यास भी कराया जाता था।

मदरसों में दूर-दूर के छात्र पढ़ने आते थे अतः उनमें छात्रावासों की भी सुविधा थी। अन्य व्यय चलाने के लिए छात्रों को छात्रवृत्तियाँ भी मिलती थीं। यहाँ की शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त छात्रों को सनदें तथा तमगे आदि दिये जाते थे, जिससे कि वे अन्य मदरसों तथा राज्य की सेवा के समय योग्य स्थान पा सकें।

गुरुशिष्यसम्बन्ध—मकतबों की भाँति मदरसों का वातावरण भी धार्मिकता-पूर्ण होता था। फलतः गुरुशिष्यसम्बन्ध प्राचीनकाल की ही भाँति अनुशासन एवं विनय से पूर्ण था। परन्तु उसमें वैदिककाल तथा बौद्धकाल की-सी आत्मीयता नहीं रह गई थी। फिर भी शिष्य गुरुओं की सेवा खूब करते थे।

दण्डव्यवस्था—मुस्लिमकालीन-शिक्षा में दण्डव्यवस्था बड़ी कठोर थी। छात्रों को बेत, कोड़ा तथा थप्पड़-घूँसों से पीटा जाता था। मुर्गा बना देना तो एक साधारण बात थी। कभी-कभी अध्यापक छात्रों को खूंटी पर टाँग देने की भी कृपा कर दिया करते थे।

स्त्रीशिक्षा—स्त्रीशिक्षा का प्रचार कम था। जनसाधारण की बालिकाओं के लिए कोई समुचित शिक्षाव्यवस्था न थी; उच्चवर्ग के वे लोग जो अपनी कन्याओं को शिक्षा दिलाना चाहते थे, घर पर ही उसकी व्यवस्था कर लेते थे। बालिकाओं की शिक्षा में धर्मज्ञान तथा गृहशास्त्र मुख्य विषय थे। उन्हें ललितकला तथा संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी। फिर भी इस युग में कुछ मुसलमान स्त्रियाँ—रज़ियाबेगम, बेगम गुलबदन, नूरजहाँ, रोशनआरा आदि—उच्चकोटि की विदुषी हो गई हैं।

शिक्षा और राज्य—वैदिककालीन तथा बौद्धकालीन शिक्षाप्रणालियों का राज्य से कोई सम्बन्ध न था; यद्यपि उन्हें राज्याश्रय अवश्य प्राप्त था। परन्तु मुस्लिम शिक्षा पूर्णतया राज्याश्रित थी। राज्य भी चूंकि राजतन्त्री आधार पर निर्मित थे; अतः यही कहना अधिक उचित है कि शिक्षा शासक पर ही आश्रित थी। यदि शासक की रुचि शिक्षा में हुई और उसका राज्य स्थिर रहा तो उसकी बनाई शिक्षाव्यवस्था चलती रही अन्यथा नष्ट हो गई।

गुलामवंश में इल्तुतमश, रज़िया और बलबन शिक्षा में रुचि रखते थे, इसलिए उन्होंने बहुत-से मकतब और मदरसे खुलवाये। खिलजीवंश का संस्थापक जलालुद्दीन शिक्षाप्रेमी था, परन्तु अलाउद्दीन ने शिक्षा को कोई प्रोत्साहन न दिया; अतः उसके समय में शिक्षा का ह्रास हुआ। तुगलकवंश के सभी सुलतान शिक्षाप्रेमी थे। फिरोज़ तुगलक ने कई प्रसिद्ध मदरसों की स्थापना की थी। जौनपुर, गुजरात, दक्षिण के बहमनी राज्य तथा अन्य प्रान्तीय राज्यों ने भी शिक्षा को प्रचारित एवं विकसित किया। सय्यद तथा लोदी वंशों के राज्यों में स्थिरता न होने के कारण शिक्षा को अधिक प्रोत्साहन न मिल सका।

मुग़लवंश के सभी बादशाह शिक्षाप्रेमी थे। अकबर ने मुस्लिम शिक्षा को एक नवीन दिशा देने का प्रयत्न किया। उसने पाठ्यक्रम में अनेक सुधार किये और अनेक मकतब और मदरसे खुलवाये जहाँ हिन्दू और मुसलमान एक साथ शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। उसने शक्ति एवं श्रम के अपव्यय को बचाने के लिए शिक्षा देने की प्रणाली में भी अनेक सुधार कराये। उसके अनुसार शिक्षक को पाँच प्रमुख बातों—अक्षरज्ञान, शब्दार्थ, काफियापूर्ति, छन्द और पूर्वपाठ–पर ध्यान देना आवश्यक था। जहाँगीर ने भी शिक्षाप्रसार के यत्न किये और इसके लिए समुचित आर्थिक सहायता दी। शाहजहाँ ने भी इस विषय में अपने पूर्वजों का अनुकरण किया। राजकुमार दाराशिकोह एक उच्चकोटि का विद्वान् एवं विद्याप्रेमी था। उसने संस्कृत का भी गहरा अध्ययन करके अनेक पुस्तकों का फारसी में अनुवाद किया था। औरंगजेब भी शिक्षा का बड़ा पक्षपाती था, परन्तु अपनी धार्मिक कट्टरता के कारण वह मुस्लिम शिक्षा को ही महत्त्व देता था। उसने अनेक मकतब और मदरसे खुलवाये और पाठ्यक्रम में अनेक सुधार किये। उसने शिक्षा को अधिक सरल, व्यावहारिक, एवं लोकोपयोगी बनाने पर बल दिया और मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का समर्थन किया।

समन्वय—हुमायूँ आदि अनेक मुस्लिम शासकों ने मकतबों और मदरसों के अतिरिक्त पुस्तकालय भी खुलवाये। अनेक भारतीय एवं मुस्लिम ग्रन्थों का अनुवाद भी किया गया। सिकन्दर लोदी तथा अकबर आदि समझदार शासकों के प्रयत्न से सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए हिन्दुओं ने भी अरबी और फारसी का अध्ययन किया। ज्ञानविकास की उदार भावना से प्रेरित होकर दाराशिकोह

आदि मुसलमानों ने हिन्दू साहित्य का भी अध्ययन किया। चिरकाल तक साथ-साथ चलने के कारण भारतीय एवं मुस्लिम प्रणालियों में भी समन्वय हो चला। पाठ्यक्रम में बहुत-से भारतीय विषय सम्मिलित हो गये। व्यावसायिक शिक्षा में भारतीय व्यवसायों को प्रमुख स्थान मिला। दोनों के समन्वय के आधार पर ही ग्रामीण पाठशालाओं की एक नवीन परम्परा को जन्म मिला। इनका वर्णन सन्धिकाल के प्रसंग में किया जायेगा।

समालोचना

विशेषताएँ—ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसे पढ़कर मुस्लिम शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट होता है :—

१—इसमें धार्मिक एवं भौतिक (सांसारिक) शिक्षा का समन्वय था।

२—इसका आधार धार्मिक था अतः इसमें चरित्रनिर्माण पर अधिक बल दिया जाता था। परन्तु यह था सब मुसलमानों के लिए ही।

३—गुरु और शिष्य पर्याप्त निकट सम्पर्क में रहते थे और उनके सम्बन्ध परस्पर स्नेह एवं आदर से पूर्ण थे।

४—प्रारंभिक एवं उच्च दोनों प्रकार की शिक्षाओं की निःशुल्क व्यवस्था थी।

५—छात्रों को पुरस्कार एवं छात्रवृत्तियों द्वारा विद्याध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया जाता था।

६—पाठ्यक्रम में विषयों की संख्या पर्याप्त थी।

७—शिक्षासंस्थाओं का निर्माण दरगाह आदि स्थानों पर होता था, फलतः वहाँ का वातावरण शान्त एवं मनोरम रहता था।

८—छात्रों के पास विद्यार्थीकाल में विद्याध्ययन के अतिरिक्त और कुछ भी कार्य न होता था।

९—शिक्षा अनिवार्य थी परन्तु होता इसका लाभ मुस्लिम जनता को ही था।

१०—इस शिक्षा के फलस्वरूप देश में सैनिक शिक्षा, कहानीकला, तथा इतिहासलेखन को प्रोत्साहन मिला। इस युग ने ही हमें कई अच्छे इतिहासकार (ज़ियाउद्दीन वरनी, अबुलफ़ज़ल, बदायूनी आदि) दिये।

१—शिक्षाव्यवस्था मुख्यतः मुसलमानों के लिये ही थी फलतः उसमें सार्वजनिकता का अभाव था। मुसलमानों में भी उच्चवर्ग ही उससे अधिक लाभान्वित हो पाता था।

२—शिक्षासंस्थाओं के वातावरण में धार्मिकता कट्टरता की सीमा तक पहुँची हुई थी। जिसके कारण हिन्दू उनसे प्रथम तो लाभ ही नहीं उठा पाते थे और यदि किसी प्रकार उनमें प्रवेश भी पा लेते थे तो उन्हें वहाँ आवश्यक स्वाधीनता नहीं मिल पाती थी। स्वाधीनता दिखाने पर कभी-कभी बड़े संकट उत्पन्न हो जाते थे।

३—शिक्षा का माध्यम मातृभाषा न होकर फारसी एवं अरबी थी।

४—पाठ्यक्रम पर्याप्त विस्तृत था परन्तु फिर भी उसमें भारतीय विषयों का समावेश कम था। विषयों में प्रचलित अर्थों में वैज्ञानिकता नहीं थी।

५—दण्डव्यवस्था निर्दयता की सीमा तक कठोर थी।

६—शिक्षासंस्थाएँ बिलकुल राज्याश्रय पर ही चल पाती थीं। अध्यापकों में त्यागवृत्ति के साथ शिक्षणालय चलाने का भाव नहीं था।

७—स्त्रीशिक्षा बहुत कम थी।

८—पाठ्यवस्तुओं में बौद्धिकता एवं पाठनविधि में मौखिकता अधिक थी।

मुस्लिमकालीन-शिक्षा के प्रमुख केन्द्र—भारत में इस शिक्षाप्रणाली के प्रमुख केन्द्र आगरा, दिल्ली, जौनपुर, बीदर, बीजापुर, गोलकुण्डा, गुजरात, मालवा, प्रयाग, रायपुर, लाहौर, स्यालकोट, पटना, हैदराबाद, अहमदाबाद तथा लखनऊ आदि थे। यों जहाँ कहीं भी किसी प्रभावशाली मुस्लिम शासक का केन्द्रीय स्थान रहा वहीं कोई न कोई मदरसा अवश्य बना। इन सब में जौनपुर सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ। उसे शीराज-ए-हिन्द कहा जाता था क्योंकि इब्राहीम शर्की तथा सिकन्दर लोदी के समय में यहाँ सैकड़ों मदरसे बने थे। शेरशाह सूर ने यहीं शिक्षा प्राप्त की थी। यहाँ रहकर उसने इतिहास, दर्शन, शासन-प्रणाली, सैनिकविज्ञान तथा साहित्य का अध्ययन किया था और उसी के बल पर वह बाद में एक सफल शासक सिद्ध हुआ।

इनमें से कुछ केन्द्र कुछ विशेष विषयों की शिक्षा के लिये प्रसिद्ध हुए। लाहौर एवं स्यालकोट ने गणित एवं ज्योतिष के लिये, रामपुर ने तर्क एवं चिकित्सा के लिये, दिल्ली ने कविता और इस्लामी परम्पराओं के अध्ययन के लिये तथा लखनऊ ने शिया-शिक्षा के लिये प्रसिद्धि प्राप्त की।

मुस्लिमशिक्षा का पूर्ववर्ती शिक्षाप्रणालियों पर प्रभाव—मुस्लिम शासकों

ने इस शिक्षाप्रणाली को चालू करने के लिये तो प्रयत्न किया ही; पूर्ववर्ती शिक्षा-प्रणालियों को नष्ट करने में भी कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा। विद्यालय लूटे गये, अध्यापकों का कत्ले-आम हुआ तथा पुस्तकालयों में आगें लगाई गई। परन्तु वैदिककालीन-शिक्षा किसी प्रकार अपनी सत्ता बनाये ही रही। बौद्धशिक्षा-केन्द्र विलकुल नष्ट हो गये और उस शिक्षाप्रणाली का तो भारत में अवशेष भी न रहा। सम्भवतः इसका कारण यह था कि वैदिकशिक्षा गुरुकेन्द्रित थी और बौद्धशिक्षा संस्थाकेन्द्रित। संस्थाओं को आक्रमणों द्वारा सरलता से नष्ट किया जा सका। गुरु लोग एकान्त में शिक्षा देते रहे और आवश्यकता होने पर स्थान बदलकर भी छोटे-छोटे विद्यालय चलाते रहे।

सहायक पुस्तकः—

१—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एजुकेशन　—एफ.ई. के
२—एजुकेशन इन मुस्लिम इण्डिया　—जाफ़र
३—एजुकेशन इन इण्डिया　—के. एस. वकील
४—भारतीय शिक्षा का इतिहास　—प्यारेलाल रावत

अध्याय ६

सन्धिकाल में शिक्षा की दशा

अध्यायसंक्षेपः—

१. प्रस्तावना । २. विषयप्रवेश । ३. सन्धिकाल के शिक्षासंगठन। ४. उनका तुलनात्मक परिचय । ५. उनका वर्गीकरण । ६. देशी शिक्षा का विस्तार: मद्रास में, बम्बई में, बंगाल में, आगरा में । ७. देशी शिक्षा की दशा तथा उसके कारण । ८. प्रारम्भिक योरोपीय प्रयत्न : पुर्तगालियों के, फ्राँसीसियों के, अंग्रेजों के, कम्पनी की उदासीनता, कम्पनी-पादरी संघर्ष, सन् १८१३ का आज्ञापत्र, कम्पनी के प्रयत्न । ९. उपसंहार ।

प्रस्तावना—द्वितीय अध्याय में युगविभाजन करते हुए हमने सन् १७०० ई० से सन् १८१३ ई० तक के काल को "सन्धिकाल" कहा है । यह नामकरण हमने क्यों किया है यह बात भी संक्षेप में हम वहीं कह चुके हैं। इस अध्याय में हम थोड़े-से विस्तार के साथ यह अध्ययन करना चाहते हैं कि इस काल में अपने देश में शिक्षा की क्या दशा थी।

विषयप्रवेश—पिछले अध्याय में हमने कहा है कि शासकों द्वारा मुस्लिम शिक्षा के निरन्तर समर्थन एवं भारतीय शिक्षा के अनवरत दमन के होते हुए भी वैदिककालीन शिक्षाप्रणाली ज्यों-त्यों करके चलती ही रही। एक स्थान पर हमने यह भी कहा है कि चिरकाल तक साथ-साथ चलते रहने के कारण वैदिक (भारतीय) एवं मुस्लिम शिक्षाप्रणालियों में समन्वय हो चला। हमने अपने इन दोनों कथनों की उन-उन स्थानों पर कोई व्याख्या नहीं की है । इस काल की शिक्षा की दशा से पाठकों को हमारे उन दोनों कथनों की व्याख्या स्वयमेव समझ में आ जायेगी ।

सन्धिकाल के शिक्षासंगठन—सन्धिकाल को सम्पूर्णत: देखने से हमें इसमें छ: प्रकार के शिक्षासंगठनों के दर्शन होते हैं :—

१. गुरुगृह—संस्कृत भाषा एवं साहित्य के विद्वान् अपने घर पर ही छात्रों को पढ़ाया करते थे । छात्रों के रहने तथा भोजन की व्यवस्था सत्रों अथवा धर्मशालाओं में हो जाती थी।

२. संस्कृतविद्यालय—बंगाल में इन विद्यालयों को टोल कहा जाता था। दक्षिण भारत में ऐसे विद्यालय मन्दिरों अथवा इसी प्रयोजन से दान दिये हुए ग्रामों में चलते थे। जहाँ ऐसी कोई स्थायी आर्थिक व्यवस्था नहीं थी वहाँ कोई धनीमानी व्यक्ति उसका संचालन करता था। इनमें विभिन्न विषयों के विद्वान् छात्रों को अपना-अपना विषय पढ़ाते थे। बंगाल के कुछ टोल तो इतने बड़े एवं संगठित थे कि वे अपने आपको विश्वविद्यालय समझते थे।

३. मकतब } इनका विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है।
४. मदरसे } मदरसों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अध्ययन करते थे।

५. ग्रामीण पाठशालाएँ—इन पाठशालाओं में प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। जो बच्चे मकतब में नहीं जाते थे वे इनमें पढ़ा करते थे। इनमें प्रान्तीय भाषा, फारसी (राजभाषा), गणित आदि की उपयोगी शिक्षा दी जाती थी।

६. विदेशियों के विद्यालय—ये विद्यालय ईसाईधर्म के प्रचार के उद्देश्य से या तो ईसाईप्रचारकों ने खोले थे अथवा भारत में व्यापार करनेवाली विदेशी कम्पनियों ने अपने कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिये स्थापित किये थे।

उनका तुलनात्मक परिचय—इन संगठनों में प्रथम एवं द्वितीय स्पष्टतया वैदिकशिक्षा के अवशेष थे। सम्पूर्ण मुस्लिमकाल में से गुजर आने के बाद भी उनके पाठ्यक्रम, पाठनविधि एवं संगठन आदि किसी अंग पर भी मुस्लिमशिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। मकतब और मदरसे मुस्लिमशिक्षा की वस्तु थे। इनके विषय में विस्तार से पिछले अध्याय में कहा ही जा चुका है। ग्रामीण पाठ-शालाओं में एक प्रकार से भारतीय एवं मुस्लिम शिक्षाओं का समन्वय हुआ था। अकबर के काल से भारत की राजभाषा फारसी हो गई थी। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि इस भाषा का सम्बन्ध मुस्लिमशिक्षा के साथ था। मुस्लिमशिक्षा के इस अंग को इसीलिये ग्रामीण पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया था क्योंकि यह राजभाषा थी। इस विदेशी अंश को छोड़कर उनके पाठ्यक्रम का शेष अंश बिलकुल स्वदेशी था और उसका उद्देश्य दैनिक व्यवहार में सामाजिक क्षमता उत्पन्न करना था। छठे प्रकार के शिक्षासंगठन इसी काल में उत्पन्न हुए थे। वे पहले से चली आती हुई किसी परम्परा के अवशेष अथवा परम्पराओं के समन्वय न होकर आगे आनेवाली शिक्षाव्यवस्था के भूमिका रूप थे।

उनका वर्गीकरण—पिछले अनुच्छेद में वर्णित छहों प्रकार के शिक्षासंग-

ठनों को इस अध्याय की अगली पंक्तियों तथा अन्यत्र जहाँ आवश्यक होगा हम दो वर्गों में विभक्त करके दो विभिन्न नामों से कहेंगे। प्रथम पाँच प्रकार के शिक्षासंगठन इस देश की प्राचीन अथवा मध्यकालीन परम्परा में चले आ रहे थे अतः उन्हें "देशी शिक्षा" इस नाम से कहा जायेगा और छठे प्रकार के संगठनों को "प्रारम्भिक योरोपीय प्रयत्न" नाम से।

देशी शिक्षा का विस्तार—सन्धिकाल में देशी शिक्षा का विस्तार कितना था उसका अनुमान हम उन आँकड़ों से कर सकते हैं जिनका संकलन अंग्रेज अधिकारियों ने तब कराया था जब कि सन् १८१३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भारतीयशिक्षा के लिये स्वीकृत धनराशि को व्यय करने का प्रश्न उनके सामने उपस्थित हुआ। यह संकलन सन् १८२० तथा सन् १८४२ के बीच में हुआ था।

मद्रास में

इस प्रान्त में आँकड़ासंकलन का कार्य सन् १८२२ में श्री मुनरो द्वारा कराया गया था। इस समय मद्रास की जनसंख्या सवा करोड़ थी और ग्रामीण पाठशालाओं में १,८८,०३० छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। इनके अतिरिक्त अनेक बालक अपने घर पर ही शिक्षा प्राप्त करते थे। घर पर शिक्षा प्राप्त करना उस समय बहुत अधिक प्रचलित था।

बेलारी ज़िले के कलक्टर के लेखानुसार उस समय जिले में ५३३ शिक्षालय थे। उनमें से ४५ उच्चशिक्षा के केन्द्र थे। इनमें से तेईस में संस्कृत, इक्कीस में फारसी तथा एक में अंग्रेजी पढ़ाई जाती थी। शेष विद्यालयों में प्रान्तीयभाषा पढ़ाई जाती थी। ये सभी विद्यालय बहुत सस्ते थे।

बम्बई में

आँकड़ासंकलन का कार्य इस प्रान्त में गवर्नर एलफिन्स्टन ने सन् १८२९ में कराया था। उस समय प्रान्त की जनसंख्या ४७ लाख थी। प्रान्त में कुल एक हजार सात-सौ पाँच (१,७०५) विद्यालय थे जिनमें पैंतीस हज़ार छात्र शिक्षा पाते थे। श्री प्रेण्डरगास्ट ने उस समय की शिक्षा की दशा के विषय में कहा था कि "कदाचित् ही कोई छोटा अथवा बड़ा गाँव हो जहाँ पाठशाला नहीं है" और "ऐसा कोई किसान अथवा छोटा व्यापारी नहीं है जो हमारे देश के निम्न-कोटि के लोगों से अधिक कुशलता से हिसाब न रखता हो। बड़े व्यापारी तथा साहूकार किसी भी अंग्रेज व्यापारी के समान स्पष्टता तथा सुविधा से हिसाब रखते हैं।" स्वयं श्री एलफिंन्स्टन का कथन था कि "शिक्षा यद्यपि सार्वदेशिक तो

नहीं है परन्तु जनता के लिये सराहनीय है।" श्री मैल्कम के कथनानुसार अशान्त मालवा प्रदेश में भी प्रत्येक सौ घरोंवाले ग्राम में एक पाठशाला अवश्य थी।

बंगाल में

बंगाल में आंकड़ासंकलन का कार्य सन् १८३५ और १८३८ के बीच में श्री एडम्स ने किया था। उस समय प्रान्त की आबादी चार करोड़ थी। प्रत्येक ग्राम में एक पाठशाला थी और उनकी संख्या एक लाख के लगभग थी। इनमें से कुछ विद्यालय बंगला के, कुछ हिन्दी के तथा कुछ फारसी के थे। कुछ विद्यालयों में महाजनी हिसाब-किताब की विशेष शिक्षा दी जाती थी।

आगरा में

इस प्रान्त में आँकड़ासंकलन सन् १८४३ में हुआ था। उस समय प्रान्त के प्रत्येक कस्बे तथा परगने में अपने-अपने एक या दो विद्यालय थे और बहुतेरे गाँवों में भी शिक्षक पाये जाते थे। पाठशालाओं में फारसी, हिन्दी, कैथी तथा मुड़िया पढ़ाई जाती थी। अध्यापन का उद्देश्य कचहरी के कार्यों, जीविकोपार्जन तथा धार्मिक अध्ययन की योग्यता उत्पन्न करना होता था।

देशी शिक्षा की दशा तथा उसके कारण—शिक्षा के जिन संगठनों का ऊपर की पंक्तियों में वर्णन किया गया है वे सन्धिकाल में धीरे-धीरे नष्ट होते गये। इतिहासकारों ने उनके नाश के निम्नलिखित कारण बताये हैं:—

१—राजकीय सहायता का अभाव।

२—राजनीतिक अशान्ति।

३—नवीन युग में उनके द्वारा दी जानेवाली शिक्षा की अनुपयोगिता।

४—शिक्षासंगठनों के संचालक ग्राम-संगठनों का क्रमशः नाश।

५—जनता की क्रमशः बढ़ती हुई निर्धनता।

प्रारम्भिक योरोपीय प्रयत्न

पुर्तगालियों के—इन प्रयत्नों का आरम्भ पुर्तगाली ईसाई पादरियों ने किया था। यूरोप के लोगों में सबसे पहले पुर्तगाली ही यहाँ आये भी थे। इसके अतिरिक्त उनकी सरकार भी राज्यस्थापना तथा व्यापार के साथ-साथ कैथोलिकधर्म के प्रचार की नीति में भी विश्वास करती थी। पुर्तगाली पादरियों ने जो विद्यालय यहाँ खोले वे (१) धर्मप्रचार तथा (२) नवपरिवर्तित ईसाइयों की शिक्षा, इन दो उद्देश्यों से कार्य करते थे। ऐसे विद्यालय पर्याप्त संख्या में खोले गये थे परन्तु सत्रहवीं शती में पुर्तगालियों के राजनीतिक पतन के साथ-साथ वे सब धीरे-

धीरे नष्ट हो गये। पुर्तगाली विद्यालय दो प्रकार के थे—एक प्रारंभिक शिक्षा के लिये तथा दूसरे उच्चशिक्षा के लिये। प्रारंभिक विद्यालयों में धर्म, स्थानीय भाषा, पुर्तगाली भाषा, गणित तथा व्यवसाय का तथा उच्च विद्यालयों में लैटिन, तर्क, धर्म, पुर्तगाली भाषा तथा संगीत का अध्यापन होता था। इन विद्यालयों का प्रबन्ध पूर्णतया पादरियों के ही हाथ में था।

फ्रांसीसियों के—पुर्तगालियों की भाँति फ्रांसीसियों ने भी अपने उपनिवेशों में विद्यालय खोले। परन्तु इनमें स्थानीय भाषा को ही शिक्षा का माध्यम रखा गया और अध्यापन के लिये स्थानीय अध्यापक भी नियुक्त किये गये। अध्यापकों के लिये यह आवश्यक न था कि वे सब ईसाई ही हों। इन स्कूलों में ईसाईधर्म की शिक्षा अवश्य दी जाती थी परन्तु प्रधानता उसकी न थी। उच्चशिक्षा के विद्यालयों में अन्य विषयों के साथ फ्रेंचभाषा भी पढ़ाई जाती थी।

अंग्रेजों के—आरम्भ में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी धर्मप्रचार को अपने कर्त्तव्यों में स्थान दिया। श्री नरेन्द्रनाथ लॉ की सम्मति में इसका कारण भागत: राजनीतिक था। अंग्रेज समझते थे कि प्रोटेस्टेण्ट मत के प्रचार के द्वारा पुर्तगालियों के राजनीतिक प्रभाव को समाप्त किया जा सकता है। इसीलिये सन १६९८ में पार्लियामेण्ट ने कम्पनी को आदेश दिया था कि वह अपने अंग्रेज तथा भारतीय कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिये अपनी कोठियों तथा सैनिक छावनियों में पादरी रखें। अंग्रेज पादरियों ने भी इसी-भावना से भारत में शिक्षाप्रसार का कार्य आरम्भ किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उन्हें अपने कार्य में प्रत्येक प्रकार की सहायता दी। कम्पनी के प्रत्येक जहाज़ में पादरी आते रहे और यहाँ रहकर बड़े उत्साह से शिक्षा और धर्म का प्रचार करते रहे। सन् १६७० में उन्होंने मद्रास में अंग्रेजी शिक्षा का प्रथम स्कूल खोला था। वहाँ से आरम्भ करके उन्होंने सभी अंग्रेजी व्यापारकेन्द्रों में विद्यालय खोले।

कम्पनी की उदासीनता—कुछ समय उपरान्त कम्पनी को अनुभव होने लगा कि कम्पनी की धर्मप्रचार नीति उसके राजनीतिक हितों के विरुद्ध है। फलस्वरूप उसने धार्मिक तटस्थता की नीति अपनाना आरम्भ कर दिया। पादरियों के शिक्षाप्रयत्नों की ओर से उदासीनता प्रकट करते हुए भी कम्पनी ने शिक्षा का कोई प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया। उसे भय था कि पादरियों के ढँग की शिक्षानीति रखने से हिन्दू और मुसलमान दोनों रुष्ट हो सकते हैं।

कम्पनी के शिक्षा का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व स्वीकार न करने के कई अन्य कारण भी थे। एक तो यह कि उस समय तक यूरोप में राज्य ने शिक्षा का

उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं किया था। फलतः कम्पनी के डायरेक्टर यह नहीं मानते थे कि लोकशिक्षा उनका उत्तरदायित्व है। दूसरी बात यह भी थी कि उनका यह विश्वास था कि शिक्षाप्रसार के कारण ही अमेरिका इंग्लैण्ड के हाथ से निकल गया था, अतः भारतीयों के साथ उस भूल को दुहराना नहीं चाहिये। यह विचार कम्पनी के बहुसंख्यक डायरेक्टरों का था। उनमें अल्पसंख्यक ऐसे भी थे जो चाहते थे कि कम्पनी शिक्षा एवं धर्म के प्रसार में सक्रिय भाग ले। बिल्वरफोर्स आदि पार्लियामेण्ट के उदारदलीय सदस्य भी इसी पक्ष में थे और उन्होंने तो पार्लियामेण्ट में इस आशय का प्रस्ताव भी उपस्थित किया था। परन्तु कम्पनी अपनी नीति पर दृढ़ बनी रही।

कम्पनी-पादरी संघर्ष—कम्पनी की नीति से अनुत्साहित न होकर पादरियों ने अपनी शिक्षा का प्रयत्न निरन्तर चालू रखा। कम्पनी भी कहने भर के लिये पादरियों के विद्यालयों को थोड़ा-बहुत अनुदान देती रही। कम्पनी के बहुत-से कर्मचारी जो कि पादरियों के कार्यों से सहानुभूति रखते थे व्यक्तिगत रूप में दान तथा चंदे द्वारा पादरियों की आर्थिक सहायता करते रहते थे। परन्तु शीघ्र ही कम्पनी की धार्मिक तटस्थता की नीति के कारण उसके कर्मचारियों तथा पादरियों के बीच शिक्षा के प्रश्न पर संघर्ष चलने लगा। सिरामपुर (बंगाल) में काम करनेवाले केरे, मार्शमैन तथा वार्ड नामक पादरियों ने छापाखाना खोला और पुस्तके प्रकाशित करके वे हिन्दू और इस्लाम धर्मों पर आक्षेप करने लगे। साथ ही उन्होंने अपने ढँग की शिक्षा का प्रसार करने के लिये कई-सौ प्रारम्भिक विद्यालयों का जाल-सा बिछा दिया। परन्तु चूँकि उनकी कार्यनीति कम्पनी की नीति से मेल नहीं खाती थी अतः कम्पनी ने उन्हें किसी प्रकार की सहायता नहीं दी। कम्पनी की इस नीति से असन्तुष्ट होकर पादरियों तथा उनके मित्रों ने उसके विरुद्ध भारत तथा इंग्लैण्ड में एक आन्दोलन खड़ा कर दिया।

इंग्लैण्ड के आन्दोलनकारियों में चार्ल्स ग्राण्ट नामक व्यक्ति प्रमुख था। वह एक प्रभावशाली व्यक्ति था। सन् १८०२ में वह पार्लियामेण्ट का सदस्य तथा सन् १८०५ में कम्पनी का चेयरमैन भी हो गया था। भारतीयों में शिक्षाप्रसार का उसने बड़े बल के साथ प्रतिपादन किया। उस समय भारत का गवर्नर जनरल लार्ड मिन्टो था। उसने भी शिक्षाप्रयत्नों की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया। यह बात अवश्य ध्यान रखनी चाहिये कि पादरियों तथा उनके ग्राण्ट आदि मित्रों का शिक्षाप्रयत्नों से अभिप्राय ईसाईधर्म तथा अंग्रेजी भाषा एवं ज्ञान-विज्ञानों के

प्रसार से होता था जब कि लार्ड मिन्टो ने भारतीय साहित्य की रक्षा तथा भारतीय विद्वानों की सहायता की आवश्यकता प्रकट की थी।

सन् १८१३ का आज्ञापत्र—पादरियों तथा उनके मित्रों के आन्दोलन तथा लार्ड मिन्टो के दबाव का परिणाम यह निकला कि सन् १८१३ के नवीन आज्ञापत्र में पार्लियामेण्ट ने कम्पनी को निम्नलिखित आदेश दिया:—

"यह गवर्नर जनरल के लिये न्यायसंगत होगा कि बची हुई रकम में से वह कम से कम एक लाख रुपया अलग करा दे और उसे साहित्य के पुनरुद्धार तथा सुधार और भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन में तथा भारतीय ब्रिटिशक्षेत्रों में विज्ञानों के ज्ञान के प्रारम्भ तथा उन्नति में लगावे।

"......बृटिशभारतीय निवासियों के हितों और सुख की उन्नति इस देश का कर्त्तव्य है और उनमें उपयोगी ज्ञान तथा नैतिक सुधार के साधनों का उपयोग होना चाहिये। उपयुक्त उद्देश्यों तथा इन सौजन्यपूर्ण कार्यों को पूरा करने के लिये भारत जाने और रहने के इच्छुक व्यक्तियों को कानून द्वारा यथेष्ट सुविधायें मिलेंगी।"

इन आदेशों का परिणाम यह हुआ कि शिक्षाप्रसार कम्पनी का उत्तरदायित्व बन गया और पादरियों को भी इस देश में कार्य करने की स्वाधीनता मिल गई।

कम्पनी के प्रयत्न—पादरियों के प्रयत्नों के अतिरिक्त इस काल में कम्पनी ने भी अपनी राजकीय आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए सन् १७८१ में कलकत्ता मदरसा, सन् १७९१ में बनारस संस्कृत कालेज तथा सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। प्रथम दो का उद्देश्य अंग्रेज जजों के लिये मुसलमान एवं हिन्दू सलाहकार प्रस्तुत करना था और अन्तिम का उद्देश्य था अंग्रेज अफसरों को भारतीय भाषाएँ पढ़ाना।

उपसंहार—सम्पूर्ण अध्याय का सार यह है कि सन्धिकाल में देशी शिक्षा पर्याप्त थी परन्तु वह धीरे-धीरे विनाश की ओर अग्रसर होती गई और विदेशी कम्पनियाँ तथा ईसाई पादरी कम्पनी के नौकरों तथा उनके बच्चों की शिक्षा तथा ईसाईधर्म के प्रचार के लिये योरोपीय ढँग के विद्यालय खोलते रहे। ईसाई पादरियों तथा कम्पनी के बीच में जो थोड़ा-बहुत संघर्ष उत्पन्न हुआ उसका

निर्णय पादरियों के पक्ष में हुआ, शिक्षा राज्य के उत्तरदायित्वों में सम्मिलित हो गई और पादरियों को अपना कार्य करने की खुली छूट मिल गई।

सहायक पुस्तकें :—

१—रिपोर्ट ऑन वर्नाकुलर एजुकेशन इन बंगाल एण्ड बिहार —एडम्स

२—क्रिश्चियनिटी एण्ड गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया —ए. मेह्यू

३—हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन इण्डिया —नूरुल्ला एण्ड नायक

४—हिस्ट्री ऑफ इंगलिश एजुकेशन इन इण्डिया —सय्यद महमूद

५—भारतीय शिक्षा का इतिहास —प्यारेलाल रावत

अध्याय ७

बृटिशकालीन-शिक्षा

अध्याय संक्षेपः—

१. प्रस्तावना। २. सन् १८१३ से सन् १८५४ तक–प्राच्य-पाश्चात्यशिक्षा संघर्ष, लोकशिक्षा-उच्चशिक्षा संघर्ष, संसदीय शिक्षासमिति। ३. सन् १८५४ से सन् १९२० तक–वुड का घोषणापत्र, स्टैनले का आज्ञापत्र, हण्टर कमीशन, लार्ड कर्जन के प्रयत्न, गोखले का प्राथमिक शिक्षा विधेयक, नई शिक्षानीति, सैडलर कमीशन। ४. सन् १९२१ से सन् १९४७ तक–द्वैध शासन में शिक्षा, हर्टाग समिति, वुड-एबट कमीशन, बेसिक शिक्षा का जन्म, सार्जेण्ट योजना। ५. उपसंहार।

प्रस्तावना—सन् १८१३ के आज्ञापत्र के साथ शिक्षाक्षेत्र में बृटिश युग का आरम्भ हुआ और उसका अन्त हुआ १५ अगस्त सन् १९४७ को बृटिश राज्य की समाप्ति के साथ। एक-सौ चौंतीस वर्ष के इस लम्बे काल में शिक्षा ने बड़े-बड़े संघर्ष एवं परिवर्तन देखे। उन सबके कारण, स्वरूप एवं परिणामों को भली प्रकार समझने के लिये हम इस काल को निम्नलिखित तीन उपकालों में विभक्त कर रहे हैं:—

(१) सन् १८१३ से सन् १८५४ तक।
(२) सन् १८५४ से सन् १९२० तक।
(३) सन् १९२० से सन् १९४७ तक।

इस विभाजन का आधार प्रत्येक उपकाल के विस्तृत अध्ययन से स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगा।

सन् १८१३ से सन् १८५४ तक

प्राच्य-पाश्चात्यशिक्षा संघर्ष—सन् १८१३ के आज्ञापत्र में दिये गये शिक्षा-सम्बन्धी आदेश के कारण भारत के शिक्षाक्षेत्र में द्वितीय संघर्ष का आरम्भ हुआ। यह संघर्ष "प्राच्य-पाश्चात्यशिक्षा संघर्ष" नाम से सन् १८५४ तक चलता रहा। उक्त आदेश में भारतीय शिक्षा के लिये एक लाख रुपये के अनुदान की व्यवस्था तो थी परन्तु उसमें शिक्षा के उद्देश्य, स्वरूप, माध्यम एवं साधनों का स्पष्टीकरण

नहीं किया गया था। फलतः भारत में शिक्षा-विषयक तीन दल उत्पन्न हो गये:—

(१) प्राच्यशिक्षावादी—इस दल के व्यक्ति प्राचीन साहित्य, सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचार के पक्ष में थे और पाश्चात्य दर्शनों तथा विज्ञानों की भी संस्कृत एवं अरबी भाषाओं के माध्यम से ही शिक्षा देने का आग्रह करते थे। कम्पनी के पुराने अधिकारी इसी दल में थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रारम्भिक सरकारी नीति प्राच्यशिक्षा को प्रोत्साहित करने की थी। इसी नीति के अनुसार सन् १७८१ में तत्कालीन गवर्नरजनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ता में "कलकत्ता मदरसा" की स्थापना की थी। इस मदरसे में अरबी एवं फारसी के माध्यम से इन्हीं भाषाओं के साहित्य का अध्ययनाध्यापन चलता था। बनारस के रेजीडेण्ट जोनथन डंकन ने भी इसी नीति को आधार मानकर सन् १७९१ में बनारस में "बनारस संस्कृत कालेज" स्थापित किया था। इस कालेज में भारतीय परम्पराओं के अनुसार संस्कृत भाषा के माध्यम से इस भाषा एवं साहित्य की शिक्षा दी जाती थी। जब सन् १८१३ के आज्ञापत्र के अनुसार एक लाख रुपये के व्यय का प्रश्न उपस्थित हुआ तो इस दल के व्यक्ति प्राच्यशिक्षाप्रसार पर ही उसे व्यय करने का आग्रह करने लगे। कम्पनी के प्राचीन अधिकारी इस नीति पर इसलिये चलना चाहते थे क्योंकि वे सोचते थे कि इससे उनकी हिन्दू एवं मुस्लिम प्रजा सन्तुष्ट रहेगी। इसीलिये उन्होंने यह भी निश्चय किया था कि हिन्दू एवं मुस्लिम विद्वान् सलाहकारों की सहायता से ही न्यायालयों में न्याय किया जाया करे। सम्भव है कि उनमें से कुछ कूटनीतिपरायण अधिकारी यह भी सोचते हों कि अरबी, फारसी तथा संस्कृत साहित्य पर आधारित शिक्षा भारतीयों को धर्मों तथा जातियों में विभक्त रखेगी और उनका इस प्रकार असंगठित रहना बृटिश राज्य के हित में होगा।

(२) पाश्चात्यशिक्षावादी—इस दल के लोग भारत में अंग्रेजी के माध्यम से यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते थे। इस दल में ग्राण्ट के अनुयायी कम्पनी के नवयुवक अधिकारी, ईसाई पादरी तथा राजा राम-मोहन राय जैसे प्रभावशाली भारतीय सम्मिलित थे। इन लोगों की राय में प्राच्य-शिक्षा पर रुपया खर्च करना उसे बरबाद करना था।

(३) लोकभाषावादी—इस दल के लोग देश में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का प्रसार अवश्य चाहते थे परन्तु वे माध्यम के रूप में प्रान्तीय भाषाओं का ही प्रयोग ठीक समझते थे। इस दल में बम्बई के गवर्नर स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन तथा मद्रास के गवर्नर मुनरो आदि थे। किन्तु यह दल अधिक प्रभावशाली न था।

पाश्चात्यशिक्षावादी तथा लोकभाषावादी पाश्चात्य ज्ञान एवं विज्ञान के प्रसार के क्यों समर्थक थे इसकी जानकारी निम्नलिखित उदाहरणों से हो सकती है :—

"इस शिक्षा द्वारा एक ऐसे समाज की सृष्टि होगी जो हमारे तथा हमारी करोड़ों प्रजा के बीच विचारवाहक बनेंगे। इससे एक ऐसे वर्ग का निर्माण होगा जो रंग और रक्त में भारतीय परन्तु विचारों, रुचियों, नैतिक आदर्शों तथा बुद्धि में अंग्रेज होगा।"
—मैकाले

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षानीति चलती रही तो तीस वर्ष बाद बंगाल के सम्मानित वर्गों में एक भी मूर्तिपूजक न रह जायेगा। मैं इस संभावना से प्रसन्न हूँ।"
—मैकाले

"हिन्दू और मुसलमान दोनों ही हमें अधिकारनाशक विदेशी समझते हैं जिन्होंने उनका देश छीनकर उन्हें मान तथा धन के पदों से वंचित किया है। अरबी तथा संस्कृत पुस्तकों में ऐसी ही विचारधारा है। सौभाग्यवश ये विचार कुछ विद्वानों तथा पुस्तकों तक सीमित हैं····पर उस राष्ट्रीय शिक्षा को क्या किया जाय जो उनका उद्धार कर उन्हें जनता तक पहुँचा देगी। ····हमारे प्रबलतम शत्रु भी न चाहेंगे कि हम ऐसी शिक्षा का प्रचार करें जो हमारे विरुद्ध मानव-प्रकृति की प्रबलतम भावनाओं को भड़काये। यूरोपीय शिक्षा का उलटा ही प्रभाव देशी दिमागों पर पड़ता है। ····वे अपनी संस्थाओं को अंग्रेजी आदर्शों के अनुसार सुधार कर वैधानिक स्वराज्य का प्रयास करेंगे न कि देशी आदर्शों के अनुसार क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता चाहेंगे। ····पिछली विधि के समर्थक षड्यन्त्र किया करते हैं पर नई विधि में उद्देश्य की सफलता क्रमिक होगी और इसमें युग लग जायेंगे।"
—ट्रेवेलियन

इन तीनों दलों की आन्तरिक भावना कुछ भी रही हो परन्तु इनमें संघर्ष खूब चला। तीनों दल पार्लियामेण्ट के आदेश की अपने पक्ष में व्याख्या करते रहे। अधिकारियों की ओर से किसी निर्णायक व्याख्या के अभाव में विभिन्न प्रान्तों ने अपनी सुविधानुसार उस आदेश की व्याख्या करली और तदनुसार अपनी शिक्षा-नीति बनाली। प्रान्तीय शिक्षानीतियों की विभिन्नता तथा शिक्षाप्रेमियों के पारस्परिक संघर्ष का यह परिणाम हुआ कि सन् १८१३ के प्रायः दश वर्ष बाद तक शिक्षा की प्रगति नगण्य रही।

सन् १८२३ में तत्कालीन गवर्नरजनरल ने शिक्षासम्बन्धी सरकारी योजनाओं के बनाने तथा चालू करने और एक लाख रुपये के अनुदान का समुचित रूप में उपयोग करने के लिये एक "लोकशिक्षासमिति" की स्थापना की। इस समिति में दस

सदस्य थे और उसके मन्त्री बनाये गये संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् श्री विल्सन। इस समिति में प्राच्यशिक्षावादियों का बहुमत था। फलतः संस्कृत, अरबी तथा फ़ारसी की शिक्षा के लिये छात्रवृत्तियाँ दी जाने लगीं। इन भाषाओं की पुस्तकों के लिये एक प्रेस खोला गया और कलकत्ता, आगरा, देहली, तथा मुर्शिदाबाद में कालिजों की स्थापना की गई। समिति ने अनेक पाश्चात्य पुस्तकों का इन भाषाओं में अनुवाद भी कराया। पाश्चात्यशिक्षावादियों को यह सब पसन्द नहीं था। वे समिति की नीतियों तथा कार्यों का निरन्तर विरोध करते रहे।

धीरे-धीरे प्राच्य-पाश्चात्यशिक्षा विवाद ने उग्ररूप धारण कर लिया। समिति के सदस्यों में ही परस्पर गहरा मतभेद उत्पन्न हो गया फलतः स्वयं उन्होंने नीतिनिर्धारण के लिये गवर्नर जनरल से प्रार्थना की। इस समय तक लार्ड मैकाले गवर्नर जनरल की काउंसिल का कानूनी सलाहकार बनकर आ चुका था। गवर्नर जनरल ने उसे लोकशिक्षासमिति का प्रधान बना दिया और उससे एक लाख रुपये के अनुदान को खर्च करने के विषय में कानूनी सलाह पूँछी। २ फर्वरी सन् १८३५ को मैकाले ने अपना विवरणपत्र गवर्नर जनरल की काउंसिल के समक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रसिद्ध युग-प्रवर्तक विवरणपत्र में उसने अंग्रेजी माध्यम द्वारा पाश्चात्य साहित्य एवं विज्ञानों के शिक्षण का समर्थन एवं प्राच्यसाहित्य के शिक्षण का खण्डन किया। उसने घोषणा की कि "एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की एक आलमारी भारत तथा अरब के सम्पूर्ण साहित्य से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।"

मार्च सन् १८३५ में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने लार्ड मैकाले की राय मानकर अपनी शिक्षानीति घोषित कर दी। वह यह थी कि "प्राच्यशिक्षा के लिये जो कुछ किया जा चुका है वह जैसे का तैसा बना रहेगा परन्तु आगे से सम्पूर्ण अनुदान अंग्रेजी माध्यम द्वारा दी जानेवाली अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च किया जायेगा।" इस घोषणा के साथ कम्पनी की शिक्षानीति की एक दिशा निश्चित हो गई। यह नहीं समझना चाहिये कि लार्ड मैकाले ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा को आरम्भ कराया। वस्तुतः अंग्रेजी शिक्षा के अनुकूल वातावरण तो यहाँ पहले से ही बन चुका था। मैकाले को इस बात का श्रेय अवश्य है कि उसने कम्पनी की ढुलमुल शिक्षानीति में एक स्थिरता लादी। यह दूसरी बात है कि उसकी नीति भारतीयों के हित में न होकर अंग्रेजी राज्य के हित में थी।

कम्पनी सरकार की शिक्षानीति निश्चित हो जाने के बाद भारत में अंग्रेजी शिक्षा की गति तीव्र हो गई। पादरियों ने भी अनेक स्थानों पर नये-नये स्कूल खोले। सन् १८३५ में लार्ड विलियम बेंटिक चला गया और उसके स्थान पर लार्ड आक-

लैण्ड भारत का गवर्नर जनरल हुआ। उसके समय में प्राच्यशिक्षावादियों ने पुनः एक बार जोर लगाया। परन्तु उसने अपनी शिक्षानीति में कोई परिवर्तन न किया। हाँ, उसने अरबी तथा संस्कृत कालेजों को कुछ अतिरिक्त आर्थिक सहायता दे दी जिससे कि प्राच्यशिक्षावादी सन्तुष्ट हो गये। इस सब के लिये उसने कम्पनी के डायरेक्टरों से ३१,००० रु० वार्षिक की अतिरिक्त सहायता और प्राप्त करली।

इस प्रकार भारतीय शिक्षा के इतिहास में प्राच्य एवं पाश्चात्य शिक्षासंघर्ष अन्तिम रूप में समाप्त हुआ।

लोकशिक्षा-उच्चशिक्षा संघर्ष—प्राच्य एवं पाश्चात्य शिक्षा संघर्ष के साथ-साथ इसी समय में लोकशिक्षा एवं उच्चशिक्षा का संघर्ष भी चला। ऊपर की पंक्तियों में यह कहा जा चुका है कि सन् १८१३ के आज्ञापत्र के अनुसार कम्पनी को भारतीय शिक्षा पर एक लाख रुपया व्यय करने का आदेश मिला था परन्तु अधिकृत व्याख्या के अभाव में प्रत्येक प्रान्त में उसकी अपनी-अपनी व्याख्या करली गई थी। प्रत्येक प्रान्त ने अपनी-अपनी व्याख्या के अनुसार कुछ कार्य भी किया। जिन्होंने कार्य नहीं कर पाया उनमें कार्य की योजना प्रस्तुत की गई। इन कार्यों तथा कार्ययोजनाओं से ही तृतीय संघर्ष को जन्म मिला अतः पहले उनका अध्ययन कर लेना चाहिये।

मद्रास प्रान्त में

सरकारी शिक्षा कार्य का आरम्भ इस प्रान्त में यहाँ के गवर्नर मुनरो ने किया। पहले उसने अपने प्रान्त की शिक्षा की दशा की पड़ताल कराई। पड़ताल का जो परिणाम निकला वह संक्षेप में पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। पड़ताल के बाद उसने यह योजना बनाई कि प्रत्येक जिले में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के लिये अलग-अलग एक-एक स्कूल तथा प्रत्येक तहसील में हिन्दुओं के लिये एक-एक स्कूल खोला जाये और साथ ही शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये एक प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किया जाये। उसनें सन् १८२२ में प्रान्तीय स्तर पर "लोकशिक्षासमिति" बनाकर अपनी इस योजना को कार्यान्वित कराना भी आरम्भ कर दिया। इसके लिये उसने कम्पनी से ५०,०००) वार्षिक सहायता भी प्राप्त करली उसकी इस सम्पूर्ण योजना का उद्देश्य अपने प्रान्त में प्रारम्भिक शिक्षा का ही सुधार था। इसमें उच्चशिक्षा के लिये कोई व्यवस्था नहीं थी।

बंगाल प्रान्त में

इस प्रान्त में सरकारी स्तर पर प्रारम्भिक शिक्षा के लिये कोई प्रयत्न नहीं हुआ। जो कुछ हुआ वह यह था कि देशी शिक्षा की जाँच-पड़ताल के लिये श्री एडम की नियुक्ति की गई। उसने बड़े परिश्रम से जाँच-पड़ताल करके तीन प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। उनमें उसने देशी विद्यालयों के सुधार के लिये निम्न-लिखित योजना प्रस्तुत की:—

१—प्रत्येक जिले में एक-एक जिलाशिक्षाधिकारी नियुक्त किया जाये।

२—शिक्षकों तथा छात्रों के लिये देशी भाषा में बढ़िया पुस्तकें लिखवाई जायें।

३—शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये नार्मल स्कूल खोले जायें जिनमें शिक्षक उन्हीं पुस्तकों को पढ़ें तथा छात्रों को भी उनके लिये निश्चित पुस्तकें पढ़ायें।

४—इस प्रकार प्रशिक्षित अध्यापकों की परीक्षा लेकर ग्रामीण विद्यालयों में उनकी नियुक्ति कर दी जाये।

५—अध्यापकों के वेतन के लिये सरकार विद्यालयों को भूमि प्रदान करे जिससे उन्हें छात्रों द्वारा दिये हुए शुल्क पर ही निर्भर न रहना पड़े।

६—कुछ चुने हुए जिलों में इस योजना को चालू किया जाये और फिर उसको अन्य जिलों में फैला दिया जाये।

बम्बई प्रान्त में

इन दिनों बम्बई का गवर्नर एल्फिन्स्टन था। शिक्षा के विषय में वह उदार विचारों का व्यक्ति था। वह उच्चशिक्षा की व्यवस्था के साथ साथ देशी शिक्षालयों के भी सुधार का पक्षपाती था। उसने सन् १८२३ में अपनी सरकार तथा कम्पनी के सम्मुख लोकशिक्षा के लिये निम्नलिखित योजना प्रस्तुत की :—

१—देशी शिक्षालयों की संख्या में वृद्धि की जाये।

२—उनके शिक्षण में सुधार किया जाये।

३—इनके लिये अच्छी पुस्तकें लिखवाने की व्यवस्था की जाये।

४—इन विद्यालयों के संचालन की व्यवस्था सरकार अपने हाथ में ले।

५—इनसे निकले हुए छात्रों को सरकारी नौकरियाँ दी जायें।

एल्फिन्स्टन की काउंसिल के एक सदस्य वार्डन ने ही उसकी योजना का भयंकर विरोध किया। उसने उच्चवर्ग की शिक्षा में ही अपना विश्वास प्रकट करते हुए अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षाप्रसार पर बल दिया। कम्पनी ने भी उसकी

बात पूरी तरह से नहीं मानी। इतना उसने अवश्यकिया कि "देशी शिक्षा समाज" नामक संस्था को उसने देशी शिक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सोंप दिया और उसे ही अध्यापकों के प्रशिक्षण एवं विद्यालयों की स्थापना के लिये ७,२००) वार्षिक की सहायता देना स्वीकार कर लिया। इस संस्था ने अध्यापकों को प्रशिक्षित करके गुजरात एवं कोंकण में नवीन विद्यालय खोले।

ऊपर दिये हुए वर्णन से यह तथ्य बिलकुल स्पष्ट है कि जिस समय देश में प्राच्य-पाश्चात्यशिक्षा संघर्ष चल रहा था लगभग उसी समय यहाँ पर लोकशिक्षा एवं उच्चशिक्षा का संघर्ष भी चल रहा था। लोकशिक्षा के पक्षपाती मुनरो, एलफिन्स्टन तथा एडम आदि उच्चशिक्षा के विरोधी नहीं थे परन्तु वे देशी शिक्षा के सुधार एवं प्रसार द्वारा लोकशिक्षा के भी बड़े प्रबल समर्थक थे। उन्होंने शक्ति-भर अपने विश्वासों को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयास भी किया। परन्तु उन्हें पग-पग पर शिक्षा छनने के सिद्धान्त के समर्थकों के विरोध का सामना करना पड़ा। कम्पनी की इस विषय में कोई स्पष्ट नीति न थी फिर भी धीरे-धीरे उसका विश्वास शिक्षा छनने तथा अंग्रेजी के प्रसार की ओर बढ़ता जा रहा था। फलतः इन लोगों की माँग को न तो वह पूरी तरह मान सकती थी और न बिलकुल टाल हीं सकती थी।

संघर्ष की समाप्ति

शिक्षा छनने का सिद्धान्त—अपनी शिक्षानीति के द्वारा प्राच्यशिक्षावादी तथा पाश्चात्य शिक्षा समर्थक दोनों को सन्तुष्ट करने के साथ-साथ लार्ड ऑकलैण्ड ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी किया कि उसने "शिक्षा छनने के सिद्धान्त" को सरकारी नीति के रूप में घोषित कर दिया। इस सिद्धान्त को अंग्रेजी में Filtration Theory of Education कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षा समाज के उच्च-वर्ग को दी जाये और उनसे छन-छनकर उसका प्रभाव समाज के निम्नवर्ग तक पहुँचे। यह सिद्धान्त कुछ नया नहीं था। सन् १८३५ में लार्ड मैकाले ने भी इसी का प्रतिपादन किया था। उसने लिखा था कि "यह उन्हीं लोगों का कार्य होगा कि वे प्रान्तीय भाषाओं को परिष्कृत एवं सम्पन्न करके उन्हें जनता तक ज्ञान पहुँचाने के योग्य बनावें।"

यह सिद्धान्त क्यों ?

यहाँ पर यह प्रश्न स्वभावतः मन में उठता है कि लार्ड ऑकलैण्ड ने "शिक्षा छनने के सिद्धान्त" को सरकारी नीति क्यों बनाया। अँग्रेजी राज्य की आवश्य-कताओं को देखते हुए वस्तुतः यही निर्णय उचित था। उस समय अंग्रेजी राज्य

अपनी जड़ें जमाने में लगा हुआ था। उस समय उसे ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता थी जो राज्य-कर्मचारी बनकर उसकी जड़ों को गहराई तक पहुँचा सकते इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये उच्चशिक्षा ही उपयोगी थी लोकशिक्षा नहीं। दूसरी बात यह भी थी कि सरकार के पास इतना धन नहीं था कि वह लोकशिक्षा का उत्तरदायित्व सँभाल सकती। कम्पनी शिक्षा के लिये जितना धन व्यय करना चाहती थी वह लोकशिक्षा तो क्या उच्चवर्ग की शिक्षा तक के लिये अपर्याप्त था। इसीलिये लार्ड ऑकलैण्ड ने "शिक्षा छनने का सिद्धान्त" स्वीकार किया और लोकशिक्षा को ओर से मुँह मोड़ लिया। इसी भाव को मनमें रखकर उसने लिखा था कि "धन की कमी के कारण सरकार को शिक्षा समाज के उच्चवर्ग को देनी चाहिये जिसके पास शिक्षा के लिये समय है और जिनसे छन-छनकर सभ्यता जनता में पहुँचेगी।"

परिणाम

यह सिद्धान्त उचित था अथवा अनुचित यह दूसरी बात है परन्तु लार्ड ऑकलैण्ड की इस घोषणा से भारतीय शिक्षा की एक और अनिश्चितता दूर हो गई और सरकार का सक्रिय समर्थन पाकर उच्चशिक्षा तेजी से प्रगति करने लगी। सन् १८४४ में लार्ड हार्डिंज ने यह घोषणा की कि अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षाप्राप्त भारतीयों को सरकारी नौकरियों में प्राथमिकता दी जायेगी। इस घोषणा से सरकारी नौकरी प्राप्त करना अंग्रेजी शिक्षा का मुख्य ध्येय बन गया। इसका प्रभाव यह हुआ कि उच्चशिक्षा की प्रगति और अधिक तीव्र हो गई। भारतीयों ने इस क्षेत्र में भी ऐसी प्रतिभा का परिचय दिया कि उसकी सभी क्षेत्रों में भूरि-भूरि प्रशंसा हुई।

संसदीय शिक्षासमिति—सन् १८५३ तक भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में अनेक संघर्ष एवं विवाद उत्पन्न हुये। इस समय तक यद्यपि अंग्रेजी शिक्षा तथा शिक्षा छनने के सिद्धान्त की विजय हो चुकी थी परन्तु फिर भी शिक्षा का कोई सुसंगठित रूप नहीं बन पाया था। प्रत्येक बीस वर्ष बाद पार्लियामेण्ट कम्पनी का आज्ञापत्र बदला करती थी। सन् १८५३ मे जब आज्ञापत्र बदलने का समय आया तो पार्लियामेण्ट ने शिक्षा-क्षेत्र में उठे संघर्षों तथा अनिश्चितताओं का विचार करके भारतीय शिक्षा की जाँच करके उचित सुझाव देने के लियं एक समिति नियुक्त कर दी।

सन् १८५४ से सन् १६२० तक

वुड का घोषणापत्र—उस समिति के सुझावों के आधार पर कम्पनी के

डायरेक्टरों ने सन् १८५४ में अपनी भारतीय शिक्षानीति घोषित की। उस समय कम्पनी के बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के प्रधान चार्ल्स वुड थे। उन्हीं के नाम पर इस नवीन नीति की घोषणा करनेवाले घोषणापत्र को "वुड का शिक्षा-घोषणापत्र" कहा जाता है। इस घोषणा के साथ बृटिशकालीन-शिक्षा में एक नये उप-काल का श्रीगणेश हुआ।

महत्त्व एवं नीति

भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह घोषणापत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसने सम्पूर्ण भारत के लिये शिक्षा का एक ढाँचा प्रस्तुत किया। वह ढाँचा न्यूनाधिक परिवर्तनों के साथ अब तक चला आ रहा है। इस घोषणापत्र की आधारभूत शिक्षानीति निम्नलिखित थी :—

१—शिक्षा द्वारा भारतीयों की बौद्धिक एवं चारित्रिक उन्नति करना।

२—भारतीयों को अपने देश को उन्नत एवं साधन-सम्पन्न बनाने में सहायता करना ताकि अंग्रेजी कारखानों के लिये बहुत-सी आवश्यक वस्तुयें अधिक निश्चित रूप में प्राप्त हो सकें और भारत में अंग्रेजी माल की खपत हो सके।

सिफारिशें

ऊपर कहे हुए उद्देश्यों को पूरा करने के लिये इस घोषणापत्र में निम्नलिखित सिफारिशें की गई थीं :—

१—मुख्य रूप से योरोपीय कला, विज्ञान एवं साहित्य का अध्ययन किया जाये।

२—चूँकि देशी भाषाओं में पुस्तकों का अभाव है अतः अध्यापन का माध्यम अंग्रेजी भाषा रहे। परन्तु साथ में देशी भाषायें भी पढ़ाई जायें और उनका विकास भी किया जाये ताकि अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ देशी भाषायें भी यूरोपीय ज्ञान के प्रसार में सहायक हों।

३—प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षाविभाग स्थापित किया जाये और उसे एक-एक शिक्षा-संचालक के अधीन रखा जाये। सहायक निरीक्षकों की सहायता से वह अपने प्रान्त में शिक्षा की व्यवस्था एवं उसका संचालन करे और प्रतिवर्ष सरकार को शिक्षाविषयक विवरण दे।

४—कलकत्ता, बम्बई और यदि आवश्यक हो तो मद्रास में भी, विश्वविद्यालय खोले जायें। ये विश्वविद्यालय लन्दन विश्वविद्यालय के अनुकरण पर बनाये जायें। प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक-एक सिनेट हो जिसके सदस्य चांसलर (गवर्नर) वाइस-चांसलर तथा फेलो हों। इनको सरकार द्वारा मनोनीत किया जाये। विश्वविद्यालय केवल परीक्षायें ले और उपाधियाँ दें। कुछ विषयों में

वे प्रोफेसर भी नियुक्त करें।

५—शिक्षा का ढाँचा इस प्रकार का हो कि आधार में प्राथमिक शिक्षालय हों और तदन्तर क्रमशः मिडिल स्कूल, हाई स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय हों।

६—जनसाधारण की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाये। शिक्षा छनने के सिद्धान्त का परित्याग करके जनसाधारण को व्यावहारिक तथा लाभदायक शिक्षा दी जाये। इसके लिये अधिक संख्या में प्राथमिक, मिडिल तथा हाई स्कूल खोले जायें।

७—निर्धन परन्तु तीव्र-बुद्धि छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी जायें जिससे कि वे उच्चशिक्षा प्राप्त कर सकें। ये छात्रवृत्तियाँ शिक्षा के सभी स्तरों पर दी जायें।

८—सरकार अकेले भारतीय शिक्षा का पूरा भार उठाने में असमर्थ है अतः शिक्षित तथा धनी वर्गों द्वारा खोले गये गैर-सरकारी शिक्षणालयों को सरकार उदारतापूर्वक सहायता (Grant-in-aid) दे। अच्छी तथा धर्मनिरपेक्ष लौकिक शिक्षा देनेवाली सभी संस्थाओं को कुछ शर्तों पर सहायता दी जाये। पुस्तकालयों, विद्यालयभवनों तथा विज्ञानशालाओं के निर्माण तथा छात्रवृत्तियों की व्यवस्था के लिये अतिरिक्त सहायता दी जाये।

९—शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये नॉर्मल स्कूल तथा प्रशिक्षण-विद्यालय खोले जायें और प्रशिक्षणकाल में भी शिक्षकों को छात्रवृत्तियाँ दी जायें।

१०—औद्योगिक शिक्षा (कानून, चिकित्सा, इंजीनियरिंग आदि की शिक्षा) की समुचित व्यवस्था की जाये।

११—स्त्रीशिक्षा को प्रोत्साहित किया जाये और उसके लिये अधिक उदारता-पूर्वक सहायता दी जाये।

मूल्यांकन

गुण—ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि यह घोषणापत्र आधुनिक शिक्षाभवन की आधारशिला है। इसीलिये प्रसिद्ध लेखक जेम्स ने इसे "भारत में अंग्रेजी शिक्षा का 'मैग्नाकार्टा' कहा है। इस घोषणापत्र द्वारा कम्पनी ने अधिकृत रूप में स्वीकार किया कि जनता को शिक्षा प्रदान करना सरकार के मुख्य कर्त्तव्यों में से एक है। इसके द्वारा उसने शिक्षा की एक विस्तृत योजना देश के सम्मुख प्रस्तुत की और शिक्षा के प्रत्येक अंग पर अपने विचार प्रकट किये। इसमें देशी भाषाओं तथा प्राच्यशिक्षा के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया और उनकी उन्नति के लिये भी प्रस्ताव रखे गये। इसमें शिक्षा छनने के सिद्धान्त को अमान्य ठहराकर देशी शिक्षा तथा जनशिक्षा को प्रोत्साहित करने का सिद्धान्त मान लिया गया। साथ ही सहायता-अनुदान-प्रथा (Grant-in-aid System) के

द्वारा गैर-सरकारी प्रयत्नों को प्रोत्साहित करके शिक्षा के प्रबन्ध को धीरे-धीरे जनता के हाथ में सोंपने की नीति अपनाई गई। इस घोषणापत्र ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह की कि शिक्षाविभाग के संगठन द्वारा शिक्षा के विविध स्तरों तथा अंगों को सक्षम बनाये रखने की भी व्यवस्था की। श्री जेम्स ने इस घोषणापत्र के विषय में लिखा है कि "जो कुछ इसके पूर्व हुआ वह इसकी ओर संकेत करता है और जो कुछ इसके वाद हुआ वह इससे निकला है।" भारतीय शिक्षा के विषय में पिछले अध्यायों में जो कुछ लिखा गया है और आगे जो कुछ लिखा जायेगा उस सबके आधार पर यह निःशंक होकर कहा जा सकता है कि श्री जेम्स के कथन में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है।

दोष—परन्तु इस घोषणापत्र में कतिपय दोष भी थे। शिक्षा-विशेषज्ञों ने उनका परिगणन निम्नलिखित रूप में किया है:—

१—शिक्षा पूर्णतः राज्य के अधीन हो गई। उस पर पूर्णतः नौकरशाही का आधिपत्य स्थापित हो गया। प्रणाली की दृष्टि से भी वह इतनी केन्द्रित कर दी गई कि उसकी स्वतंत्रता एवं विविधता विलकुल समाप्त हो गई।

२—शिक्षा का उद्देश्य पुस्तकें पढ़कर परीक्षा पास करना तथा सरकारी नौकरी ढूँढना हो गया।

३—भारत की प्राचीन शिक्षापद्धतियों पर ध्यान न देकर विश्वविद्यालयों का ढाँचा विदेशी रखा गया।

४—शिक्षा को धर्म से सर्वथा अलग कर दिया गया।

५—सरकारी पदों का लालच देकर विदेशी शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया।

परिणाम

अपने समस्त गुण-दोषों के साथ इस घोषणापत्र ने भारतीय शिक्षा को संगठन एवं एकरूपता प्रदान की इससे इनकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसकी सभी सिफारिशों को कार्यान्वित नहीं किया गया। सरकार ने जनसाधारण की शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया और भारतीय भाषाओं की उपेक्षा की। स्कूल स्तर पर मातृभाषाओं को माध्यम न बनाकर अंग्रेजी को ही माध्यम रखा गया। विश्वविद्यालय में "प्रोफेसर" रखने पर ध्यान नहीं दिया गया और कालेजों का सामयिक निरीक्षण भी टाल दिया गया। औद्योगिक शिक्षा पर भी बहुत कम ध्यान दिया गया। शिक्षा को जनता के हाथों में सोंपने की नीति भी नहीं अपनाई गई।

फिर भी प्रत्येक प्रान्त में शिक्षाविभाग खुल गये और शिक्षासंचालकों तथा नरीक्षकों की नियुक्ति हो गई। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में विश्वविद्यालय

भी खुले। सहायता-अनुदान-प्रथा लागू कर दी गई। छात्रवृत्तियाँ दी जाने लगीं और शिक्षा पर सरकारी व्यय बढ़ा दिया गया। गैरसरकारी प्रयत्नों को, जिनमें ईसाई मिशनरी तथा भारतीय दोनों के प्रयत्न सम्मिलित थे, बहुत प्रोत्साहन दिया गया।

इस घोषणापत्र के आधार पर भारतीय शिक्षा का आरंभ हुआ ही था और उसकी सभी सिफारिशें कार्यान्वित हो भी नहीं पाई थीं कि सन् १८५७ ई० में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम छिड़ गया। इसके कारण भारतीय शिक्षा की प्रगति में बड़ी बाधा पड़ी। इस युद्ध की समाप्ति के उपरान्त ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारतीय शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली और महारानी विक्टोरिया भारत-सम्राज्ञी बनी। सन् १८५८ में सरकार ने अपनी धार्मिक तटस्थता की नीति की पुनः घोषणा की। फलतः ईसाई मिशनरियों के शिक्षा-प्रयत्नों के प्रति सरकारी रुख कड़ा हो गया और सरकारी स्कूल अधिक संख्या में खुलने लगे। इस समय भारतीय गैरसरकारी प्रयासों में भी बड़ी उन्नति हुई।

स्टैनले का आज्ञापत्र—भारत का शासन-प्रबंध अपने हाथों में लेने के उपरान्त ब्रिटिश संसद् ने भारत मन्त्री के एक नवीन पद का निर्माण किया और सबसे पहले लार्ड स्टैनले की इस पद पर नियुक्ति हुई। उसने सन् १८५९ ई० में भारतीय शिक्षा के विषय में अपनी नीति घोषित की। उस नीति की घोषणा करनेवाला घोषणा-पत्र "स्टैनले का आज्ञापत्र" के नाम से प्रसिद्ध है। अपने घोषणापत्र में उसने साधारणतया "वुड घोषणापत्र" की नीति का ही समर्थन किया परन्तु प्राथमिक शिक्षा के विषय में उसने निम्नलिखित परिवर्तन कर दिये—

१—भारतीय सरकार प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले।

२—सहायता-अनुदान-प्रथा को केवल माध्यमिक एवं उच्चशिक्षा तक सीमित रखा जाये।
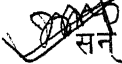
३—आवश्यकता पड़ने पर सरकार प्राथमिक शिक्षा के लिये स्थानीय कर लगाये।

४—शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाये।

इसी समय शिक्षा के उत्तरदायित्व को आंशिक रूप में प्रान्तीय सरकारों को हस्तान्तरित कर दिया गया। आगे चलकर सन् १८७१ में लार्ड मेयो ने शिक्षा-विभागों को भी प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिया और उन्हें शिक्षा पर खर्च करने की अनुमति दे दी। सन् १८७७ ई० में लार्ड लिटन ने प्रान्तीय सरकारों

को शिक्षा के विषय में और अधिक अधिकार दे दिये। प्रान्तीय सरकारों को शिक्षा के विषय में इतने अधिकार देते हुए भी केन्द्रीय सरकार ने सम्पूर्ण देश के लिये शिक्षानीति निर्धारित करने का अधिकार अपने ही हाथ में रखा।

इसी बीच में सरकार की धार्मिक तटस्थता की नीति से ईसाई पादरी फिर रुष्ट हो गये। शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी अधिकार बढ़ जाने के कारण पादरियों के शिक्षा-प्रसार को बड़ा धक्का लगा। परिणामस्वरूप उन्होंने धर्मविहीन शिक्षा के विरुद्ध आन्दोलन आरंभ कर दिया।

सन् १८८२ का प्रथम भारतीय शिक्षा-कमीशन

हण्टर कमीशन—इस आन्दोलन का प्रभाव इंग्लैण्ड तक पहुँचा। वहाँ पर भी "जनरल काउंसिल ऑफ एजुकेशन इन इण्डिया" नामक संगठन के तत्त्वावधान में भारतीय शिक्षानीति के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस आन्दोलन के कारण तथा सन् १८५४ की शिक्षानीति की प्रगति देखने के लिये ३ फर्वरी सन् १८८२ को तत्कालीन वायसराय लार्ड रिपन ने एक भारतीय शिक्षा-कमीशन की नियुक्ति की। भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह प्रथम भारतीय कमीशन था अतः इसे "सन् १८८२ का प्रथम भारतीय शिक्षा-कमीशन" कहा जाता है। इसी कमीशन को "हण्टर कमीशन" भी कहते है क्योंकि इसकी नियक्ति वायसराय की कार्यकारिणी समिति के सदस्य सर विलियम हण्टर की अध्यक्षता में हुई थी।

कमीशन का कार्यक्षेत्र

प्राथमिक शिक्षा की जाँच इस कमीशन का मुख्य कार्यक्षेत्र था। वायसराय की ओर से इसे मुख्यतः निम्नलिखित बातों की जाँच का आदेश दिया गया :—

१—क्या सरकार ने माध्यमिक एवं उच्चशिक्षा पर अधिक ध्यान देकर भारत में प्रारम्भिक शिक्षा की अवहेलना की है ?

२—देश की शिक्षा-व्यवस्था में सरकारी संस्थाओं का क्या स्थान होना चाहिये ?

३—शिक्षाक्षेत्र के गैरसरकारी प्रयासों की ओर सरकार की नीति क्या होनी चाहिये ?

४—सन् १८५४ के घोषणापत्र के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने की सरकारी नीति किस सीमा तक सफल रही है और उसमें क्या सुधार अपेक्षित ह ?

कमीशन के मुख्य प्रस्ताव

कमीशन ने कई महीनों तक कलकत्ते में अपनी बैठकें की। तदनन्तर उसने

सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया। उसने बड़े परिश्रम से अपने प्रस्ताव तय्यार किये और उन्हें एक रिपोर्ट के रूप में प्रस्तुत किया। उसके मुख्य-मुख्य प्रस्ताव निम्नलिखित थे :—

१—सरकार को प्राथमिक शिक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिये।

२—प्राथमिक शिक्षा देशी भाषाओं के माध्यम से दी जानी चाहिये।

३—देशी शिक्षा को प्रोत्साहन एवं संरक्षण प्रदान किया जाये तथा उसे भी शिक्षा के नये ढाँचे में सम्मिलित कर लिया जाये।

४—प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था नगरपालिकाओं (Municipal Boards) तथा जिला-परिषदों (District Boards) को दे दी जाये।

५—देशी शिक्षा के पाठ्यक्रम में हस्तक्षेप न किया जाये परन्तु प्राथमिक शिक्षा में कुछ उपयोगी विषयों को सम्मिलित कर दिया जाये।

६—देशी स्कूलों को सहायता-अनुदान "परीक्षाफल के अनुसार वेतन" इस सिद्धान्त के आधार पर दिया जाये।

७—प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम, पाठनविधि, समय एवं परीक्षाव्यवस्था में प्रत्येक प्रान्त स्वतंत्र रखा जाये।

८—प्राथमिक शिक्षा के लिये अलग कोष खोला जाये। नगरों तथा ग्रामों के कोष अलग कर दिये जायें। स्थानीय कर से होनेवाली आय केवल प्राथमिक शिक्षा पर व्यय की जाये और प्रान्तीय सरकार इस कोष में उचित आर्थिक सहायता दे।

९—सरकारी तथा गैरसरकारी दोनों ही प्रकार के विद्यालयों के लिये प्रशिक्षित शिक्षक ही रखे जायें और उनके प्रशिक्षण के लिये प्रत्येक संविभाग (Division) में एक-एक नॉर्मल स्कूल खोला जाये।

१०—सरकार शिक्षा के उत्तरदायित्व से क्रमशः हटती जाये और धीरे-धीरे शिक्षाव्यवस्था को भारतीय जनता के हाथों में सौंप दे।

११—गैरसरकारी प्रयासों में मिशनरी प्रयासों की अपेक्षा भारतीय जन-प्रयासों को अधिक प्रोत्साहित किया जाये।

१२—अनुदान-नियम अधिक उदार कर दिये जायें और नये खुलनेवाले विद्यालयों को भी सब प्रकार की सहायता दी जाये।

कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा, उच्चशिक्षा, स्त्रीशिक्षा, प्रौढ़शिक्षा, धार्मिक-शिक्षा, मुस्लिमशिक्षा आदि पर भी अपने प्रस्ताव रखे। उनका वर्णन प्रसंगानु-

सार विभिन्न शिक्षास्तरों में किया जायेगा।

कमीशन के अधिकतर प्रस्ताव मान लिये गये और उनके अनुसार कार्य आरम्भ हो गया। प्राथमिक शिक्षा स्थानीय संस्थाओं के अधीन कर दी गई। माध्यमिक शिक्षा में गैरसरकारी प्रयासों को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। बीसवीं शती के आरम्भ तक भारतीय शिक्षा इन्हीं प्रस्तावों के अनुसार विकसित होती रही।

लार्ड कर्जन के प्रयत्न—सन् १८९९ में लार्ड कर्ज़न भारत के वायसराय होकर आये। वे एक योग्य एवं सुधारप्रिय वायसराय थे। उन्होंने शिक्षाक्षेत्र में भी सुधार आरम्भ किये जिससे उस क्षेत्र में फिर एक बार हलचल मच गई। सन् १९०१ में लार्ड कर्ज़न ने शिमला में एक गुप्त शिक्षा-सम्मेलन किया जिसमें प्रत्येक प्रान्त के शिक्षासंचालक तथा ईसाई मिशनरियों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें भारतीय प्रतिनिधि नहीं बुलाये गये थे अतः वे लार्ड कर्ज़न की शिक्षानीति के प्रति सशंक हो उठे। इस समय तक भारत में राष्ट्रीयता की भावना पर्याप्त मात्रा में जागृत हो चुकी थी।

सन् १९०२ में लार्ड कर्ज़न ने भारतीय विश्वविद्यालय-कमीशन की नियुक्ति की और सन् १९०४ में उसने भारतीय विश्वविद्यालय-अधिनियम पास कराया। विस्तृत वर्णन प्रसंगानुसार उच्चशिक्षा के प्रसंग में किया जायेगा। सन् १९०४ में ही उसके शिक्षानीतिसम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव प्रकाशित किये गये। उनकी मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

१—प्राथमिक शिक्षा पर कम ध्यान दिया गया है और उसके लिये किया हुआ काम भी अपर्याप्त रहा है। सरकार को प्राथमिक शिक्षा के विकास को अपने मुख्य कर्त्तव्यों में स्थान देना चाहिये।

२—प्राथमिक शिक्षा के लिये स्पष्ट आर्थिक नीति का अनुसरण किया जाना चाहिये।

३—माध्यमिक शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाना चाहिये और नये विद्यालयों को मान्यता तथा आर्थिक सहायता देने में कड़ाई बरतनी चाहिये जिससे अवांछनीय विद्यालय न खुल सकें।

४—प्राथमिक शिक्षा में अंग्रेजी को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये। तेरह वर्ष की आयु के बाद ही अंग्रेजी पढ़ाई जाये। मातृभाषा की शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाना चाहिये।

५—उच्चशिक्षा का स्तर ऊँचा किया जाना चाहिये और उसे केवल सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने का साधन नहीं समझा जाना चाहिये।

उपरिकथित प्रस्तावों में शिक्षा के तीनों स्तरों में पाये जानेवाले दोषों का भी पूर्ण विवेचन किया गया और उनको दूर करने के उपाय भी सुझाये गये। परन्तु जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि लार्ड कर्जन की शिक्षा पर अधिक कड़े सरकारी नियन्त्रण की नीति को भारतीयों ने पसन्द नहीं किया और उसके विरोध में शिक्षाक्षेत्र में एक नई हलचल उत्पन्न हो गई।

सन १९०५ में भारत में स्वदेशी आन्दोलन का आरंभ हुआ और उसका भी शिक्षा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस आन्दोलन के बीच में ही भारतीय देशभक्तों ने राष्ट्रीय शिक्षा की अनेक योजनायें बनाईं और उनके फलस्वरूप अनेक राष्ट्रीय विद्यालय, महाविद्यालय तथा गुरुकुल खुले। सन् १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और उसकी प्रेरणा से मुसलमानों ने भी अपने लिये अलग विद्यालय खोले।

गोखले का प्राथमिक शिक्षा विधेयक—स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले ने सन् १९१० में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल में प्रस्ताव रखा कि "छः वर्ष से दश वर्ष तक के बच्चों के लिये प्राथमिकशिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क कर दी जाये और कुछ क्षेत्रों में यह कार्य आरम्भ भी कर दिया जाये।" किन्तु सरकार के आश्वासन देने पर उन्होंने यह प्रस्ताव वापस ले लिया। परन्तु जब एक वर्ष तक सरकार ने इस दिशा में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया तो श्री गोखले ने सन् १९११ में फिर अपना प्रसिद्ध विधेयक काउन्सिल में उपस्थित किया। सरकार ने इस विधेयक का कड़ा विरोध किया और १९ मार्च सन् १९१२ को वह अस्वीकार कर दिया गया। गोखले का विधेयक तो अस्वीकार हो गया परन्तु उसका सरकार पर भी बहुत प्रभाव पड़ा और देश में भी प्राथमिक शिक्षा की माँग क्रमशः बढ़ने लगी।

नई शिक्षानीति—देश में शिक्षा की बढ़ती हुई माँग के कारण सन् १९१३ में पुनः सरकार ने अपनी शिक्षानीति घोषित की। उस घोषणा में निम्नलिखित प्रस्ताव थे—

१—प्राथमिक शिक्षा में पूर्वप्राथमिक (Lower Primary) विद्यालयों का विकास और विस्तार किया जाये और उनके पाठ्यक्रम में व्यावहारिक विषय बढ़ाये जायें।

२—उत्तरप्राथमिक (Upper Primary) विद्यालय अधिक संख्या में खोले जायें।

३—पाठशालाओं तथा मकतबों को उदारतापूर्वक सहायता दी जाये।

४—विद्यालयों में प्रशिक्षित अध्यापक रखे जायें और उनकी नियुक्ति उसी वर्ग में से की जाये जिसके बालक उनकी पाठशालाओं में हों।

५—प्रशिक्षित अध्यापकों को उचित वेतन, पेंशन तथा प्रावीडेण्ट फण्ड दिया जाये।

६—एक अध्यापक पचास से अधिक बालकों को न पढ़ाये।

७—विद्यालयों की दशा में सुधार किया जाये।

इन प्रस्तावों में माध्यमिक तथा उच्चशिक्षा के सुधार के लिये भी सुझाव दिये गये। उन सुधारों का वर्णन आगे प्रसंगानुसार किया जायेगा। सन् १९१३ के उपरान्त शिक्षा का विकास इन्हीं सुझावों के अनुसार हुआ। किन्तु सन् १९१४ में यूरोप में प्रथम महायुद्ध आरंभ हो गया। उसके कारण सभी प्रस्ताव कार्यान्वित न किये जा सके।

सैडलर कमीशन—महायुद्ध की समाप्ति के कुछ पूर्व सन् १९१७ में भारतीय सरकार ने कलकत्ता-विश्वविद्यालय-कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन के अध्यक्ष डा० माइकेल सैडलर थे अतः इसे "सैडलर कमीशन" भी कहा जाता है। कमीशन का कार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय की अवस्था तथा समस्याओं की जाँच करके उनके विषय में सुझाव देना था। उसने एक विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की और उसने उसमें माध्यमिक तथा उच्चशिक्षा की अत्यन्त विस्तृत विवेचना की और उनके सुधार के लिये आवश्यक सुझाव भी दिये। उन सुझावों का वर्णन सम्बन्धित शाखाओं में विस्तृत रूप से किया जायेगा।

सन् १९२१ से १९४७ तक

द्वैध शासन में शिक्षा—प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर भारतमन्त्री मान्टेग्यू और तत्कालीन वायसराय चेम्सफोर्ड ने मिलकर भारत में लागू करने के लिये राजनीतिक सुधारों की एक योजना तय्यार की और सन् १९२१ में उसे भारत में लागू कर दिया। इन सुधारों के अनुसार भारत के प्रान्तों में "दुहरे शासन" की स्थापना हुई। सम्पूर्ण प्रान्तीय शासन दो भागों में विभक्त कर दिया गया। एक भाग में शासन के "सुरक्षित विषय" रखे गये और उन पर उस-उस प्रान्त के गवर्नर का सीधा-सीधा अधिकार रखा गया। दूसरे भाग में "हस्तान्तरित" विषय रखे गये और उन्हें मन्त्रियों के अधिकार में सौंप दिया गया। साथ ही मन्त्री प्रान्तीय धारासभाओं के प्रति उत्तरदायी बना दिये गये। शिक्षा भी हस्तान्तरित विषयों में से एक थी अतः उसकी व्यवस्था भारतीय मन्त्रियों के हाथ में आई। भारतीय

मन्त्रियों ने बड़े उत्साह के साथ शिक्षा को आगे बढ़ाया और शिक्षा के प्रत्येक स्तर में आशातीत उन्नति हुई । किन्तु प्रान्तीय अर्थविभाग (Finance) एक सुरक्षित विषय था अतः उस पर पूर्णतया प्रान्तीय गवर्नर का आधिपत्य था। इसलिये शिक्षामन्त्रियों को उतने धन से सन्तुष्ट रहना पड़ता था जितना उनके लिये गवर्नर द्वारा निर्धारित कर दिया जाता था। इस स्थिति के कारण शिक्षा की प्रगति में बाधा पड़ी। केन्द्रीय सरकार ने भी एक हस्तान्तरित विषय होने के कारण शिक्षा के लिये प्रान्तों को सहायता देना बन्द कर दिया।

इस बीच में धीरे-धीरे राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था। सन् १९२१ में महात्मा गान्धी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन का आरम्भ हुआ। उसका भी शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा। गान्धीजी के आदेशानुसार बहुत-से छात्रों तथा शिक्षकों ने सरकारी शिक्षा-संस्थाओं का बहिष्कार कर दिया और स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालय एवं महाविद्यालय खोले गये। मन्त्रियों ने कानून बनाकर प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु मन्त्रीगण चूंकि गवर्नरों द्वारा नियुक्त होते थे इसलिये तथा दोहरे शासन की विचित्रताओं के कारण शिक्षा के क्षेत्र में सन्तोषजनक प्रगति न हो सकी।

हर्टांग समिति—भारतीय जनता बृटिश सरकार द्वारा अब तक दिये हुए शासन-सुधारों से सन्तुष्ट न थी। उसकी ओर से निरन्तर अधिक अधिकारों की माँग जोर पकड़ती जा रही थी। फलतः बृटिश सरकार ने सन् १९२७ में सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की। भारतीय राजनीति में यह कमीशन "साइमन कमीशन" के नाम से विख्यात है। यह कमीशन मुख्यतया राजनीतिक सुधारों के सुझाव के लिये नियुक्त किया गया था परन्तु इसे भारत की शिक्षाव्यवस्था पर भी अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी। इसलिये इसने सर फिलिप हर्टांग की अध्यक्षता में एक उपसमिति बना दी और उसे शिक्षाविषयक जाँच-पड़ताल का काम सौंप दिया। इस उपसमिति ने सन् १९२९ के सितम्बर में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस रिपोर्ट को उपसमिति के अध्यक्ष के नाम पर "हर्टांग समिति की रिपोर्ट" कहा जाता है। इस उपसमिति ने भारतीय शिक्षाव्यवस्था का सम्पूर्णतः अध्ययन किया और अपनी रिपोर्ट में प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च तीनों शिक्षास्तरों के विषय में अपने सुझाव दिये।

हर्टांग समिति की रिपोर्ट में जो प्रस्ताव किये गये थे उनका यथास्थान वर्णन किया जायेगा। परन्तु यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है कि समिति ने शिक्षा के प्रकार एवं स्तर दोनों को ऊँचा उठाने पर विशेष जोर दिया और उसे अधिक

उपयोगी तथा ठोस बनाने का प्रस्ताव किया। स्तर ऊँचा उठाने का बहाना बनाकर सरकारी अधिकारियों ने शिक्षा के विस्तार को रोक दिया जिससे शिक्षा की प्रगति में बाधा पड़ी। फिर भी शिक्षा का विकास होता ही रहा किन्तु उसकी गति भारत की जनसंख्या की आवश्यकताओं की दृष्टि से बहुत कम रही।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड—सन् १९२१ में केन्द्रीय सरकार ने एक "केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड" स्थापित किया था। इसका काम प्रान्तीय सरकारों की शिक्षानीति को केन्द्रीय शिक्षानीति से मिलाकर रखना तथा महत्त्वपूर्ण शिक्षा-समस्याओं पर सलाह देना था। बाद में आर्थिक कारणों से इसे भंग कर दिया गया था। हर्टांग समिति ने इसे पुनः चालू करने का प्रस्ताव किया। फलतः सन् १९३५ में केन्द्रीय सरकार ने इसका पुनः संगठन किया। इसी सन् में बोर्ड ने सरकार के सामने कुछ शिक्षासम्बन्धी प्रस्ताव रखे। इन प्रस्तावों में व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया और इस विषय में विशेषज्ञों से राय लेने की सलाह दी गई।

वुड-एक्ट कमीशन—उस सलाह को मानकर सरकार ने सन् १९३६ म "वुड-एक्ट कमीशन" की नियुक्ति की। सन् १९३७ में इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की। इसमें सामान्य शिक्षा और व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा के सुधार एवं विकास पर सुझाव दिये गये थे। इसी वर्ष सन् १९३५ के शासन-विधान के अनुसार देश में उत्तरदायी शासन का श्रीगणेश हुआ। प्रान्तों में जनता के मन्त्रिमण्डल बने और उनके अधिकार भी बहुत अधिक बढ़ गये। प्रान्त में राष्ट्रीय योजनायें बनने लगीं और शिक्षा का पुनः संगठन होने लगा। परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में अनेक आन्दोलन आरंभ हो गये।

बेसिक शिक्षा का जन्म—इसी समय महात्मा गान्धी ने अपने शिक्षाविषयक विचार देश के सामने प्रस्तुत किये। उनके आधार पर बेसिक शिक्षा का जन्म हुआ। उत्तरदायी मन्त्रियों के प्रयत्नों से देश में शिक्षा की प्रगति तीव्र गति से हुई। किन्तु सन् १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ हो गया। उस युद्ध में जनता के प्रतिनिधियों की सलाह लिये बिना भारत को भी घसीट लिया गया फलतः अपना विरोध प्रकट करने के लिये जनप्रिय मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। उनके त्यागपत्र देते ही अधिकतर प्रान्तों में "सलाहकार शासन" स्थापित हो गये। इस परिवर्तन का शिक्षा पर यह प्रभाव पड़ा कि उसकी प्रगति रुक गई।

सार्जेण्ट योजना—विश्वयुद्ध में अपनी विजय के लक्षण प्रकट होते ही अंग्रेज सरकार ने सन् १९४३ में युद्धोत्तर विकासयोजनायें बनानी आरंभ कर दीं।

शिक्षाविषयक योजना बनाने का उत्तरदायित्व "केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड" पर पड़ा। उसकी अधीनता में तत्कालीन शिक्षा-सलाहकार सर जॉन सार्जेण्ट ने एक योजना बनाकर उसे सन् १९४४ में सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। अपने निर्माता के नाम पर इस योजना को "सार्जेण्ट शिक्षा-योजना" कहा जाता है।

उपसंहार—यह योजना बड़ी विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण थी। इसे सन् १९४५ में सभी प्रान्तों में लागू कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि शिक्षा की रुकी हुई गति आगे बढ़ चली। इस योजना का भी विस्तृत वर्णन यथावसर किया जायेगा। सन् १९४७ के १५ अगस्त तक इसी योजना के आधार पर शिक्षा-क्षेत्र में कार्य एवं प्रगति होती रही।

सहायक पुस्तकें:—

१—एजुकेशन इन इण्डिया, टुडे एण्ड टुमारो —एस. एन मुकर्जी
२—एजुकेशन इन मोडर्न इण्डिया —एस. एन. मुकर्जी
३—हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन इण्डिया —नूरूल्ला एण्ड नायक
४—रिपोर्टें—
(अ) बंगाल तथा बिहार की देशी शिक्षा पर एडम की रिपोर्ट
(आ) हर्टाग समिति की रिपोर्ट
(इ) भारत में शिक्षा की प्रगति(१९३० से १९४९ तक)—भारत सरकार
(ई) भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन की रिपोर्ट, सन् १९०२
(उ) कलकत्ता-विश्वविद्यालय-कमीशन रिपोर्ट
(ऊ) सार्जेण्ट योजना
(ए) भारत सरकार द्वारा प्रकाशित अन्य सम्बद्ध विवरण
५—भारतीय शिक्षा का इतिहास —प्यारे लाल रावत

अध्याय ८

स्वातन्त्र्योत्तरकालीन-शिक्षा

अध्याय संक्षेप :—

१. प्रस्तावना। २. शिक्षा की प्रगति। ३. उपसंहार।

प्रस्तावना—पन्द्रह अगस्त सन् १९४७ के दिन भारतवर्ष भारत और पाकिस्तान इन दो स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त होकर अंग्रेजी शासन से मुक्त हो गया। अब तक की समस्त शिक्षायोजनायें सम्पूर्ण भारतवर्ष पर लागू होती थीं परन्तु इस दिन के आगे दोनों की शिक्षायोजनायें पृथक-पृथक् हो गईं। हमारा सम्बन्ध भारत के साथ है अतः इस अध्याय की अगली पंक्तियों में भारत में चलनेवाले शिक्षा-प्रयत्नों का ही वर्णन होगा।

शिक्षा की प्रगति—ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि सन् १९४५ में ही केन्द्रीय सरकार ने एक विभाग के रूप में केन्द्रीय शिक्षाविभाग की स्थापना करके उसे कार्यकारिणी के एक सदस्य के अधीन कर दिया था। स्वाधीनता मिलने के उपरान्त भी शिक्षाविभाग मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य की अधीनता में रहा। फलतः स्वाधीनताप्राप्ति के परिणामस्वरूप देश के विकास के लिये बननेवाली सर्वतोमुखी योजनाओं में शिक्षा को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। सन् १९४८ में केन्द्रीय शिक्षाविभाग ने श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय-कमीशन की नियुक्ति की और उसे यह काम सौंपा गया कि वह भारतीय विश्वविद्यालयों की उन्नति के विषय में सरकार को सुझाव दे। इस कमीशन ने एक विस्तृत रिपोर्ट तय्यार की जो कि सन् १९४९–५० में प्रकाशित हुई। अपनी रिपोर्ट में उस कमीशन ने जो सुझाव दिये उनका यथास्थान वर्णन किया जायेगा। माध्यमिकशिक्षा के पुनःसंगठन तथा विकास के विषय में जाँच-पड़ताल करने तथा आवश्यक सुझाव देने के लिये केन्द्रीय शिक्षाविभाग ने एक "माध्यमिक-शिक्षा कमीशन" श्री लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में नियुक्त किया। उसकी रिपोर्ट सन् १९५३ में प्रकाशित हुई। कमीशन ने अनेकानेक शिक्षाविदों के सहयोग से बड़े परिश्रम के साथ अपनी रिपोर्ट तय्यार की और माध्यमिकशिक्षा के उद्देश्य, स्वरूप तथा ढाँचे में अनेक सुधारों का प्रस्ताव किया। सन् १९५५ में एक 'अखिल भारतीय माध्यमिकशिक्षा परिषद्' का भी निर्माण किया गया जो

कि माध्यमिकशिक्षा कमीशन के प्रस्तावों को कार्यान्वित करने में एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में सरकार की सहायता कर रही है।

केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों ने भी प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्चशिक्षा की जाँच तथा पुनःसंगठन के अनेक समितियों तथा कमीशनों की नियुक्ति की। उनके प्रस्तावों के आधार पर सभी जगहों पर शिक्षा का द्रुतगति से विकास हो रहा है। किस-किस प्रकार की शिक्षा का किस दिशा में कैसा-कैसा विकास हो रहा है इस का विस्तृत वर्णन आगे की पंक्तियों में यथास्थान किया जायेगा।

उपसंहार—अपने देश में शिक्षा के विकास के लिये जो प्रयत्न चल रहे हैं उनमें सरकारें विदेशी एवं संयुक्तराष्ट्रीय संगठन के विशेषज्ञों के सहयोग का भी पूरा-पूरा लाभ उठा रही हैं। उनके सहयोग से स्थान-स्थान पर वर्कशापों, सेमिनारों तथा अध्ययनगोष्ठियों का आयोजन किया जा रहा है। विदेशों से विशेषज्ञ बुलाकर तथा विदेशों के शिक्षणालयों में यहाँ के विद्यार्थियों को भेजकर विविध क्षेत्रों में कार्य करने के लिये योग्य व्यक्ति जुटाये जा रहे हैं। शिक्षा के सभी रूपों तथा उपकरणों का इतनी द्रुतगति के साथ विकास एवं विस्तार किया जा रहा है कि निश्चय है कि निकट भविष्य में ही अपना देश अन्य देशों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चल सकेगा।

सहायक पुस्तकें—

१—माध्यमिकशिक्षा कमीशन की रिपोर्ट (१९५३)
२—राधाकृष्णन कमीशन की रिपोर्ट (१९४९)
३—नरेन्द्रदेव समिति की रिपोर्ट (१९५३)
४—माध्यमिकशिक्षा परिषद् की कार्यवाहियाँ
५—भारत सरकार द्वारा प्रसारित अन्य सूचनायें तथा विवरण
६—भारतीय शिक्षा का इतिहास —प्यारेलाल रावत

अध्याय ६

प्राथमिक शिक्षा

अध्याय-संक्षेप :—

१. सन् १८१३ ई० तक । २. सन् १८१३ ई० से सन् १८५४ ई० तक । ३. सन् १८५४ ई० से सन् १९२० ई० तक । ४. सन् १९२० ई० से सन् १९३७ ई० तक । ५. सन् १९३७ ई० से सन् १९४७ ई० तक । ६. स्वातन्त्र्योत्तर काल में । ७. प्राथमिक शिक्षा की समस्यायें । ८. उपसंहार ।

सन् १८१३ ई० तक—जैसा कि अध्याय ६ में कहा जा चुका है कि मुगल साम्राज्य के क्षीण हो जाने पर यद्यपि देशी शिक्षा की अवनति हो चली थी तथापि देश में प्राथमिक देशी शिक्षा का प्रचार पर्याप्त था। प्राथमिक शिक्षा के केन्द्रों में जन-साधारण के बच्चों को पढ़नेलिखने और गणित की शिक्षा दी जाती थी। इनमें सभी जातियों के लड़के और लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। इनके लिये राज्य की ओर से कोई अनुदान नहीं मिलता था। अधिकतर संस्थायें ग्राम-निवासियों की सहायता के बल पर ही चलती थीं। इनमें बहुत ही कम व्यय में जीवनोपयोगी एवं प्रभावोत्पादक शिक्षा मिल जाती थी। बच्चे दस वर्ष की अवस्था से लेकर १५ वर्ष की अवस्था तक इनमें शिक्षा प्राप्त करते थे। इनके लिये कोई अलग इमारतें नहीं होती थीं अपितु शिक्षकों के घरों, गाँवों की चौपालों तथा वृक्षों की छाया में ही विद्यालय चलते रहते थे। बालकों के लिये छपी हुई पुस्तकें नहीं होती थीं और न परीक्षा की वर्त्तमान समस्यायें ही। पढ़ने का समय तथा अध्ययन के दिन स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित कर लिये जाते थे। प्राय: सभी छोटे-बड़े गाँवों तथा नगरों में इस प्रकार का प्रबन्ध था अत: विद्यालय आकार में छोटे ही होते थे। उनमें कोई नियमित कक्षाप्रथा नहीं चलती थी। जब बालक पढ़ने योग्य होता था तभी उसका प्रवेश हो जाता था। कुछ विद्यालयों में ऊँची कक्षा के छात्र छोटी कक्षाओं को पढ़ाने में अध्यापक की सहायता कर दिया करते थे। पाठ्यक्रम बहुत साधारण तथा सरल होता था। अध्यापकों की कोई निश्चित फीस नहीं थी। अभिभावक अपनी शक्ति और सुविधानुसार उनको कुछ दे दिया करते थे। पर्वों पर उनको घरों से निमन्त्रण एवं सीधे मिलने की भी प्रथा थी।

योरोपीय जातियों के आने पर ईसाई पादरियों ने इन्हीं शिक्षालयों के आधार पर अपने प्राथमिक विद्यालय खोले। शिक्षा-प्रसार द्वारा धर्म-प्रचार एवं धर्म-परिवर्तन ही उनका उद्देश्य था अतः प्राथमिक शिक्षा पर ही उन्होंने अपना अधिकार जमाया। भारत में सबसे पहले प्राथमिक विद्यालय पुर्तगालियों ने खोले। उनके बाद फ्रांसीसियों ने अपनी बस्तियों में उनका अनुसरण किया। डेन लोगों ने भी प्राथमिक शिक्षा को आगे बढ़ाया। इन सभी विदेशियों के विद्यालयों में भी शिक्षा का माध्यम देशी भाषा ही थी किन्तु साथ-साथ उनमें योरोपीय भाषायें भी पढ़ाई जाती थीं।

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी आरम्भ में धर्म-प्रचार की नीति अपनाई और अंग्रेजी बस्तियों में प्राथमिक विद्यालय खोले। उनमें पढ़ने, लिखने, गणित तथा ईसाईधर्म की शिक्षा दी जाती थी। पादरियों के प्रयत्न से कुछ निःशुल्क दातव्य विद्यालय भी खुले। क्रमशः राजनैतिक सत्ता बढ़ने के साथ-साथ कम्पनी ने धर्म-निरपेक्षता की नीति ग्रहण की और पादरियों को सहायता देना बन्द कर दिया। कम्पनी ने पादरियों के शिक्षा-प्रयत्नों को सहायता देना तो बन्द कर दिया परन्तु सार्वजनिक शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं बिलकुल नहीं उठाया। फिर भी चन्दे, दान तथा कम्पनी के अपर्याप्त अनुदान के सहारे पादरी लोग विद्यालयों को खोलते और चलाते रहे। इन विद्यालयों का आरम्भ मद्रास, बम्बई तथा बंगाल प्रान्तों से हुआ। इनमें अंग्रेजी, स्थानीय भाषायें, हिसाब तथा ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। कम्पनी की शिक्षाविषयक तटस्थता के कारण अधिकतर विद्यालय पादरियों के प्रयासों के कारण ही खुलते और चलते थे। परन्तु कम्पनी की यह नीति पादरियों तथा उनके मित्रों को पसन्द न थी अतः उनके आन्दोलनके फलस्वरूप सन् १८१३ के कम्पनी के चार्टर में पार्लियामेंट ने एक विशेष धारा जोड़ दी थी जिसके कारण विवश होकर उसे भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व लेना पड़ा।

सन् १८१३ ई० से सन् १८५४ ई० तक—अध्याय ७ में कहा जा चुका है कि यह काल विवादों और संघर्षों का काल था। इस काल में प्राथमिक शिक्षा को लेकर भी एक संघर्ष चला। सन् १८१३ के आज्ञापत्र में शिक्षा का उत्तरदायित्व तो कम्पनी पर डाल दिया गया था परन्तु उसकी कोई योजना नहीं दी गई थी। फलतः बम्बई के गवर्नर श्री एल्फिन्स्टन ने सन् १८१३ के आसपास लोक-शिक्षा पर अधिक जोर दिया। उसके प्रयत्नों से कुछ सरकारी तथा गैरसरकारी प्राथमिक विद्यालय खुले। इसी प्रकार सन् १८२२ के आसपास मद्रास के गवर्नर श्री मुनरो ने मद्रास में सहायता देकर तथा नये विद्यालय खुलवाकर लोक-शिक्षा को आगे बढ़ाया। बंगाल में श्री एडम ने सन् १८३५—३८ में अपनी रिपोर्टों द्वारा प्राथमिक शिक्षा की अत्यन्त

सुन्दर एवं उपयोगी योजना प्रस्तुत की। उसने कुछ चुने हुये जिलों में अपनी योजना को कार्यान्वित करने का प्रस्ताव किया। श्री एडम ने इन जिलों की पूरी जाँच-पड़ताल का सुझाव रखा और चाहा कि बच्चों के लिये देशी भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जायें। प्रत्येक जिले में एक शिक्षा-निरीक्षक नियुक्त किया जाये जो जिले की शिक्षा की प्रगति का निरीक्षण करे, शिक्षकों से मिले, बच्चों की परीक्षा ले और उन्हें पुरस्कार प्रदान करे। उसने यह भी सुझाया कि गाँवों के प्राथमिक विद्यालयों को कुछ भूमि दान कर दी जाये जिससे कि उनके शिक्षक गाँवों में ही बस जायें और ग्रामीण बालकों को शिक्षा देते रहें।

एडम की योजना जनशिक्षा की एक अत्यन्त सुन्दर योजना थी। यदि उसे स्वीकार कर लिया जाता तो देश में शिक्षा का प्रसार बहुत शीघ्र होता। परन्तु मैकाले ने इसका विरोध किया और लार्ड आकलैण्ड ने इसे बिलकुल अस्वीकार कर दिया। उसने सरकार की ओर से शिक्षा-छनाई का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और इस कारण प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना की।

शिक्षा-छनाई के सिद्धान्त से बँधे रहने के कारण सरकार ने प्राथमिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। लार्ड हार्डिंज ने सन् १८४४ में बंगाल में कुछ प्राथमिक विद्यालय खुलवाये। शिक्षकों के लिये कुछ नार्मल स्कूल भी खोले गये। लार्ड डलहौजी भी शिक्षा का प्रेमी था। उसने भी प्राथमिक शिक्षा की उन्नति की। बम्बई में भी प्राथमिक विद्यालयों की संख्या बढ़ी। बंगाल की "शिक्षा-परिषद्" तथा बम्बई और मद्रास के शिक्षा-बोर्डों ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया। परन्तु इस क्षेत्र में अधिक सराहनीय कार्य उत्तर-पश्चिमप्रदेश (वर्त्तमान उत्तरप्रदेश) में हुआ।

सन् १८४० में उत्तर-पश्चिमप्रदेश के नये प्रान्त को सरकार ने शिक्षा का भार सौंप दिया। सन् १८४३ में श्री जेम्स टामसन इस प्रान्त के गवर्नर बनाये गये। उन्होंने प्रान्त के जिलों में शिक्षा की जाँच-पड़ताल कराई और एडम-योजना के आधार पर प्राथमिक शिक्षा की एक योजना बनाई। उसने प्रस्ताव रखा कि देशी शिक्षा का पुनःसंगठन किया जाये और प्रत्येक २०० घरोंवाले गाँव में एक-एक विद्यालय स्थापित करके अध्यापकों के लिये जागीरें लगा दी जायें। उसकी यह पहली योजना अस्वीकार कर दी गई। किन्तु सन् १८४८ में सरकार ने उसकी दूसरी योजना स्वीकार कर ली। तदनुसार देशी शिक्षालयों का सुधार किया गया और आदर्श तहसीली स्कूल खोलने की व्यवस्था की गई। अध्यापकों के वेतन, पाठ्यक्रम तथा स्कूलों के निरीक्षण का भी समुचित प्रबन्ध किया गया। विजिटर-

जनरल, ज़िला विजिटर तथा परगना विज़िटर नियुक्त किये गये और उन्हें सलाह, सहायता तथा प्रोत्साहन का काम सौंपा गया। इस प्रकार जेम्स टामसन ने ही वस्तुतः भारत में आधुनिक प्राथमिक शिक्षा की नींव डाली।

सन् १८५१ में मथुरा के कलक्टर श्री अलेग्जेंडर ने प्राथमिक विद्यालयों के लिये एक अन्य योजना बनाई। यह योजना "हल्काबन्दी विद्यालय-योजना" के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार कुछ ग्रामों का एक हल्का या क्षेत्र बनाकर उसके केन्द्र में एक प्राथमिक विद्यालय खोल दिया गया जिससे कि किसी भी गाँव से वह प्राथमिक विद्यालय दो या ढाई मील से अधिक दूर न पड़े। इस योजना के अनुसार मालगुजारी का एक प्रतिशत शिक्षा के लिये लिया गया। धीरे-धीरे यह योजना अन्य जिलों में भी फैल गई।

सरकार की उदासीनतापूर्ण नीति की विद्यमानता में भी प्राथमिक शिक्षा इस प्रकार विस्तृत होती गई। अन्त में १९ जुलाई सन् १८५४ को वुड का शिक्षा-घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ। इस घोषणा-पत्र ने भारत में शिक्षा का स्वरूप स्थिर कर दिया।

सन् १८५४ ई० से सन् १९२० ई० तक—वुड के घोषणा-पत्र में प्रथम बार भारतीय शिक्षा के उत्तरदायित्व को सरकार के प्रमुख कर्त्तव्यों में स्थान मिला। उसमें इस बात को स्वीकार किया गया कि सरकार ने लोक-शिक्षा की अवहेलना की है। शिक्षा छनने के सिद्धान्त को अस्वीकार करके जन-साधारण के लिये व्यावहारिक शिक्षा की सिफारिश भी उसमें की गई। उसमें यह भी सिफारिश की गई कि देशी विद्यालयों को मान्यता दी जाये, अधिक प्राथमिक विद्यालय खोले जायें, निर्धन छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी जायें और अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाये।

किन्तु सरकार की ओर से ही घोषणा की इन सिफारिशों पर ध्यान नहीं दिया गया। सन् १८५९ में स्टैनले का आज्ञापत्र निकला। उसमें कहा गया कि जन-साधारण की शिक्षा सरकार का मुख्य कर्त्तव्य है अतः उसे प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व सीधे-सीधे अपने ऊपर ले लेना चाहिये और यदि आवश्यकता हो तो उसके लिये स्थानीय कर भी लगाना चाहिये। इसी आज्ञापत्र में शिक्षकों के समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था पर भी बल दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा का भार प्रान्तीय सरकारों को दे दिया गया और साथ ही उन्हें यह अधिकार भी दे दिया गया कि वे इस विषय में स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करें। कुछ प्रान्तों ने देशी विद्यालयों को मान्यता देकर उन्हें सहायता दी। कुछ ने देशी शिक्षा की

अवहेलना की और सरकारी प्राथमिक विद्यालय खोले। कुछ प्रान्तों ने दोनों का समन्वय किया।

बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त के कारण स्थायी कर नहीं लगाये गये परन्तु अन्य प्रान्तों में ये लगे। गाँवों में मालगुजारी तथा शहरों में मकानों पर कर लगाये गये। उस समय यह निश्चित नहीं था कि स्थानीय कर का कितना भाग नगरों में और कितना भाग ग्रामों में व्यय किया जाये। परिणामस्वरूप ग्रामों से लिया हुआ स्थानीय कर नगरों की शिक्षा पर व्यय होने लगा। सन् १८७१ ई० में लार्ड मेयो ने प्रान्तीय सरकारों को शिक्षाविषयक अधिक अधिकार दे दिये और साथ-साथ प्राथमिक शिक्षा पर किये जानेवाले व्यय के विषय में कुछ निश्चित आदेश भी दिये। फलतः प्राथमिक शिक्षा में यथेष्ट उन्नति हुई यद्यपि वह उन्नति जन-संख्या को दृष्टि में रखते हुये बहुत अपर्याप्त थी।

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि सरकारी नीति ईसाई पादरियों के प्रति कठोर हो चली थी। इसके विरुद्ध उन्होंने भारत तथा इंग्लैण्ड में आन्दोलन आरम्भ कर दिया। आन्दोलन का फल यह हुआ कि सन् १८८२ में प्रथम भारतीय शिक्षा कमीशन की नियुक्ति की गई। इस कमीशन की जाँच का मुख्य विषय "भारत में प्राथमिक शिक्षा की दशा" था। कमीशन ने प्राथमिक शिक्षा के विषय में निम्नलिखित बातें कहीं:—

१—प्राथमिक शिक्षा वह शिक्षा है जो कि जन-साधारण को देशी भाषाओं के माध्यम से ऐसे विषयों में दी जाये जो उन्हें जीवन की परिस्थितियों का भार सहन करने योग्य बना दे।

२—देशी शिक्षा वह शिक्षा है जो भारतीयों द्वारा भारतीय प्रणालियों के आधार पर संचालित हो।

३—देशी विद्यालयों को नये साँचे में ढालना सम्भव है अतः उन्हें संरक्षण दिया जाये और उनका विकास किया जाये। इन विद्यालयों के शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाये और उनके पाठ्यक्रम में कुछ अन्य उपयोगी विषय बढ़ा दिये जायें। साथ ही इनको परीक्षा-फल के अनुसार आर्थिक सहायता दी जाये।

४—प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिये अधिक प्रयत्न किये जाने चाहिये। इसे अधिक संरक्षण दिया जाना चाहिये और पिछड़े हुए स्थानों में शिक्षा-प्रसार के लिये सरकार को अधिक प्रयत्न करना चाहिये।

५—जिला बोर्ड तथा म्यूनिसिपल बोर्ड बनाये जायें और इन स्थानीय बोर्डों को प्राथमिक शिक्षा का भार सौंप दिया जाये। इन बोर्डों में भारतीय जनता के

प्रतिनिधि रहें और ये प्राथमिक शिक्षा को अपना प्रमुख कर्त्तव्य मानें तथा इसके लिये अलग कोष स्थापित करें। नगरों तथा ग्रामों के स्थानीय शिक्षा-कर अलग-अलग कर दिये जायें। प्रान्तीय सरकार प्राथमिक शिक्षा के लिये इन बोर्डों को उचित सहायता दे। स्थानीय कोष तथा प्रान्तीय आय पर प्राथमिक शिक्षा का विशेष अधिकार रहे।

६—शिक्षकों के लिये अधिक नार्मल स्कूल खोले जायें तथा पाठ्यक्रम निश्चित करने के लिये प्रत्येक प्रान्त को स्वतन्त्रता दे दी जाये।

सन् १८८३–८४ में कई एक लोकल बोर्ड तथा म्यूनिसिपल बोर्ड अधिनियम पास हुये और ग्रामीण प्राथमिक शिक्षा जिला बोर्डों को तथा नगरों की प्राथमिक शिक्षा म्यूनिसिपल बोर्डों को सौंप दी गई। स्वयं सरकार इसके प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व से हट गई।

इस व्यवस्था में सबसे बड़ा दोष स्थानीय बोर्डों की आर्थिक नीति के कारण रहा। परिणाम स्वरूप प्राथमिक शिक्षा की प्रगति तो हुई परन्तु वह सन्तोषजनक नहीं रही। देशी स्कूलों में से कुछ तो सरकारी ढाँचे में विलीन हो गये और कुछ नष्ट हो गये। पारस्परिक झगड़ों के कारण बोर्ड भी इस दिशा में अभीष्ट कार्य नहीं कर सके। फिर भी इस व्यवस्था से इतना लाभ अवश्य हुआ कि भारत में प्राथमिक शिक्षा का आधुनिक रूप चल पड़ा जो कि बीसवीं शती के आरम्भ तक इसी प्रकार चलता रहा।

सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हुआ और भारत में राजनैतिक चेतना बढ़ने लगी। परिणामस्वरूप शिक्षा की माँग बढ़ चली और उसमें प्रगति भी हुई। सन् १८९९ में लार्ड कर्जन भारत के वायसराय होकर आये। इस समय शिक्षा की दशा सन्तोषजनक न थी अतः उन्होंने उसमें सुधार करने का निश्चय किया। शिमला कान्फ्रेंस में, जिसका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है, भारतीय शिक्षा के सभी स्तरों पर विचार किया गया। सन् १९०४ में उन्होंने जिस शिक्षा-नीति की घोषणा की उसमें प्राथमिक शिक्षा के विषय में निम्नलिखित बातें कही गईं :—

१—प्राथमिक शिक्षा की सरकार द्वारा अवहेलना की गई है और माध्यमिक शिक्षा की तुलना में इस पर कम व्यय किया जाता है।

२—प्राथमिक शिक्षा का विकास एवं प्रसार सरकार का मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिये।

३—"परीक्षा-फल के आधार पर अनुदान" प्रथा समाप्त कर दी जाये और सरकार प्राथमिक शिक्षा को उदारतापूर्वक अनुदान दे।

४—स्थानीय बोर्ड अपनी शिक्षा-सम्बन्धित राशि केवल प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करे।

५—शिक्षकों के प्रशिक्षण का उचित प्रबन्ध किया जाये और प्राथमिक विद्यालयों में प्रशिक्षित अध्यापक रखे जायें।

६—शिक्षण-विधि में सुधार करके उसे उपयोगी बनाया जाये।

इस नवीन नीति के कारण भारत में प्राथमिक शिक्षा का विकास हो चला। किन्तु सन् १९०५ में देश में "स्वदेशी आन्दोलन" चल पड़ा। यह एक आर्थिक-राजनैतिक आन्दोलन था और शिक्षा पर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। देश में राजनैतिक चेतना की वृद्धि के साथ-साथ जन-साधारण की शिक्षा की माँग भी बढ़ गई।

इसी समय देश में राष्ट्रीय शिक्षा का व्यापक प्रसार हुआ। प्राथमिक शिक्षा अति शीघ्रता से आगे बढ़ने लगी। जैसा पिछले अध्याय में कहा जा चुका है सन् १९१० में श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने इम्पीरियल कौंसिल में प्रस्ताव रखा कि सरकार प्रारम्भिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाने की दिशा में कार्य आरम्भ कर दे। सन् १९११ में श्री गोखले ने अपना प्रसिद्ध विधेयक पेश किया जिसका उद्देश्य प्रारम्भिक शिक्षा में अनिवार्यता का सिद्धान्त लागू करना था। यद्यपि यह विधेयक पास न हो सका किन्तु सरकार की शिक्षा-नीति पर इस आन्दोलन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

सन् १९११ के दिल्ली दरबार के अवसर पर सम्राट् की घोषणा के अनुसार ५० लाख रु० वार्षिक लोक-शिक्षा के लिये नियत हुआ। सन् १९१३ ई० में सरकारी शिक्षा-नीति फिर से घोषित की गई और प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में निम्नलिखित बातें कही गईं :—

१—लोक-शिक्षा का विकास तथा निरक्षरता को मिटाना सरकार का कर्त्तव्य है।

२—लोअर प्राइमरी शिक्षालयों की संख्या में वृद्धि की जाय; उनका पाठ्यक्रम व्यावहारिक एवं उपयोगी बनाया जाय और नगरों तथा गाँवों में विभिन्न पाठ्यक्रम रखे जायें।

३—आवश्यकतानुसार अपर प्राइमरी (कक्षा ४ तक) विद्यालय खोले जायें और केन्द्रीय स्थानों में पड़नेवाले लोअर प्राइमरी विद्यालयों को अपर प्राइमरी बना दिया जाये।

४—गैरसरकारी स्कूलों की अपेक्षा बोर्ड के स्कूल अधिक खोले जायें, गैरसरकारी विद्यालयों का उचित नियंत्रण एवं निरीक्षण किया जाये; पाठशालाओं और मकतबों को उचित सहायता दी जाये।

५—प्रशिक्षित मिडिल पास अध्यापक रखे जायें; उनको उचित वेतन, पेंशन, प्राविडेण्ट फण्ड आदि की सुविधायें दी जायें।

६—कक्षा में सामान्यत: विद्यार्थियों की संख्या ३० या ४० हो; पाठशाला-भवन स्वच्छ एवं विस्तृत हों।

सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण इन सुझावों पर पूर्ण रूप से कार्य न हो सका। फिर भी बोर्डों के अनेक प्राथमिक विद्यालय खुले। बृटिश भारत के अधिकांश प्रान्तों में बोर्डों के स्कूलों को प्राथमिकता दी गई। बंगाल, बिहार तथा मद्रास में सहायता-प्राप्त गैरसरकारी विद्यालयों को प्रोत्साहन दिया गया। बंगाल में आदर्श पंचायती स्कूल खोले गये और उत्तरप्रदेश में २५ वर्गमील में एक प्राथमिक स्कूल की योजना बनी।

सन् १९१७ से सन् १९२२ तक विभिन्न प्रान्तों में अनिवार्य तथा नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा के कानून बन गये। किन्तु इस दिशा में धनाभाव के कारण उचित प्रगति न हो सकी। सन् १९१८ में महायुद्ध समाप्त हो जाने पर प्राथमिक शिक्षा में पर्याप्त उन्नति हो चली।

सन् १९२० से सन् १९३७ ई० तक—सन् १९१९ में बृटिश पार्लियामेंट ने मांट-फोर्ड सुधारों को भारत के लिये स्वीकृत किया और देश में उत्तरदायी शासन स्थापित करने का वचन दिया। सन् १९२१ में इन सुधारों पर कार्य आरम्भ हो गया। इसके अनुसार बृटिश भारत के प्रान्तों में दोहरा शासन स्थापित हो गया। प्रान्तीय शासन-क्षेत्र को रक्षित और हस्तान्तरित विषयों में बाँट दिया गया। हस्तान्तरित विषयों को प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियों के अधीन रखा गया। शिक्षा भी हस्तान्तरित होकर भारतीय मन्त्रियों के हाथ में आ गई। किन्तु योरोपियनों, ऐंग्लो-इण्डियनों तथा केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों की शिक्षा रक्षित एवं केन्द्रीय विषय बनी रही।

भारतीय मन्त्रियों ने अत्यन्त उत्साहपूर्वक शिक्षा को उन्नत बनाने की चेष्टायें कीं। शिक्षा की पर्याप्त प्रगति हुई। व्यवस्थापिका के सदस्यों ने भी शिक्षा में रुचि लेनी प्रारम्भ की। जिला बोर्ड तथा म्यूनिसिपल बोर्ड भी आगे बढ़े। इस प्रकार शिक्षा का विकास हो चला। किन्तु द्वैध-शासनप्रणाली के कारण भारतीय शिक्षामन्त्रियों के सम्मुख निम्नलिखित अनेक कठिनाइयाँ थीं :—

१—आर्थिक विभाग सुरक्षित विषय था अत: वित्तमन्त्री प्राय: अंग्रेज होते

थे और वे केवल गवर्नर के प्रति ही उत्तरदायी होते थे। इसलिये शिक्षामन्त्रियों को अपनी शिक्षा-योजनाओं के लिये पर्याप्त धन नहीं मिल पाता था और न उनकी आय के साधन निर्दिष्ट थे।

२—शिक्षा-विभाग के उच्च आई० ई० एस० पदाधिकारी भारतमन्त्री के नियंत्रण में थे। उन पर मन्त्रियों का पूर्ण अधिकार न था अतः वे मनमानी कर सकते थे और प्रायः मन्त्रियों के विकास-कार्यों में सहयोग न देते थे।

३—केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तों को शिक्षा-व्यय में सहायता देना बन्द कर दिया था इस कारण आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ गई थीं और शिक्षा के लिये धन की कमी पड़ जाती थी।

४—लोकप्रिय नेताओं ने इस विधान का बहिष्कार कर दिया था अतः सरकारी पिट्ठू ही प्रायः मन्त्री होते थे और उन पर व्यवस्थापिका का पूर्ण विश्वास न था।

५—शिक्षा पर, प्रान्तीय विषय हो जाने के कारण, केन्द्र का नियंत्रण समाप्त हो गया था और अखिलभारतवर्षीय स्तर पर कोई शिक्षा-नीति न रह गई थी। फलस्वरूप प्रान्तों की शिक्षा में अन्तर होने लगा और अनेक अन्तःप्रान्तीय समस्यायें उठ खड़ी हुईं।

फिर भी भारतीय मन्त्रियों ने बड़े परिश्रम और उत्साह से काम किया और जनता में शिक्षा का चाव उत्पन्न हो गया। किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण शिक्षा-विकास की सन्तोषजनक प्रगति न हो पाई। सन् १९२१ में महात्मा गान्धी का असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो गया। शिक्षा पर भी उसका प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी शिक्षा का बहिष्कार होने लगा और देश में अनेक राष्ट्रीय विद्यालय, विद्यापीठ, गुरुकुल आदि खोले गये। इस आन्दोलन के कारण भी जनता में शिक्षा की रुचि बढ़ चली। जैसा कि ऊपर कहा गया है सन् १९१७ से सन् १९२७ तक के दशक में प्राथमिक शिक्षा का अपेक्षाकृत अधिक पर्याप्त विकास हुआ। बम्बई म्यूनिसिपल बोर्ड ने सन् १९१८ में बम्बई प्राथमिक शिक्षा कानून पास कर दिया जिसके अनुसार प्रेसीडेन्सी की नगरपालिकाएँ कुछ प्रतिबन्धों के साथ अनिवार्य शिक्षा लागू कर सकती थीं। सन् १९१९ में बंगाल ने भी शहरों के लिये अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून पास कर दिया। आगे चलकर सन् १९३० में बंगाल प्राथमिक अनिवार्य शिक्षा (ग्रामीण) कानून भी पास हो गया। सन् १९१९ में ही पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार और उड़ीसा ने भी इस प्रकार के कानून पास किये। सन् १९२६ में उत्तरप्रदेश ने भी जिला बोर्ड प्राथमिक शिक्षा कानून स्वीकार

कर लिया। अन्य प्रान्तों ने भी कानून बनाकर प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य मान लिया। इन कानूनों के कारण प्राथमिक शिक्षा का अधिकार तथा नियंत्रण स्थानीय जिला बोर्डों और म्यूनिसिपल बोर्डों को मिल गया। इन बोर्डों ने स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार इस दिशा में प्रगति भी की। बोर्डों को शिक्षा-कर लगाने का भी अधिकार दिया गया तथा प्रान्तीय सरकारों ने भी इसके लिये बोर्डों को अनुदान देना स्वीकार किया। अधिकांश प्रान्तों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की अवस्था ६ वर्ष से १० वर्ष या ११ बर्ष तक रखी गई। केवल पंजाब में यह अवस्था ७ वर्ष से ११ वर्ष तक रही। अनिवार्य शिक्षा प्राय: निःशुल्क अथवा न्यूनतम शुल्क पर रखी गई। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप प्राथमिक स्कूलों की संख्या १९२१–२२ में १,६०,०७२ से बढ़कर १९२६–२७ में १,८९,३४८ हो गई।

हर्टाग समिति——राष्ट्रीय आन्दोलन तथा द्वैध-शासन से उत्पन्न परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिये सन् १९२७ में साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई। इसकी जाँच के क्षेत्रों में भारतीय शिक्षा भी थी अत: कमीशन ने एक उपसमिति–हर्टाग समिति की नियुक्ति की। इस उपसमिति ने अपनी (सन् १९२९ की) रिपोर्ट में प्राथमिक शिक्षा के विषय में निम्न बातें कहीं :——

१——सन् १९१७–२७ के दशक में भारतीय शिक्षा के प्रत्येक स्तर में पर्याप्ति उन्नति हुई है। किन्तु साक्षरता का विकास सन्तोषजनक नहीं है।

२——अतीत में प्राथमिक शिक्षा पर कम तथा उच्चशिक्षा पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया है।

३——प्राथमिक शिक्षा के विकास में अनेक कठिनाइयाँ हैं, जैसे:——

(अ) अधिकांश जनता गाँवों में रहती है; आने-जाने के साधनों का अभाव होने के कारण बालकों को स्कूल तक आने में कठिनाइयाँ होती हैं।

(आ) जनता निर्धन है, और कृषि मुख्य व्यवसाय है अत: बच्चे बालपन में ही कृषिकार्य में लगा दिये जाते हैं।

(इ) अशिक्षा, धार्मिक तथा जातीय रूढ़ियाँ, और मौसमी बीमारियाँ आदि जन-साधारण की शिक्षा में बाधक हैं।

(ई) प्रान्तीय सरकारों ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के कानून तो बना भी दिये हैं किन्तु इस दिशा में कोई सक्रिय कार्य नहीं किया है।

४——प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य साक्षरता तथा मताधिकार का समुचित प्रयोग करना सिखाना है किन्तु यह उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। इस असफलता

के दो मुख्य कारण हैं:—(१) अपव्यय (Waste), (२) अवरोधन (Stagnation)।

(१) अपव्यय (Waste) की परिभाषा देते हुए रिपोर्ट में कहा गया कि प्राइमरी शिक्षा के पूर्ण होने से पूर्व ही किसी भी कक्षा से बालकों को पढ़ने से हटा लेना अपव्यय है। ऐसी दशा में साक्षरता का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता क्यों कि जैसा कहा गया है साक्षरता के लिये कम-से-कम प्राइमरी शिक्षा का पूरा होना आवश्यक है। आगे कोई सुविधा न होने के कारण बालक जो कुछ थोड़ा पढ़-लिख लेता है उसको भूलकर फिर निरक्षर हो जाता है। इस प्रकार उस पर किया गया व्यय व्यर्थ हो जाता है।

(२) अवरोधन (Stagnation) की परिभाषा रिपोर्ट में दी गई 'एक ही कक्षा में बालक का १ वर्ष से अधिक रुक जाना।'

अपव्यय और अवरोधन के कारणों का विश्लेषण करते हुए समिति ने प्रमुख कारण निम्न प्रकार दिये :—

प्रशासकीय कारण—(अ) अनिवार्य शिक्षा का न होना, (आ) अनियमित प्रवेश तथा उपस्थिति, (इ) उचित निरीक्षण का अभाव, (ई) प्रौढ़-शिक्षा का कोई उचित प्रबन्ध न होना, (उ) कुछ प्राथमिक स्कूलों का असमय ही टूट जाना, (ऊ) स्कूलों का अनियमित वितरण आदि।

प्रशैक्षणिक कारण—(अ) शिक्षण का निम्नस्तर, (आ) शिक्षकों की कमी, (इ) शिक्षकों में आवश्यक योग्यता एवं प्रशिक्षण का अभाव, (ई) एक ही शिक्षक वाले अनेक स्कूल होना जहाँ शिक्षक बालकों का उचित शिक्षण नहीं कर पाते, (उ) दोषपूर्ण पाठ्यक्रम, (ऊ) उचित शिक्षण-साधनों का अभाव, (ए) स्थान की कमी।

आर्थिक तथा सामाजिक कारण—(अ) जन-साधारण द्वारा शिक्षा की उपेक्षा, (आ) निर्धनता के कारण बालकों को कम आयु में ही काम में लगा देना, (इ) बालक-बालिकाओं के लिये अलग-अलग स्कूलों की माँग, (ई) धर्म एवं जाति के भेद के कारण विभिन्न स्कूलों की माँग आदि।

इस विवेचन के बाद समिति ने दोषों को दूर करने के लिए निम्नलिखित सिफारिशें रखीं:—

१—शिक्षा को ठोस करने की नीति अपनाई जाये। जिन स्कूलों में उचित शिक्षा-व्यवस्था नहीं है उनको समाप्त कर दिया जाये।

२—पाठ्यक्रम को अधिक उदार एवं उपयुक्त बनाया जाये जिससे वह व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित हो जाये। स्कूल का समय, छुट्टियाँ और कार्य-क्रम स्थानीय ऋतु और आवश्यकताओं के अनुकूल रखे जायें।

३—प्राइमरी शिक्षा की न्यूनतम अवधि ४ बर्ष की रहे।

४—शिक्षकों के लिये उचित शिक्षा, प्रशिक्षण, तथा रिफ्रेशर कोर्सों की व्यवस्था की जाये। उनको पर्याप्त वेतन दिया जाये तथा नौकरी की दशाओं को सुधारा जाये।

५—प्रारम्भिक कक्षाओं पर अधिक ध्यान दिया जाये और उनमें पाये जाने-वाले अपव्यय और अवरोधन को रोकने का प्रयत्न किया जाये।

६—निरीक्षण की पर्याप्त व्यवस्था के हेतु निरीक्षकों की संख्या बढ़ा दी जाये।

७—प्राथमिक शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय सरकार का उत्तरदायित्व अधिक होना चाहिये और उसे पूर्णतः बोर्डों के ऊपर ही नहीं छोड़ देना चाहिये।

८—अनिवार्य शिक्षा-योजना को अच्छी प्रकार सोच-विचार के बाद धीरे-धीरे आरम्भ करना चाहिये।

९—प्रारम्भिक स्कूलों में ग्राम-सुधार का कार्य भी हो और सफाई, स्वास्थ्य, आत्मविश्वास आदि गुणों को विकसित किया जाये तथा उन्हें साधारण चिकित्सा, प्रौढ़-शिक्षा एवं मनोविनोद का भी केन्द्र बना दिया जाये।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इन सिफारिशों के आधार पर शिक्षा को अधिक ठोस और उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा। इससे सरकारी विभाग को एक बहाना मिल गया और शिक्षा का विस्तार रुक गया। शिक्षा-विभागों की नीति इन सिफारिशों के आधार पर बनने लगी। भारतीय जनता का समर्थन इस नीति को प्राप्त न हो सका। सन् १९३०—३१ के आर्थिक संकट का भी इस पर विशेष प्रभाव पड़ा और प्राथमिक शिक्षा का प्रसार उचित रूप से न हो पाया।

हर्टाग समिति की सिफारिशों के फलस्वरूप सन् १९३५ में पुनः केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड की स्थापना हुई। सन् १९३५ में ही बोर्ड की प्रथम मीटिंग में बोर्ड ने शिक्षास्तरों का उचित वर्गीकरण करने का प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव में शिक्षा के निम्नलिखित स्तरों को रखने का सुझाव दिया गया और उनके सहलिखित उद्देश्य रखे गये:—

(१) प्रारम्भिक स्तर—यह स्तर कुछ सामान्यशिक्षा की सुविधा एवं स्थायी साक्षरता प्रदान करे।

(२) निम्नसाध्यमिक स्तर—यह उच्चशिक्षा या विशेष व्यावहारिक शिक्षा के लिये सामान्य शिक्षा का एक स्वतःपूर्ण पाठचक्रम दे। ग्रामीण क्षेत्रों में इसके पाठचक्रम स्थानीय आवश्यकताओं से सम्बन्धित रहें।

(३) उच्चमाध्यमिक स्तर—इसमें विभिन्न अवधि के पाठ्यक्रमवाले शिक्षालय सम्मिलित हों। इनका वर्णन यथाप्रसंग माध्यमिक शिक्षा के साथ किया जायेगा।

इनके अतिरिक्त बोर्ड ने यह सुझाव भी दिया कि प्रथम सरकारी परीक्षा निम्नमाध्यमिक स्तर के बाद होनी चाहिये। बोर्ड ने शिक्षा के इस पुनःसंगठन के विषय में दक्ष व्यक्तियों से सलाह लेने का भी सुझाव रखा।

वुड-एबट कमीशन—बोर्ड के प्रस्ताव के अनुसार भारतीय सरकार ने सन् १९३६ में वुड-एबट कमीशन की नियुक्ति की। जून सन् १९३७ में इनकी रिपोर्ट सरकार के सम्मुख प्रस्तुत हुई। रिपोर्ट के दो भाग हैं—(१) सामान्य शिक्षा पर श्री वुड की रिपोर्ट, (२) व्यावसायिक शिक्षा पर श्री एबट की रिपोर्ट। सामान्य शिक्षा तथा संगठनवाले प्रतिवेदन में प्राथमिक-शिक्षाविषयक निम्नलिखित बातें कही गईं :—

१—बाल-कक्षाओं को यथासम्भव प्रशिक्षित अध्यापकों को ही पढ़ाने को दिया जाये।

२—अध्यापिकाओं की आवश्यक संख्या प्राप्त करने के लिये तथा अन्य कारणों से भी बालिकाओं तथा स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाये।

३—प्राथमिक स्तर पर पाठ्यक्रम बालकों की स्वाभाविक रुचि तथा स्फूर्ति के आधार पर बनाया जाये। पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा क्रियात्मक साधनों द्वारा शिक्षा दी जाये।

४—ग्रामीण मिडिल स्कूलों का पाठ्यक्रम बालकों के वातावरण से सम्बन्धित हो अर्थात् उसे ग्रामीण आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल रखा जाये।

५—शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो और मिडिल स्कूलों में यदि किसी बालक को अंग्रेजी पढ़ाई भी जाये तो वह साधारण रूप में ही रहे।

६—आर्ट और क्राफ्ट के शिक्षण पर अधिक ध्यान दिया जाये और इनको प्राथमिक और माध्यमिक पाठ्यक्रम में स्थान मिले।

७—प्राथमिक तथा मिडिल स्कूल के शिक्षकों के लिये मिडिल पास करने के पश्चात् ही तीन वर्ष का प्रशिक्षण पाठ्यक्रम रखा जाये।

किन्तु जैसा ऊपर संकेत किया गया है सन् १९२७—३७ ई० के दशक में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति सन्तोषजनक नहीं हुई। इसके कई कारण थे, जिनमें १९३०—३१ का आर्थिक संकट तथा हर्टाग समिति की सिफारिशें मुख्य थे। शिक्षा की श्रेष्ठता बढ़ाने और उसे ठोस करने का बहाना लेकर शिक्षाधिकारियों ने शिक्षा

के विकास में रोड़ा अटकाया। फलतः अनिवार्य शिक्षा के कानून भी केवल कागजी कानून रहे। स्थानीय बोर्ड झगड़े और दलबंदी के कारण शिक्षा-कर लगाने से हिचकते थे। बोर्ड-सदस्यों का शिक्षाविषयक अज्ञान, निरीक्षण का अभाव, अध्यापकों की आर्थिक दुर्दशा, देश की निर्धनता आदि अन्य कारण भी इसमें बाधक रहे। इन कारणों से अनिवार्य शिक्षा एक स्वप्नमात्र होकर रह गई और प्राथमिक शिक्षा की समस्या हल नहीं हुई। सन् १९३५ में बृटिश सरकार ने एक नये शासन-विधान के अनुसार भारत के प्रान्तों में स्वायत्त-शासन और केन्द्र में संघ-शासन की स्थापना की।

सन् १९३७ से सन् १९४७ तक का दशक प्राथमिक शिक्षा के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सन् १९३५ के विधान के अनुसार सन् १९३७ में प्रान्तों में स्वायत्त-शासन की स्थापना हो गई। ग्यारह बड़े प्रान्तों में उत्तरदायी सरकारें बन गईं जिनमें सात में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बने। उस समय तक शिक्षा का महत्त्व सर्वविदित हो गया था। देश के नेताओं तथा शिक्षाशास्त्रियों को शिक्षा के संगठन, विकास तथा उत्थान के लिये कार्य करने का अवसर मिला। देश के शिक्षा-क्षेत्र में एक नई जागृति आई। प्राथमिक शिक्षा-क्षेत्र में अनेक योजनायें बनने लगीं। इसी समय महात्मा गान्धी ने बेसिक शिक्षा की नींव डाली। आगे बढ़ने के पूर्व उसको थोड़े-से विस्तार के साथ समझ लेना उचित होगा।

बेसिक शिक्षा

महात्मा गान्धी अपने पत्र 'हरिजन' में बहुत दिनों से अपने शिक्षाविषयक विचारों को प्रकाशित करते आ रहे थे। सन् १९३७ में उन्होंने कुछ क्रमबद्ध लेखों में अपने विचारों को प्रकट किया। २२, २३ अक्टूबर १९३७ को मारवाड़ी शिक्षासमिति द्वारा संचालित, मारवाड़ी हाईस्कूल, वर्धा की रजत-जयंती होने जा रही थी। इस अवसर पर एक अखिलभारतीय राष्ट्रीय शिक्षासम्मेलन का आयोजन किया गया। महात्मा गान्धी को इसका सभापति बनाया गया। सम्मेलन में महात्मा गान्धी ने देश के शिक्षाविशारदों के सम्मुख अपने शिक्षा विषयक विचारों को प्रकट किया। ये विचार चार प्रस्तावों के रूप में रखे गये :—

१—राष्ट्र के प्रत्येक बच्चे को अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा सात वर्ष की अवधि तक दी जाये।

२—शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो क्योंकि अंग्रेजी माध्यम होने के कारण जनसमूह शिक्षा से वंचित रह जाता है।

३—विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिये शिक्षा किसी उत्पादक व्यवसाय के माध्यम से दी जाये। अन्य विषय इस केन्द्रीय व्यवसाय से सम्बन्धित कर

दिये जायें। व्यवसाय अथवा हस्तकार्य बालक के वातावरण से ही चुना जाये।

४—सम्मेलन को आशा है कि शिक्षा के इस ढंग से अध्यापकों का वेतन निकलने लगेगा।

इन प्रस्तावों को स्वीकार करके सम्मेलन ने इनको व्यावहारिक रूप देने के लिये एक समिति नियुक्त कर दी। जामिया मिलिया इस्लामिया, देहली के आचार्य डाँ० जाकिरहुसैन इस समिति के अध्यक्ष बनाये गये। इस समिति ने दिसम्बर १९३७ तथा अप्रैल १९३८ में दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। प्रथम प्रतिवेदन में वर्धा-योजना के मूल सिद्धान्त, उद्देश्य, अध्यापक एवं उनका प्रशिक्षण, निरीक्षण, संगठन, और प्रशासन तथा कताई-बुनाई का विस्तृत पाठ्यक्रम आदि का वर्णन किया गया। द्वितीय प्रतिवेदन में सभी विषयों के पाठ्यक्रम तथा उसको आधारभूत व्यवसाय से सम्बन्धित करने की विधियों पर प्रकाश डाला गया। इसी बीच फर्वरी सन् १९३८ में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में भी वर्धा-योजना को अधिकृत रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार यह एक अखिलभारतीय शिक्षा-योजना के रूप में देश के सम्मुख प्रस्तुत हो गई।

योजना की रूपरेखा

जिन प्रतिवेदनों का ऊपर के अनुच्छेद में वर्णन किया गया है उनमें इस योजना की रूपरेखा निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की गई :—

पाठ्यक्रम—बेसिक शिक्षा की अवधि सात वर्ष की रहे और सात वर्ष से लेकर चौदह वर्ष तक की बालक-बालिकाओं के लिए इसकी निःशुल्क एवं अनिवार्य व्यवस्था की जाये। अंग्रेजी को छोड़कर माध्यमिक शिक्षा (हाईस्कूल) के सभी विषय इसमें सम्मिलित रहें। इन सब विषयों की शिक्षा एक आधारभूत व्यवसाय के माध्यम से दी जाये। शिक्षण का माध्यम मातृभाषा रहे परन्तु राष्ट्रभाषा—हिन्दुस्तानी—का अध्ययन सभी छात्र-छात्राओं के लिये अनिवार्य रहे। पाँचवीं कक्षा तक लड़के तथा लड़कियाँ साथ-साथ पढ़ें। पाँचवीं कक्षा के उपरान्त लड़कियों के पाठ्यक्रम में "गृह-विज्ञान" यह एक विषय और जोड़ दिया जाये। आधारभूत कौशलों के रूप में कताई-बुनाई, लकड़ी का काम, कृषि, चर्मकारी, उद्यान-कला, कुम्हारी, मछली-पालन आदि तथा पाठ्यविषयों के रूप में मातृभाषा, गणित, सामाजिक विज्ञान, सामान्य विज्ञान, कला, व्यायाम तथा राष्ट्रभाषा रहें।

अध्यापन-विधि :—अध्यापन, क्रियाओं तथा अनुभवों के माध्यम से, किया जाये। प्रथम कक्षा में बालक मातृभाषा का मौखिक ज्ञान करे और तदनन्तर पढ़ना और अन्त में लिखना सीखे। आधारभूत कौशल की जानकारी भी साथ-साथ

होती चले। अन्य विषयों की शिक्षा स्वतन्त्ररूप से न होकर आधारभूत कौशल के माध्यम से दी जाये। प्रत्येक विषय का जो अंश आधारभूत कौशल के माध्यम से न पढ़ाया जा सके उसे अन्य विधि से पढ़ा दिया जाये। सभी विषय परस्पर-सम्बद्ध ज्ञान-क्षेत्रों के रूप में बालक के सम्मुख प्रस्तुत किये जायें।

अध्यापक—इस शिक्षा के लिये प्रशिक्षित अध्यापक रखे जायें। अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये एक स्थायी तथा एक अस्थायी व्यवस्था की जाये। स्थायी व्यवस्था में प्रशिक्षण-काल तीन वर्ष तथा अस्थायी व्यवस्था में एक वर्ष रहे। प्रशिक्षण में आनेवाले अध्यापक ऐसे हों जिन्होंने या तो हाईस्कूल पास कर लिया हो या वे मिडिल पास करने के उपरान्त दो वर्ष शिक्षण कार्य कर चुके हों।

(अस्थायी प्रशिक्षण-व्यवस्था योजना को शीघ्रातिशीघ्र लागू कर देने के विचार से की गई थी और उसका पहला प्रशिक्षण-केन्द्र वर्धा में ही स्थापित किया गया था)

नामकरण का कारण

इस शिक्षा-प्रणाली को "बेसिक शिक्षा" यह नाम देने के निम्नलिखित कारण थे:—

१—यह शिक्षा भारतीय राष्ट्र की सम्पूर्ण सभ्यता, संस्कृति तथा शिक्षा-संघटन का आधार होगी।

२—यह समस्त भारतीयों को वह आधारभूत ज्ञान प्रदान करेगी जो उनके लिये अपने वातावरण को बुद्धिमत्तापूर्वक समझने तथा प्रयोग करने के लिये आवश्यक है।

३—इसका मध्यबिन्दु कोई आधारभूत कौशल होगा जो व्यक्ति को जीवन-निर्वाह की क्षमता देगा।

४—यह बालक की आधारभूत आवश्यकताओं तथा रुचियों के अनुकूल होगी तथा देश के प्रमुख व्यवसायों से सम्बन्धित रहेगी।

बेसिक शिक्षा की विशेषतायें

इस शिक्षा के समर्थकों ने इसकी निम्नलिखित विशेषतायें बताई :—

१—शिक्षा का माध्यम एक आधारभूत कौशल होगा। उत्पादक कार्य द्वारा शिक्षा देने से बालक की शिक्षा उसके वास्तविक जीवन से सम्बद्ध हो जायेगी। इससे बालक का शरीर तथा मन दोनों शिक्षित होंगे और उसके व्यक्तित्व का समन्वित विकास होगा। इसका उद्देश्य साहित्यिक शिक्षा के साथ किसी कौशल की शिक्षा देना नहीं है अपितु सम्पूर्ण शिक्षा को कौशल पर आधारित करना है। इससे बालक श्रम के महत्त्व को भली प्रकार समझ सकेगा।

२—इस शिक्षा की योजना आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होगी। इसमें बालकों के श्रम से ही शिक्षकों का वेतन निकल आयेगा। इस प्रकार भारत जैसा निर्धन देश सरकारी सहायता के बिना प्राथमिक शिक्षा का प्रसार कर सकेगा। स्वयं स्वावलम्बी होने के साथ-साथ यह शिक्षा शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त बालक को भी समाज का एक स्वावलम्बी सदस्य बना देगी।

३—इसमें शारीरिक श्रम के गौरव पर विशेष बल दिया गया है। इसको प्राप्त करने के उपरान्त प्रत्येक बालक अपनी जीविका कमाने योग्य हो सकेगा और इस प्रकार वह समाज की एक उत्पादक एवं लाभकारी इकाई बन सकेगा। जीविकोपार्जन-योग्यता प्राप्त करने में उसमें आवश्यक सामाजिक गुणों का भी विकास होगा।

४—यह शिक्षा अहिंसा पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम से अपनी जीविका कमाना सीखेगा। इसमें दूसरों की जीविका छीननेवाले यन्त्रों का प्रयोग नहीं होगा। अपने शोषणशून्य परिश्रम पर आस्थावान् बनाकर यह बालक में स्वावलम्बन, आत्मगौरव तथा सहयोगिता आदि गुणों का विकास करेगी।

५—इस शिक्षा का केन्द्र बालक होगा। शिक्षा उसके वर्त्तमान एवं भावी जीवन से पूर्णतः सम्बन्धित होगी। इसमें बालक अपने घर, स्कूल, गाँव, नगर, प्रान्त, तथा देश के प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के निरीक्षण और उसकी शब्दमयी अभिव्यक्ति द्वारा अपने-आपको इनके अनुकूल बना सकेगा। इस शिक्षा का आधार ही यह होगा कि व्यक्ति शारीरिक, साहित्यिक, कलात्मक, तथा व्यावहारिक शिक्षा द्वारा अपने वातावरण को समझ सके और उसके प्रति उचित प्रतिक्रिया कर सके।

आलोचना

जिस समय यह शिक्षा-योजना देश के सम्मुख प्रस्तुत हुई तो इसकी बड़ी व्यापक आलोचना हुई। शिक्षाशास्त्र-विशारदों ने इसमें निम्नलिखित दोष दिखाये :—

१—शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने की योजना हानिकारक एवं अव्यावहारिक है। उससे स्कूल फैक्टरी बन जायेंगे जिनमें बालक का शोषण होगा और साथ ही उनके द्वारा तैयार किया हुआ माल कुशल कारीगरों के माल की तुलना में भद्दा होगा और उसकी खपत नहीं होगी।

२—प्रत्येक विषय को आधारभूत कौशल के माध्यम से पढ़ाना सम्भव नहीं है। इससे साहित्यिक शिक्षा नीरस हो जायेगी और अन्य विषयों पर ध्यान कम दिया जायेगा।

३—इसमें आधारभूत कौशल को इतना अधिक महत्त्व (५ घण्टा ३० मिनट के कार्यक्रम में ३ घण्टा २० मिनट) दिया गया है कि इसके द्वारा बालक की एकांगी उन्नति ही होगी।

४—योजना में केवल गाँवों की आवश्यकता का ध्यान रखा गया है शहरों की आवश्यकता का नहीं। साथ ही इसमें बालिकाओं की शिक्षा का भी उतिच ध्यान नहीं रखा गया है।

५—इसकी योजना वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली से बिलकुल मेल नहीं खाती।

६—शिक्षा में धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया गया है।

महात्मा गान्धी और जाकिरहुसैन समिति के सदस्यों ने इन आलोचनाओं का पूर्ण रूप से उत्तर देकर लोगों की शंकाओं का समाधान किया।

जाकिरहुसैन समिति के प्रतिवेदनों के प्रकाशित हो जाने पर सन् १९३८ में बेसिक शिक्षा-योजना प्रमुख कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल वाले प्रान्तों में सरकारी तौर पर लागू कर दी गई। ये प्रान्त बिहार, बम्बई, मध्यप्रान्त, उड़ीसा तथा उत्तरप्रदेश थे। अनेक बेसिक स्कूल खोले गये, बेसिक अध्यापकों के लिये प्रशिक्षण-केन्द्र खुले, रिफ्रेशर कोर्स की व्यवस्था की गई, तथा बेसिक शिक्षा के लिये विशेष अफसरों की नियुक्ति की गई। मध्यप्रान्त में अनेक विद्यामन्दिर स्कूल इसी योजना के अनुसार खोले गये। उत्तरप्रदेश में भी बेसिक ट्रेनिंग केन्द्र खुले, बेसिक शिक्षा सरकारी नीति मान ली गई और सभी प्रारम्भिक कक्षाओं में बेसिक पाठ्यक्रम लागू कर दिया गया। बिहार प्रान्त में भी कार्य जोरशोर से आरम्भ हुआ और बेसिक शिक्षा सरकारी नीति बन गई। किन्तु जैसा कहा जा चुका है सन् १९३९ में द्वितीय विश्व-महायुद्ध के अवसर पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र देने के कारण यह योजना खटाई में पड़ गई और सरकार ने इसे अव्यावहारिक कहकर त्याग दिया।

बेसिक योजना और केन्द्रीय सरकार

जाकिरहुसैन समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हो जाने पर केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड ने वुड-एबट रिपोर्ट के साथ-साथ बेसिक योजना की भी जाँच-पड़ताल की। बोर्ड ने बेसिक योजना पर विस्तृत रिपोर्ट देने के लिये सन् १९३८ ई० में बम्बई के मुख्यमन्त्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति

की। इस प्रथम खेरसमिति ने बेसिक योजना की जाँच-पड़ताल करके निम्नलिखित रिपोर्ट दी :—

(१) बेसिक शिक्षा-योजना को सर्वप्रथम ग्रामीण क्षेत्रों में लागू किया जाये।

(२) अनिवार्य आयु ६ वर्ष से १४ वर्ष तक रखी जाये, किन्तु ५ वर्ष के बालक भी बेसिक स्कूलों में प्रवेश पा सकें।

(३) बालकों को बेसिक स्कूलों से अन्य प्रकार के स्कूलों में जाने की अनुमति कक्षा ५ अथवा ११ वर्ष की आयु के बाद ही दी जाये।

(४) शिक्षा का माध्यम बालक की मातृभाषा हो।

(५) भारत के लिये एक सामान्य भाषा की आवश्यकता है। यह भाषा हिन्दुस्तानी हो और जिसके लिये उर्दू और हिन्दी लिपियाँ प्रयोग की जा सकें।

(६) बेसिक योजना, वुड-एबट रिपोर्ट के मुख्य प्रस्ताव अर्थात् 'शिक्षा कार्य द्वारा दी जाये' से पूर्ण मेल खाती है। छोटी कक्षाओं में कई प्रकार की क्रियाओं द्वारा शिक्षा दी जाये और आगे चलकर एक ऐसे बेसिक कौशल में केन्द्रीभूत हो जाये, जिसका उत्पादन बेंचा जा सके और जिसकी आय स्कूल चलाने के काम आये।

(७) सांस्कृतिक विषयों के कुछ भाग जो बेसिक कौशल द्वारा सम्बन्धित करके नहीं पढ़ाये जा सकते, स्वतन्त्र रूप से पढ़ाये जायें।

(८) शिक्षकों के प्रशिक्षण को पुनःसंगठित किया जाये और उनके पद को ऊँचा उठाया जाये।

(९) किसी भी बेसिक शिक्षक को २० (बीस) रु० माहवार से कम वेतन न दिया जाये।

(१०) स्त्री-शिक्षिकाओं को भर्ती करने का प्रयत्न किया जाये तथा पढ़ी-लिखी सुशिक्षित लड़कियों को शिक्षण-कार्य में आने के लिये आकर्षित किया जाये।

(११) बेसिक स्कूल तभी खोले जायें, जब कि उचित-प्रशिक्षण-प्राप्त शिक्षक मिल सकें।

(१२) अनुभव के आधार पर पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार किया जाता रहे।

(१३) अंग्रेजी को बेसिक स्कूलों में वैकल्पिक विषय न रखा जाये।

(१४) वर्त्तमान की भाँति सरकार प्रत्येक धर्मवालों को अपनी संस्थाओं में चाहने पर धार्मिक शिक्षा देने की सुविधा दे, किन्तु सरकारी व्यय से नहीं।

(१५) बेसिक पाठचक्रम के अन्त में किसी वाह्य परीक्षा की आवश्यकता नहीं है। आन्तरिक परीक्षा के आधार पर एक प्रमाण-पत्र (स्कूल-लीविंग सार्टीफिकेट) दे दिया जाये।

(१६) जो बालक कक्षा ५ के बाद अन्य स्कूलों में जाना चाहें उन्हें भी इस प्रकार का प्रमाण-पत्र दिया जाये।

(१७) एक कक्षा से दूसरी कक्षा में चढ़ाने का निश्चय स्कूल स्वयं आन्तरिक परीक्षाओं के आधार पर करे। इन परीक्षाओं के फल का निरीक्षण निरीक्षक भी करते रहा करें।

सन् १९४० में केन्द्रीय शिक्षा बोर्ड ने पुनः श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में दूसरी समिति बेसिक योजना के पाठ्यक्रम, उच्चशिक्षा से इसका सम्बन्ध, तथा आर्थिक समस्याओं आदि की जाँच-पड़ताल के लिये नियुक्त की। इसको "द्वितीय वर्धा शिक्षा-समिति" भी कहते हैं। इस समिति की रिपोर्ट में निम्नलिखित मुख्य बातें थीं :—

१—बेसिक पूर्ववर्ती शिक्षा अत्यन्त वाञ्छनीय है किन्तु आर्थिक साधनों एवं प्रशिक्षित स्त्री-शिक्षकों के अभाव के कारण अभी नर्सरी स्कूल तथा शिशुविद्यालयों का प्रबन्ध सम्भव नहीं है और सरकार इस स्तर की शिक्षा के अनिवार्य करने की अवस्था में नहीं है। प्रान्तीय सरकारों को चाहिये कि वे—

(अ) कुछ प्रमुख केन्द्रों में आदर्श शिशुविद्यालय तथा नर्सरी स्कूल खोलें।

(आ) शिशुविद्यालयों के लिये उचित ढंग से प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या में वृद्धि करें। ये शिक्षक मुख्यरूप से महिलायें हों।

(इ) बेसिक विद्यालयों में अनिवार्य आयु से कम अवस्था के बालकों के प्रवेश को उत्साहित करें।

(ई) बेसिक-पूर्ववर्ती शिक्षा के लिये गैरसरकारी प्रयासों को उत्साहित करें।

२—बेसिक स्कूलों का पाठ्यक्रम आठ वर्षों का अर्थात् ६ वर्ष से १४ वर्ष तक के बालकों के लिये रखा जाये। पाठ्यक्रम की एकता को बनाये रखते हुए इस अवधि के दो भाग कर दिये जायें:—(१) निम्न बेसिक स्तर, जो ६ वर्ष से ११ वर्ष के बालकों के लिये ५ वर्ष का पाठ्यक्रम हो, और (२) उच्च-बेसिक स्तर, जो ३ वर्ष का पाठ्यक्रम हो।

३—बेसिक शिक्षा के निम्नस्तर की समाप्ति पर ही बालक अन्य उच्चस्तर संस्थाओं में प्रवेश के लिये जाने पायें।

४—उच्चबेसिक स्कूलों के अतिरिक्त, अन्य उच्च विद्यालय, जहाँ निम्न-बेसिक शिक्षा के पश्चात् योग्य बालक प्रवेश पा सकें, विभिन्न पाठ्यक्रमों के शिक्षण

की सुविधा प्रदान करें। यह पाठ्यक्रम कम-से-कम ५ वर्ष के अर्थात् ११ वर्ष से १७ वर्ष तक के बालको के लिये हो। सांस्कृतिक पक्ष को मुख्यरूप से सुरक्षित रखते हुये ये विद्यालय बालकों को विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों तथा विश्व-विद्यालयों के लिये प्रस्तुत करें।

५——इन स्कूलों में इस प्रकार की सुविधा होनी चाहिये कि यदि कोई बालक सम्पूर्ण बेसिक शिक्षा अर्थात् उच्च बेसिक पाठचक्रम समाप्त कर अपना अध्ययन जारी रखना चाहे तो उसे इनमें प्रवेश मिल सके।

६——उच्चबेसिक पाठचक्रम में लड़कियों के लिये उपयोगी पाठचक्रम रखा जाये जिसमें भोजन बनाना, वस्त्र धोना, सीना-पिरोना, गृह-व्यवसाय, बालकों की देखभाल और प्रारम्भिक चिकित्स आदि सम्मिलित हों और अन्य विषयों की शिक्षा गृह-विज्ञान की शिक्षा के साथ बेसिक शिक्षा योजना के अनुसार ही सम्बन्धित हो।

७——प्रत्येक प्रान्त में, बेसिक विद्यालयों में बनाई गई क्रय-विक्रययोग्य वस्तुओं की खपत के लिये एक केन्द्रीय संस्था बनाई जाये।

८——केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड एक स्थायी समिति द्वारा बेसिक शिक्षा के प्रयोगों और उसकी उन्नति की जाँच करता रहे तथा केन्द्रीय सरकार प्रत्येक प्रान्त को बेसिक शिक्षा पर होनेवाले व्यय का आधा भाग दे।

केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड ने खेर समिति की अधिकांश सिफारिशों को मान लिया। जैसा हम आगे देखेंगे इन सिफारिशों का भारतीय शिक्षा पर बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ा है। युद्ध-काल में भी सरकार शिक्षा के प्रति पूर्णतः उदासीन और निष्क्रिय न रही। शिक्षा के विकास और उसकी उन्नति के प्रयत्न जारी रहे। जैसे-जैसे भारतीय सरकार को युद्ध में अपनी विजय का निश्चय होने लगा, वैसे-वैसे सरकार को पुर्ननिर्माण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। वायसराय की कौंसिल ने एक पुर्ननिर्माण समिति की नियुक्ति की और उसे युद्धोत्तर योजनायें बनाने का कार्य सौंप दिया। इस समिति ने युद्धोत्तर- शिक्षा-योजना का कार्य केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड को सौंप दिया। सन् १९४४ के आरम्भ में केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने भारत के लिये अपनी युद्धोत्तर-शिक्षा-पुर्ननिर्माण योजना प्रकाशित की। इस योजना का प्रचलित नाम 'सार्जेण्ट योजना' है, क्योंकि श्री जॉन साजण्ट, जो उस समय भारत सरकार के शिक्षा-सलाहकार थे, इस योजना के मुख्य निर्माता थे।

सार्जेण्ट योजना, सन् १९४४——यह योजना भारत में 'युद्धोत्तर-शिक्षा-विकास-योजना' के नाम से प्रकाशित हुई और इसमें केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार

बोर्ड द्वारा प्रकाशित विभिन्न प्रतिवेदनों का समावेश किया गया। यह योजना सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिये शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिये अत्यन्त विस्तृत एवं विशद दृष्टिकोण से तैयार की गई थी। इस योजना का उद्देश्य कम-से-कम ४० वर्षों में शिक्षा के उस स्तर को प्राप्त करना रखा गया जो तत्कालीन इंग्लैण्ड में पहुँच चुका था। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में योजना की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं :—

(१) तीन वर्ष से छः वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिये प्राथमिक-पूर्ववर्ती शिक्षा का प्रबन्ध नर्सरी स्कूलों में हो। कम-से-कम १० लाख बच्चों की इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाये।

(२) पांच या छः वर्ष से १४ वर्ष तक के सभी बच्चों के लिये अनिवार्य, सार्वजनिक तथा निःशुल्क बेसिक अथवा प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था हो। इस शिक्षा के दो भाग हों:–(१) निम्नबेसिक ६ वर्ष से ११ वर्ष तक, और (२) उच्चबेसिक ११ वर्ष से १४ वर्ष तक। निम्नबेसिक शिक्षा सभी के लिये अनिवार्य हो और उच्चबेसिक उनके लिये हो जो उच्चस्तर शिक्षा में नहीं जाना चाहते।

(३) नर्सरी स्कूलों और कक्षाओं में स्त्री-शिक्षिकायें रखी जायें। इसके लिये प्रशिक्षित स्त्री-शिक्षिकाओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की आवश्यकता होगी।

(४) बेसिक-पूर्ववर्ती तथा निम्नबेसिक स्कूलों में प्रति ३० विद्यार्थियों के लिये एक शिक्षक तथा उच्चबेसिक में प्रति २५ विद्यार्थियों के लिये एक शिक्षक हो।

(५) प्राथमिक शिक्षा-क्षेत्र में बेसिक योजना खेर समिति के प्रतिवेदनों के अनुसार कुछ परिवर्तनों को करते हुए अपनायी जाये।

(६) बालकों के लिये अनिवार्य शारीरिक शिक्षा, उचित डाक्टरी जाँच और आवश्यक चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाये। ६, ११ और १४ वर्ष की अवस्था पर बालकों की पूर्ण डाक्टरी जाँच हो। स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन, व्यायाम, स्वच्छता आदि पर पूर्ण ध्यान दिया जाये।

(७) कम बुद्धि, अन्धे, गूँगे, बहरे और मानसिक एवं शारीरिक कठिनाइयों से पीड़ित बालकों के लिये विशेष प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाये।

(८) योजना के अनुसार बेसिक-पूर्ववर्ती शिक्षा के लिये ३३,३३३ शिक्षक, निम्नबेसिक शिक्षा के लिये ११,९६,२०० शिक्षक, उच्चबेसिक के लिये ६,२५,५६० तथा हाईस्कूलों की जूनियर कक्षाओं के लिये ८१,३२० शिक्षक आवश्यक थे। उसमें इनके प्रशिक्षण के लिये तीन विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना आवश्यक बताई गई:—(अ) बेसिक-पूर्ववर्ती-शिक्षक-प्रशिक्षण

विद्यालय, (ब) बेसिक शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालय, तथा (३) हाईस्कूल की जूनियर कक्षाओं के लिये अण्डरग्रेजुएट शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालय। इनके लिये समय-समय पर रिफ्रेशर कोर्स की भी व्यवस्था आवश्यक होगी, ऐसा भी रिपोर्ट में कहा गया। सभी प्रकार की शिक्षा की प्रभावोत्पादकता शिक्षकों पर निर्भर है अतः उनको उचित वेतन और सुविधायें देने की आवश्यकता की ओर भी रिपोर्ट में ध्यान आकृष्ट किया गया।

केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड ने सार्जेण्ट योजना को स्वीकार कर लिया और उसको क्रियान्वित करने का काम आरम्भ हो गया। प्रान्तों ने भी अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया। स्वीकृत योजनाओं पर केन्द्रीय सरकार ने भी प्रान्तों को आधा व्यय देना स्वीकार कर लिया।

इधर राष्ट्रीय नेता भी निष्क्रिय न थे। सन् १९४५ में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की बैठक हुई जिसमें बेसिक शिक्षा की प्रगति पर विचार किया गया। इसी बैठक में बेसिक शिक्षा का नाम बदलकर "नई तालीम" कर दिया गया। नई तालीम के निम्नलिखित चार भाग कर दिये गये :—(१) बेसिक-पूर्ववर्ती, (२) बेसिक, (३) बेसिकोत्तरवर्ती, (४) प्रौढ़-शिक्षा। कांग्रेस की राष्ट्रीय योजना समिति ने भी बेसिक शिक्षा का समर्थन किया। सन् १९४७ में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, वर्धा ने बेसिक शिक्षा का एक पूर्ण विस्तृत पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सभी प्रान्तों में प्रायः यह पाठ्यक्रम लागू कर दिया गया। इस प्रकार भारत की वर्त्तमान प्राथमिक शिक्षा की आधारशिला बेसिक शिक्षा हो गई।

स्वातन्त्र्योत्तर-काल में—सार्जेण्ट योजना की साधारण रूपरेखा स्वीकार करते हुए भी भारत के नेता उसमें निश्चित ४० वर्ष की लम्बी अवधि से सन्तुष्ट न थे। इसलिये जनवरी सन् १९४८ में श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि सर्वव्यापी अनिवार्य बेसिक शिक्षा देश में सोलह वर्षों के भीतर दो पंचवर्षीय तथा एक षड्-वर्षीय योजनाओं द्वारा लागू की जा सकती है। उसने यह भी सुझाव दिया कि पहले दो पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा छः वर्ष से ग्यारह वर्ष तक के बच्चों के लिये बेसिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाये और फिर अन्तिम षड्वर्षीय योजना द्वारा अनिवार्यता की सीमा चौदह वर्ष तक बढ़ा दी जाये। इस प्रकार चालीस वर्ष के स्थान पर सोलह वर्ष में ही सर्वव्यापी प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्य को पूरा करने की दिशा में योजना-आयोग प्रयत्नशील हो रहा है। आशा की जाती है कि प्रथम

पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर देश में छः वर्ष से ग्यारह वर्ष तक की आयु के बच्चों के साठ प्रतिशत के लिये कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था हो जायेगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति आशातीत रूप में हुई है और आगे भी हो रही है। सभी राज्य प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य तथा निःशुल्क बनाने की योजना को कार्यान्वित करने में लगे हुये हैं। वर्तमान प्राथमिक विद्यालयों को बेसिक विद्यालयों का रूप दिया जा रहा है। भारत के संविधान में भी छः से चौदह वर्ष तक के बालक-बालिकाओं के लिये दस वर्ष में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा देने का प्रबन्ध करने की बात स्वीकार की गई है और भारत सरकार ने भी अपनी शिक्षा-नीति में घोषित कर दिया है कि देश की प्राथमिक शिक्षा बेसिक प्रकार की होनी चाहिये। फलतः देश में नये-नये बेसिक विद्यालय भी खुलते जा रहे हैं। प्राथमिक बेसिक शिक्षा पर होनेवाले व्यय में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। अध्यापकों के प्रशिक्षण पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। सन् १९५५ के कांग्रेस अधिवेशन में भी बेसिक शिक्षा को देश की आवश्यकताओं के सर्वथा उपयुक्त मानकर केन्द्र और राज्य सरकारों से सिफारिश की गई कि ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में शीघ्र इसे लागू कर दिया जाये। प्रथम पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने पर्याप्त धन बेसिक शिक्षण-पद्धति के सुधार में व्यय किया है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को भी प्रचलित प्राथमिक विद्यालयों को बेसिक विद्यालयों में बदलने तथा नये बेसिक विद्यालय खोलने के लिये पर्याप्त सहायता दे रही है। बेसिक कक्षाओं के अध्यापकों के वेतन-क्रम में भी सुधार किया जा रहा है और इसके लिये भी केन्द्रीय सरकार आवश्यक प्रेरणा एवं सहायता दे रही है।

प्रत्येक राज्य में कुछ चुने हुए स्थानों पर जूनियर बेसिक विद्यालय से लेकर स्नातकोत्तर बेसिक-प्रशिक्षण महाविद्यालय तक के बेसिक-शिक्षालयों को खोलने की योजनायें चल रही हैं। इनमें स्नातकोत्तर बेसिक-प्रशिक्षण महाविद्यालय, उच्चबेसिक प्रदर्शन विद्यालय, बेसिक-प्रशिक्षण महाविद्यालय, बेसिक अभ्यास विद्यालय, सामुदायिक-सेवा-केन्द्र, समन्वित पुस्तकालय-सेवा तथा जनता महाविद्यालय आदि सम्मिलित किये जायेंगे।

प्राथमिक शिक्षा की समस्यायें—प्राथमिक शिक्षा का इतना विस्तार एवं विकास हो रहा है परन्तु उसकी कतिपय समस्यायें भी हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। संक्षेप में उन पर भी विचार कर लेना उचित होगा।

(१) वर्त्तमान समय में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार एवं विकास के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया जा रहा है। सभी राज्य शीघ्रातिशीघ्र अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वव्यापी अनिवार्य शिक्षा को सफल बनाने की ओर ध्यान दे रहे हैं। किन्तु विभिन्न राज्य अलग-अलग मार्गों पर चल रहे हैं और प्राथमिक शिक्षा में सम्पूर्ण देश के लिये कोई सुसंगठित योजना नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि स्थानीय आवश्यकताओं के लिये कुछ स्वतन्त्रता और सुविधा प्रदान करते हुए, सम्पूर्ण देश के लिये एक सुनियोजित योजना हो। योजना की अनुपस्थिति में श्रम तथा परिश्रम का अपव्यय होने की आशंका है।

(२) प्राथमिक शिक्षा का भार मुख्यतः जिला वोर्ड और म्यूनिसिपल बोर्डों पर है। किन्तु कुछ सरकारी तथा गैरसरकारी प्राथमिक स्कूल भी हैं। इनका व्यय भी अनुदान, स्थानीय संस्थाओं द्वारा लगाये गये कर, शुल्क और व्यक्तिगत प्रसाधनों द्वारा चलता है। इन विभिन्न साधनों में समुचित सहयोग न होने के कारण अधिकांश धन और परिश्रम व्यर्थ जाता है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत सरकार की प्राथमिक शिक्षा की नीति उदासीनता की थी अतः इसके प्रसार, प्रसाधन एवं उन्नति पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया और देश में निरक्षरता व्यापक रही। अब राज्य अपना है अतः प्राथमिक शिक्षा का प्रयत्न करनेवाले अभिकरणों में पूर्ण सहयोग होना चाहिये।

(३) देश की जन-संख्या का अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है। उनकी प्राथमिक शिक्षा के संगठन, निरीक्षण आदि में अनेक बाधायें हैं। इन बाधाओं को दूर करने के लिये पर्याप्त धन की आवश्यकता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संविधान में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है और राज्य सरकारें अथक प्रयत्न कर भी रही हैं किन्तु धन की समस्या बड़ी प्रबल है। विशेषतया तब जब कि अनिवार्य शिक्षा के कार्यक्रम को दस वर्ष में पूरा करने का लक्ष्य बना लिया गया है।

(४) प्राथमिक शिक्षा पर दोहरा नियंत्रण है। इस पर बोर्डों का नियंत्रण भी रहता है और साथ ही साथ सरकारी शिक्षा-विभाग भी अपने निरीक्षकों द्वारा इस पर अधिकार रखता है। इस प्रकार का दोहरा नियंत्रण अनेक समस्यायें उत्पन्न करता है और प्राथमिक शिक्षा की प्रगति में इससे भी अनेक बाधायें उठ खड़ी होती हैं। सरकारी शिक्षा-विभाग तथा बोर्डों के पारस्परिक सम्बन्ध प्रायः सुखद नहीं हैं।

(५) प्राथमिक शिक्षा-विकास की गति अत्यन्त मंद है। प्रथम पंचवर्षीय योजना समाप्त हो रही है किन्तु जो उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा के लिये निर्धारित हुये थे वह सफल नहीं हुये। बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों को लोग पूर्णतः समझ नहीं पाये हैं और न उसकी मौलिक शिक्षण-प्रणाली को ही ग्रहण कर सके हैं। अतः विभिन्न राज्यों में इसका रूप भी विभिन्न प्रकार से बढ़ रहा है। बेसिक शिक्षकों के प्रशिक्षण की योजना का आरम्भिक रूप कार्यान्वित नहीं किया गया है फल-स्वरूप अनेक प्राथमिक स्कूल केवल नाम के ही बेसिक स्कूल हैं। गत सौ वर्षों से प्राथमिक शिक्षा का जो स्वरूप बन गया है उसमें अभी विशेष परिवर्तन नहीं लाया जा सका है।

(६) बेसिक शिक्षा-योजना में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। देश में सभी वर्ग इस शिक्षा के विषय में सहमत नहीं हैं। कुछ का विचार है कि यह शिक्षा सभी बालकों के लिये उचित नहीं है। उदाहरण के लिये कौशल का विषय प्रधान बन जाने से अन्य देशों की भाषायें तथा आधुनिक विज्ञान का उचित स्थान इस शिक्षा में नहीं आ पाता है। नगरों और ग्रामों में भी इस शिक्षा के कारण एक खाई बन जायेगी। सभी के लिये एक ही प्रकार की शिक्षा का सिद्धान्त (Single Ladder System) अभी मान्य नहीं है अतः कुछ लोगों को इस शिक्षा के कारण वे सुविधाएँ प्राप्त न हो सकेंगी जो नगरों के अन्य प्रकार जैसे Convent के स्कूलों में प्राप्त हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्रीय देश में भी सबको समान अवसर (Equality of opportunity) शिक्षा में न मिल सकेगा। बेसिक शिक्षा को सभी त्रुटियों एवं आरोपों से मुक्त करना हमारे शिक्षा-शास्त्रियों के लिये एक समस्या है जिसे हल किया जाना चाहिये।

उपसंहार—प्राथमिक शिक्षा के विस्तार एवं विकास के लिये जिस गति एवं निष्ठा के साथ प्रयत्न हो रहा है उसे देखते हुए आशा है कि निकट भविष्य में सभी समस्यायें हल हो जायेंगी और देश से निरक्षरता का नाम बिलकुल मिट जायेगा।

अध्याय १०

माध्यमिक शिक्षा

अध्याय-संक्षेप:——

१. प्रारम्भिक प्रयास सन् १८१३ ई० तक। २. सन् १८१३ ई० से सन् १८५४ ई० तक। ३. सन् १८५४ से सन् १९२० ई० तक। ४. सन् १९२१ ई० से सन् १९४७ ई० तक। ५. स्वातन्त्र्योत्तर-काल में। ६. उपसंहार।

प्रारम्भिक प्रयास सन् १८१३ ई० तक—जैसा कहा जा चुका है, योरोपीय जातियों के भारत आगमन के साथ-साथ पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली भी इस देश में आई। योरोपीय मिशनरियों का उद्देश्य भारत में ईसाईधर्म का प्रचार करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति का सर्वसुलभ साधन योरोपीय शिक्षा का प्रचार था। इस प्रकार भारत में आधुनिक शिक्षा का सूत्रपात हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी आरम्भ में इसी नीति को अपनाया। कम्पनी ने भारत में पादरी भेजे। इन पादरियों ने अंग्रेजों की व्यापारिक कोठियों में धर्म और शिक्षा का प्रचार आरम्भ किया। कम्पनी के डायरेक्टरों की सन् १६५९ की आज्ञा के अनुसार इस बात पर जोर दिया गया कि भारतीयों में ईसाईधर्म का प्रचार किया जाय और अंग्रेजी जहाज पर भारत में धर्म-प्रचारक भेजे जायें। किन्तु कम्पनी ने अपने स्वार्थों का ध्यान रखकर इस नीति को नहीं अपनाया और वह धार्मिक तटस्थता की नीति पर चलने लगी। मद्रास में अंग्रेज और योरोपियन बच्चों के लिये प्रथम अंग्रेजी स्कूल सन् १६७० में खोला गया।

सन् १६९८ के आज्ञापत्र में कम्पनी को आज्ञा दी गई कि वह अपने भारतीय कारखानों और कोठियों में पादरी (धर्मगुरु) तथा अध्यापक रखे और ५०० टन तथा इससे अधिक वजन का प्रत्येक जहाज भारत में एक पादरी को लाने की व्यवस्था करे। साथ-साथ यह भी आज्ञा दी गई कि कम्पनी अंग्रेज तथा भारतीय सैनिकों तथा कम्पनी के अन्य कर्मचारियों के लिये स्कूल खोले। फिर भी कम्पनी ने अपनी धार्मिक तटस्थता की नीति को बनाये रखा। किन्तु अपने केन्द्रों में उसने दातव्य स्कूलों की स्थापना को प्रोत्साहित किया और उन्हें उदारतापूर्वक अनुदान भी दिया। इस प्रकार के दातव्य स्कूल सन् १७१५ और '१७ के बीच मद्रास में, सन् १७१८ में बम्बई में और सन् १८३१ में कलकत्ता में खुले। इन स्कूलों में सैनिकों, ऐंग्लो-इण्डियन बालकों तथा कुछ गरीब, अनाथ बच्चों को लिखना-पढ़ना, हिसाब तथा

ईसाईधर्म की शिक्षा दी जाती थी। इनका खर्च चन्दा, दान और कम्पनी के अनुदान से चलता था।

प्रायः अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक कम्पनी ने भारत में शिक्षा का कोई स्पष्ट उत्तरदायित्व ग्रहण नहीं किया। किन्तु इस बीच में विभिन्न मिशनरियों ने मद्रास, बंगाल, बम्बई, उत्तर-पश्चिमप्रान्त में अनेक स्कूल योरोपीय ढंग पर खोले जिनमें अंग्रेजी, हिसाब, स्थानीय भाषा, ईसाईधर्म आदि का शिक्षण होता था। इन स्कूलों में विभिन्न प्रकार के स्कूल थे। किन्तु तब तक इनकी शिक्षा का किसी प्रकार का मापदण्ड न था। वास्तव में ये ही विभिन्न प्रकार के स्कूल आधुनिक माध्यमिक शिक्षालयों के पूर्वज एवं जन्मदाता थे।

सन् १८१३ ई० से सन् १८५४ ई० तक—वास्तव में वर्त्तमान माध्यमिक शिक्षा का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से हुआ। सन् १८१३ ई० के आज्ञापत्र में बृटिश संसद ने भारतीय शिक्षा के लिये एक विशेष धारा जोड़ दी। इसके अनुसार मिशनरियों को भारत में शिक्षा-प्रसार की स्वतन्त्रता दे दी गई तथा कम्पनी को "कम-से-कम १ लाख रु० प्रतिवर्ष भारत में साहित्य के पुनरुद्धार तथा उन्नति, भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन तथा बृटिशभारतीय क्षेत्रों में भारतवासियों में विज्ञानों का आरम्भ करने तथा उनकी उन्नति में" लगाने में प्रतिबद्ध कर दिया गया। इस प्रकार कम्पनी सरकार भारत में शिक्षा के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिये बाध्य हो गई। किन्तु अभाग्यवश इसी समय से प्राच्य-पाश्चात्य शिक्षा का विवाद आरम्भ हो चला और परिणामस्वरूप सन् १८३५ तक शिक्षा की प्रगति अवरुद्ध रही। कम्पनी सरकार ने तत्कालीन बृटिश भारत के क्षेत्रों में (मद्रास में सन् १८२२ ई० में सर टामस मुनरो द्वारा; बम्बई में सन् १८२९ ई० में श्री एलफिन्स्टन द्वारा, तथा बंगाल में सन् १८३५–३८ ई० में श्री ऐडम द्वारा) देशी शिक्षा के विस्तार, संगठन और विशेषताओं की जाँच-पड़ताल इस विचार से कराई कि देश में शिक्षा का पुनःसंगठन किया जा सके। किन्तु इस समय तक अनेक अंग्रेजी स्कूल बृटिश भारत में खुल चुके थे और देश का धनिकवर्ग अंग्रेजी शिक्षा की ओर झुक चुका था। यहाँ तक कि सन् १८३० ई० में कम्पनी के डायरेक्टरों ने तै कर लिया था कि भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा दी जाय, ताकि "इस प्रकार का एक वर्ग तैयार किया जा सके जो अपनी बुद्धि और नैतिकता के कारण भारत के उच्च-प्रशासकीय पदों पर नियुक्त किया जा सके।"

सन् १८३५ में लार्ड मैकाले ने अपनी प्रसिद्ध शिक्षा-नीति उद्घोषित की और लार्ड बेन्टिक ने इसी नीति को स्वीकार करते हुए भारत में सरकार की भावी शिक्षा-नीति की घोषणा करते हुए कहा, "बृटिश सरकार का मुख्य ध्येय भारतीयों में योरोपीय साहित्य एवं विज्ञान का प्रचार होना चाहिये" और "शिक्षा के लिये निर्धारित सम्पूर्ण धन-राशि का सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग, उसे केवल अंग्रेजी शिक्षा पर व्यय करना होगा।" इसके पश्चात् सम्पूर्ण बृटिश भारत में अंग्रेजी स्कूल खुलने लगे। सन् १८३७ में अंग्रेजी, बृटिश भारत की, अदालती भाषा बना दी गई। सन् १८४४ में लार्ड हार्डिज की घोषणा के अनुसार सरकारी नौकरियों में इस प्रकार के स्कूलों में शिक्षित नवयुवकों को प्राथमिकता दी जाने लगी। शिक्षित भारतीय समाज में राजा राममोहन जैसे लोग भी अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में थे अतः समस्त बृटिश भारत में माध्यमिक शिक्षा तथा उच्चशिक्षा के लिये अंग्रेजी संस्थाओं की संख्या बढ़ने लगी। इन स्कूलों में अंग्रेजी भाषा के शिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता था और इनका मुख्य उद्देश्य सरकारी नौकरियों के लिये योग्य व्यक्तियों को उत्पन्न करना था। यह दोष अब भी शिक्षा-क्षेत्र में चला जा रहा है।

सन् १८५४ ई० से सन् १९२० ई० तक—सन् १८५३ तक बृटिश भारत के शिक्षा-क्षेत्र में अनेक समस्यायें उठ खड़ी हुईं। कम्पनी सरकार को इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि भारत में शिक्षा का समुचित संगठन हो और उच्चशिक्षा प्रसार के लिये कोई संस्था हो। बृटिश संसद ने कम्पनी का आज्ञापत्र बदलने के अवसर पर सन् १८५३ में एक संसदीय समिति नियुक्त कर उसे भारतीय शिक्षा की प्रगति की जाँच तथा भारतीय शिक्षा के लिये कोई स्थायी नीति ढूँढने का कार्य सौंप दिया। इस समिति का प्रतिवेदन "वुड घोषणा" के नाम से भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिवेदन है। इसकी मुख्य सिफारिशों का वर्णन पहले किया जा चुका है। प्रतिवेदन में कहा गया कि समय आगया है जब कि भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाय और उनका कर्त्तव्य हो पाठ्य-क्रम निर्धारित करना, परीक्षा लेना एवं उपाधि (degree) प्रदान करना।" घोषणा में यह भी सिफारिश की गई कि बहुत-से हाईस्कूल खोले जायें। प्रतिवेदन में की गई "सरकारी अनुदान-प्रथा" की सिफारिश का भी माध्यमिक शिक्षा पर वड़ा प्रभाव पड़ा। उसके कारण अनेक गैरसरकारी हाईस्कूल भी क्षेत्र में आ गये।

प्रतिवेदन की सिफारिश के अनुसार बृटिश भारत में तीन प्रमुख प्रदेशों—कलकत्ता, बम्बई और मद्रास—में सन् १८५७ तक विश्वविद्यालय खुल गये।

इन विश्वविद्यालयों ने शीघ्र ही सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा पर अपना नियंत्रण कर लिया। माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम, परीक्षा, शिक्षण का माध्यम, तथा नीतियाँ विश्वविद्यालयों द्वारा नियन्त्रित होने लगीं। इस व्यापक नियन्त्रण के फलस्वरूप माध्यमिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होगया विश्वविद्यालय अथवा विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कालेजों के लिये विद्यार्थी तैयार करना। माध्यमिक शिक्षा स्वतन्त्र रूप से कोई ऐसी इकाई नहीं रह गई जो जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र के लिये विद्यार्थियों को तैयार करती। वह तो केवल कालेजों में प्रवेश पाने की एक सीढ़ी बन गई।

प्रतिवेदन की सिफारिशों के अनुसार प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग की स्थापना हो गई। सरकारी शिक्षा-विभागों ने माध्यमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया। इस कारण अनेक राजकीय माध्यमिक स्कूलों की स्थापना हुई।

वुड घोषणा के पश्चात् भारत में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति अत्यन्त संतोष-जनक हुई। इस क्षेत्र में तीन प्रकार के हाईस्कूल प्रचलित हुये:—(१) राजकीय, (२) मिशन, तथा (३) भारतीयों द्वारा खोले हुये। सरकारी शिक्षा-विभागों ने उदारतापूर्वक राजकीय हाईस्कूल खोले। इनकी संख्या सन् १८५४ में १६९ थी किन्तु सन् १८८२ में बढ़कर १,३६३ हो गई। भारतीय गैरसरकारी माध्यमिक स्कूलों को उदारतापूर्वक सहायता दी गई और सन् १८८२ तक उनकी संख्या १,३४१ हो गई। सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् मिशनरियों के प्रति भारत सरकार की नीति कड़ी हो गई। मिशन स्कलों की सहायता कम कर दी गई तथा उनको किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया गया। फिर भी सन् १८८२ में गैरसरकारी मिशनरी माध्यमिक संस्थाओं की संख्या ७३५ थी। इस प्रकार इस काल में माध्यमिक शिक्षा में एक बाढ़-सी आ गई। किन्तु उसे एक स्तर तक पहुँचाने तथा उनके निरीक्षण एवं मान्यता देने का भार विश्वविद्यालयों पर रहा। मैट्रिकुलेशन की परीक्षा द्वारा विश्वविद्यालय इन पर पूरा नियन्त्रण रखते थे।

सन् १८५४ से १८८२ तक माध्यमिक शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। किन्तु इसी काल में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में अनेक दोष आ गये जो अब तक इस क्षेत्र में शिक्षा-शास्त्रियों के सरदर्द बने हुये हैं। ये दोष प्रमुखतया इन क्षेत्रों में हैं:—उद्देश्य, पाठचक्रम, भाषा-समस्या, अधिकार एवं संगठन, परीक्षा, प्रशासन और अनुशासन।

माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को या तो विश्वविद्यालयों के लिये तैयार करना अथवा दफ्तरों में क्लर्कों के योग्य बना देना हो गया। वास्तविक

जीवन की दृष्टि से यह शिक्षा उद्देश्यरहित हो गई। पाठ्यक्रम में पुस्तकीय ज्ञान पर अधिक ध्यान दिया गया और औद्योगिक शिक्षा का अभाव रहा। वास्तविक जीवन के विभिन्न व्यवसायों का इसमें ध्यान नहीं रखा गया। शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग अत्यधिक प्रमुख हो गया और भारतीय भाषाओं की पूर्णतः उपेक्षा की गई। आरम्भ में माध्यमिक शिक्षा पर विश्वविद्यालय तथा सरकारी शिक्षा-विभागों का दोहरा अधिकार था। अब भी इस क्षेत्र में बोर्ड, सरकार तथा गैरसरकारी नियन्त्रण के कारण अनेक समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं। बहुत दिनों तक मैट्रिकुलेशन तथा स्कूल-लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षायें माध्यमिक शिक्षा पर हावी रहीं। परीक्षाओं की यह प्रधानता अब भी माध्यमिक शिक्षा में बनी हुई है। गैरसरकारी शिक्षा-संस्थाओं में फैली हुई वर्त्तमान बुराइयों तथा छात्रवर्ग की अनुशासन-हीनता की जड़ें भी इस काल में माध्यमिक शिक्षा के अनियमित विकास से ही सम्बन्धित हैं।

सन् १८८२ में बृटिश सरकार ने भारतीय शिक्षा की जाँच-पड़ताल करने के लिये "इण्टर कमीशन" की नियुक्ति की थी। कमीशन की सिफारिशों में माध्यमिक शिक्षा के लिये कहा गया था :—

(१) सरकारी हाईस्कूलों को खोलने और चलाने में बहुत व्यय होता है अतः सरकार के लिये बाञ्छनीय है कि वह प्राथमिक शिक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले और माध्यमिक शिक्षा को सार्वजनिक प्रयासों पर छोड़ दे और उन्हें केवल अनुदान द्वारा प्रोत्साहित करे। "जहाँ तक सम्भव हो माध्यमिक शिक्षा में केवल अनुदान द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जाये और सरकार क्रमशः इस क्षेत्र में प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व से अलग हो जाये।"

(२) गैरसरकारी स्कूल पहले खुल जायें और उनका निरीक्षण करने के उपरान्त सरकार उनको मान्यता एवं सहायता प्रदान करे।

(३) गैरसरकारी स्कूल जिस जिले में सम्भव न हों और जहाँ पर आवश्यकता हो, उस प्रत्येक जिले में सरकार एक-एक हाईस्कूल आदर्श रूप में रखे।

(४) माध्यमिक शिक्षा के प्रकार के विषय में भी कमीशन ने कुछ अति महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। उसने कहा कि माध्यमिक शिक्षा में दो प्रकार के पाठ्यक्रम रखे जायें :—'क'-कोर्स—जो साधारण रूप में साहित्यिक पाठ्यक्रम हो और जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालयों में प्रवेश पानेवाले छात्रों को तैयार करना हो। :—'ख'-कोर्स—यह व्यावहारिक तथा औद्योगिक पाठ्यक्रम हो और

इसमें व्यापारिक, व्यावसायिक तथा असाहित्यिक विषयों की शिक्षा दी जाये।

शिक्षा के माध्यम के विषय में कमीशन ने कोई स्पष्ट बात नहीं कही। सरकार ने कमीशन की कुछ सिफारिशों को मान लिया। "क्रमशः पीछे हटने" की नीति पर शिक्षा-विभागों ने अधिक ध्यान नहीं दिया। सन् १८८२ से सन् १९०२ तक माध्यमिक शिक्षा में पर्याप्त वृद्धि हुई। इसके मुख्य कारण भारतीयों का शिक्षाविषयक उत्साह तथा सहायता-अनुदान प्रथा थे। सन् १८८२ के बाद माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में दो प्रमुख परीक्षायें रखी गईः—(१) मैट्रिकुलेशन परीक्षा तथा (२) स्कूल-लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षा। विश्वविद्यालय इन परीक्षाओं को चलाते थे। सन् १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और उत्तर-भारत में मैट्रिकुलेशन की परीक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा चलाई जाने लगी। दो प्रकार के कोर्स रखने को सिफारिश को मान्यता नहीं दी गई और मुख्य रूप में साहित्यिक पाठ्यक्रम ही माध्यमिक शिक्षा में प्रमुख स्थान ग्रहण किये रहा। साथ ही कुछ टेकनीकल स्कूल भी खुले।

इस काल में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति का अनुमान उनकी संख्या से किया जा सकता है। सन् १८८२ में हर प्रकार के माध्यमिक स्कूलों की संख्या ३,९१६ थी और उनमें २,१४,०७७ विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे। सन् १९०२ में उनकी संख्या ५,१२४ हो गई और उनमें ५,९०,१२९ विद्यार्थी शिक्षा पाने लगे। 'ब'कोर्स के अनुसार औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था की गई। किन्तु यह कोर्स सर्वप्रिय न हो सका। माध्यम के रूप में अंग्रेजी की प्रधानता रही। सरकारी विभागों ने भी इसी नीति को अपनाया। सरकारी स्कूलों में औद्योगिक शिक्षण पर ध्यान नहीं दिया गया और गैरसरकारी स्कूल निर्धनता के कारण इस कोर्स के लिये आवश्यक साज-सज्जा न जुटा सके। बम्बई, इलाहाबाद, पंजाब तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयों में इस प्रकार के औद्योगिक पाठ्यक्रम रखे गये किन्तु स्थिति यह रही कि सन् १९०२ में औद्योगिक कोर्स में केवल २,००० विद्यार्थी परीक्षा में बैठे जब कि उसी वर्ष मैट्रिकुलेशन परीक्षा में २३,००० विद्यार्थियों ने भाग लिया।

जैसा पिछले अध्यायों में कहा जा चुका है लार्ड कर्जन भारतीय शिक्षा की प्रगति और स्तर से संतुष्ट न थे। वे शिक्षा-क्षेत्र में समुचित सुधार करना चाहते थे। किन्तु उनका स्वेच्छाचारी स्वभाव भारतीयों की भावनाओं से मेल न खा सका। शिमला कान्फ्रेन्स (१९०१) में एक भी भारतीय नहीं बुलाया गया। स्वाभाविक था कि भारतीय जनता उनकी नीति से असन्तुष्ट और सशंकित होकर

उनसे सहयोग न करती। सन् १९०२ में लार्ड कर्जन ने भारत में उच्चशिक्षा की जाँच-पड़ताल करने के लिये भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन की सिफारिशों के फलस्वरूप माध्यमिक शिक्षा पर विश्वविद्यालयों का अधिकार और नियंत्रण और भी बढ़ गया। सन् १९०४ में लार्ड कर्जन ने सरकार की शिक्षा-नीति को प्रस्ताव रूप में घोषित किया।

प्रस्तावों में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति पर संतोष प्रकट किया गया किन्तु माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में विद्यमान दोषों का सूक्ष्म विश्लेषण करके कहा गया कि निम्न कोटि के स्कूलों को बन्द कर दिया जाये और मैट्रिकुलेशन परीक्षा के लिये कम-से-कम आयु १६ वर्ष की रखी जाये। माध्यमिक शिक्षालयों में योग्य प्रशिक्षित शिक्षक, साजसज्जा, पुस्तकालय आदि की उचित व्यवस्था भी ज़ोर दिया गया। यह स्वीकार किया गया कि इन शिक्षालयों का शिक्षा-स्तर भी बहुत गिरा हुआ है और उचित निरीक्षण, नियंत्रण एवं आर्थिक सहायता द्वारा इनके स्तर को ऊँचा बनाने का प्रस्ताव रखा गया। सरकारी नियंत्रण को सख्त करने की सिफारिश की गई और कहा गया कि सहायता अनुदान देने से पूर्व विद्यार्थी-संख्या, फीस, छात्रावास, साजसज्जा, तथा योग्य शिक्षक आदि के नियमों का पूर्णतः निरीक्षण कर लिया जाया करे।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, सन् १९०४ के अनुसार माध्यमिक शिक्षालयों को मान्यता देने का अधिकार विश्वविद्यालयों को सौंप दिया गया। पाठ्यक्रम में भी सुधार का सुझाव दिया गया। औद्योगिक तथा व्यावसायिक पाठ्य-क्रमपर फिर ध्यान दिलाया गया। मातृभाषा का शिक्षण महत्त्वपूर्ण बतलाया गया और शिक्षा के माध्यम के विषय में कहा गया कि १३ वर्ष की आयु से पूर्व विद्यार्थियों को अंग्रेजी भाषा न पढ़ाई जाये। माध्यमिक शिक्षा के शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुव्यवस्थित संस्थाओं की आवश्यकता पर भी विशेष ज़ोर दिया गया। "इस क्षेत्र से पीछे हटने" की सरकारी नीति को स्वीकार करते हुये भी सुझाव दिया गया कि सरकार आदर्श रूप में अपनी संस्थाओं को बनाये रखे। माध्यमिक-शिक्षा क्षेत्र में अंग्रेजी के स्तर को ऊँचा बनाने का भी प्रस्ताव किया गया। इस प्रकार की नीति के परिणामस्वरूप भारतीय शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर सरकारी अधिकार और नियंत्रण बढ़ गये। भारतीय जनता इससे असंतुष्ट हो उठी। इस प्रकार शिक्षा की उन्मुक्त नीति समाप्त हो गई परन्तु शिक्षा का स्तर तथा उसकी कुश-लता बढ़ गई।

सन् १९०५ में राजनीतिक कारणों से भारत में स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ हो गया। उसका शिक्षा पर व्यापक प्रभाव पड़ा। बंगाल में राष्ट्रीयशिक्षा-परिषद् स्थापित हुई। देश में अनेक राष्ट्रीय संस्थाओं एवं गुरुकुलों की स्थापना की गई। समस्त भारत में शिक्षासुधार की लहर फैल गई। टेकनिकल शिक्षा की अधिक माँग की गई। इसी समय की खोली गई राष्ट्रीय संस्थायें जादवपुर इंजीनियरिंग तथा टेकनिकल कालेज आज भी उपयोगी काम कर रही हैं। किन्तु थोड़े दिनों बाद स्वदेशी आन्दोलन के शिथिल होने पर अनेक राष्ट्रीय संस्थायें बन्द हो गईं।

लार्ड कर्ज़न की शिक्षा-नीति के परिणामस्वरूप माध्यमिक शिक्षा आगे बढ़ती रही यद्यपि माध्यमिक शिक्षालयों की संख्या अधिक नहीं बढ़ी। कई कारणों से सन् १९१३ में भारतीय सरकार को पुनः आवश्यक जान पड़ा कि वह अपनी शिक्षा-नीति को घोषित करे। इस शिक्षा-नीति में माध्यमिक शिक्षा के प्रति निम्न-लिखित सिफारिशें की गईं :—

१—माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से सरकार का पलायन उचित नहीं होगा। सरकारी स्कूलों की संख्या बढाई न जाये किन्तु मौजूदा सरकारी स्कूलों को आदर्श बनाया जाये और इसके लिये निम्न सुधार सुझाये गये :—

(अ) सरकारी स्कूलों में केवल स्नातक (ग्रेजुएट) अथवा प्रशिक्षित शिक्षक ही रखे जायें।

(आ) अंग्रेजी के शिक्षकों का ग्रेड हो जिसमें न्यूनतम ४० रु० मासिक और उच्चतम वेतन ४०० रु० मासिक तक हो।

(इ) स्कूल के विद्यार्थियों के लिये उचित छात्रावासों का प्रबन्ध हो।

(ई) हाईस्कूल का पाठ्यक्रम इस प्रकार का रखा जाये कि वह स्वतः एक पूर्ण इकाई बन जाये। मैन्युएल ट्रेनिंग और विज्ञान जैसे आधुनिकतम विषयों के शिक्षण की उचित व्यवस्था हो।

२—स्वास्थ्य-विज्ञान का शिक्षण आरम्भ किया जाये तथा विद्यार्थियों का उचित प्रकार से आयुर्वैज्ञानिक (Medical) निरीक्षण हुआ करे।

३—शिक्षक-प्रशिक्षण की अधिक संस्थायें खोली जायें और प्रशिक्षण का सुधार हो।

४—माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में स्कूल फायनल परीक्षाएँ रखी जायें और उनका अधिकार विश्वविद्यालय से भिन्न संस्थाओं को दे दिया जाये।

५—इस क्षेत्र में गैरसरकारी प्रयासों को अधिक उदार सहायता-अनुदान

द्वारा प्रोत्साहित किया जाये ताकि वे भी सरकारी स्कूलों के समान नये मार्ग पर उन्नतिशील बन सकें।

६—माध्यमिक शिक्षा की उत्तमता एवं कुशलता के लिये कड़े नियंत्रण की आवश्यकता है।

इस प्रकार सरकारी नीति में माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र से सरकारी पलायन और सरकारी संस्थाओं को गैरसरकारी संस्थाओं के हाथों में सौंप देने की नीति का, जैसा कि सन् १८८२ में और सन् १९०४ में कहा गया था, सिद्धान्ततः विरोध किया गया। माध्यमिक शिक्षालयों पर दोहरा नियंत्रण काम कर रहा था उन्हें सहायता-अनुदान के लिये सरकारी शिक्षा-विभागों से स्वीकृति लेनी पड़ती थी और मैट्रिक परीक्षा में विद्यार्थियों को भेजने के लिये विश्वविद्यालयों से। शिक्षालयों पर कड़े नियंत्रण की समस्या को लेकर सरकारी शिक्षा-विभागों और विश्वविद्यालयों में कुछ तनाव हो चला था। सन् १९१३ के प्रस्तावों में सुझाव दिया गया कि प्रारम्भिक स्वीकृति देने का अधिकार स्थानीय सरकार को ही होना चाहिये, विश्वविद्यालयों को नहीं।

शिक्षा के माध्यम का प्रश्न पहले ही जैसा बना रहा। इस पर कोई निर्णय शिक्षा-नीति में नहीं किया गया। फलस्वरूप अंग्रेज़ी ही मुख्यतः माध्यमिक शिक्षा का माध्यम बनी रही।

सन् १९१३ के शिक्षा-प्रस्तावों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र पर पड़ा। स्कूलों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु सन् १९१४ में प्रथम विश्व-महायुद्ध छिड़ जाने के कारण अनेक प्रस्तावों पर अमल नहीं किया जा सका।

महायुद्ध की समाप्ति के साथ-साथ भारत सरकार यह अनुभव करने लगी कि भारत में राजनीतिक तथा शिक्षा-विषयक सुधारों की आवश्यकता है अतः सन् १९१७ में भारत सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की अवस्था की जाँच-पड़ताल करने के लिये सर माइकेल सैडलर की अध्यक्षता में 'कलकत्ता विश्व-विद्यालय कमीशन' की नियुक्ति की। यद्यपि कमीशन की नियुक्ति कलकत्ता विश्व-विद्यालय से सम्बन्धित थी फिर भी तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कमीशन ने अखिलभारतवर्षीय शिक्षा की जाँच-पड़ताल करके बड़े परिश्रमपूर्वक सन् १९१९ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। कमीशन की राय थी कि विश्वविद्यालय की शिक्षा में सुधार के लिये माध्यमिक शिक्षा में सुधार होना आवश्यक है। इसलिये

कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा का पूर्ण विश्लेषण किया और इस क्षेत्र में निम्न-लिखित सुझाव रखे:—

१—विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक शिक्षा का विभाजन पूर्वमाध्यमिक (Matric) की अपेक्षा उच्चतर माध्यमिक (Intermediate) परीक्षा द्वारा होना अधिक उचित है।

२—अतः सरकार को चाहिये कि वह इण्टरमीडिएट कालेजों की स्थापना करे जिनमें कला, विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, प्रशिक्षण आदि के शिक्षण की सुविधा हो। ये संस्थायें स्वतंत्र-रूप से अस्तित्व में आयें अथवा श्रेष्ठ हाई-स्कूलों के साथ जोड़ दी जायें। माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त दो परीक्षायें ली जायें:—

(अ) हाईस्कूल, (ब) इण्टरमीडिएट।

३—इण्टरमीडिएट की परीक्षा पास करने ही पर विश्वविद्यालयों में प्रवेश दिया जाये। बी० ए० का पाठ्यक्रम ३ वर्ष का कर दिया जाये और विश्व-विद्यालयों से इण्टरमीडिएट की कक्षाएँ अलग कर दी जायें।

४—माध्यमिक शिक्षा के लिये प्रान्तों में परिषदों की स्थापना की जाये जिनमें सरकार, विश्वविद्यालय, हाईस्कूल और इण्टरमीडिएट कालेजों के प्रति-निधि हों। इन परिषदों के हाथों में माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध, प्रवेश एवं परीक्षण सौंप दिया जाये।

कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा के दोषों की भी पूर्ण विवेचना की थी। उन्होंने स्पष्टतः कहा कि अधिकांश हाईस्कूलों में साधनों की कमी है, शिक्षक प्रशिक्षित नहीं है तथा शिक्षकों का वेतन अत्यन्त कम है; सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा को मैट्रि-कुलेशन परीक्षा प्रभावित किये हुये है; यह परीक्षा स्वयं निम्नस्तर की है और देश-कल्याण के आवश्यक विषयों की शिक्षा को प्रोत्साहित नहीं करती; माध्यमिक शिक्षा के निरीक्षण, तथा मार्गप्रदर्शन के लिये कोई उचित प्रवन्ध नहीं है; स्पष्ट है कि कमीशन के सुधार-सम्बन्धी सुझाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक थे।

सन् १९२१ ई० से सन् १९४७ ई०—यद्यपि कमीशन का प्रतिवेदन मुख्यतः कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुधार के लिये था, फिर भी वह इतना विस्तृत एवं उपयोगी था कि अन्य विश्वविद्यालयों ने उसके सुझावों को कार्यान्वित करना आरम्भ कर दिया। माध्यमिक शिक्षा का प्रसार अति तीव्र गति से हो चला। माध्यमिक शिक्षालयों की संख्या ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में शीघ्रता से बढ़ने लगी। जनता की रुचि शिक्षा में बढ़ चली और अनेक धनी-मानी व्यक्ति शिक्षा के लिये उदारतापूर्वक दान देने लगे।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है सन् १९२१ में भारत में मांटेग्यू-चेम्स-फोर्डसुधार लागू कर दिये गये और प्रान्तों में दोहरा शासन स्थापित हो गया। शिक्षा हस्तान्तरित विषय होने के कारण प्रान्तीय मन्त्रियों को सौंप दी गई। भारतीय मन्त्रियों के उत्साह के कारण शिक्षा में पर्याप्त उन्नति होने लगी। यद्यपि मन्त्रियों ने प्राथमिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया, फिर भी गैरसरकारी प्रयासों के फलस्वरूप माध्यमिक शिक्षा की प्रगति संतोषजनक रही। किन्तु माध्यमिक शिक्षा के शिक्षकों के प्रशिक्षण, वेतन, तथा नौकरी की अवस्था में उन्नति आदि समस्याओं का कोई संतोषजनक हल नहीं निकला। पाठ्यक्रम में भी साहित्यिक शिक्षा का ही प्रभुत्व रहा और औद्योगिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो पाया।

कमीशन ने अंग्रेजी तथा गणित विषयों को छोड़कर माध्यमिक शिक्षा के माध्यम के लिये मातृभाषा के प्रयोग की सिफारिश की थी। किन्तु परीक्षार्थियों के लिये यह वैकल्पिक था कि यदि वे चाहें तो समस्त प्रश्नपत्रों के उत्तर अंग्रेजी में ही लिख सकते हैं। फलतः अंग्रेजी का स्थान माध्यमिक शिक्षा में यथापूर्व बना रहा।

कमीशन ने 'माध्यमिक शिक्षा-परिषद्' की स्थापना का सुझाव देते हुए कहा था, "बोर्ड में १५ से १८ तक मेम्बर हों। गैरसरकारी मेम्बरों की संख्या अधिक होनी चाहिये। बोर्ड में कम-से-कम ३ हिन्दू और ३ मुसलमान मेम्बर अवश्य हों। बोर्ड उन विभिन्न पाठ्यक्रमों को निर्धारित करे जो हाईस्कूल और इण्टरमीडिएट कक्षाओं में पढ़ाये जायें। बोर्ड हाईस्कूल तथा इण्टरमीडियेट परीक्षाओं का संचालन करे। हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट कालेजों को मान्यता देने का कार्य भी बोर्ड ही करे। बोर्ड सरकार को माध्यमिक शिक्षा की आवश्यकताओं से परिचित करे तथा सरकारी रुपये को इस क्षेत्र में उपयोगी ढंग से खर्च करने का सुझाव दे।"

इन सिफारिशों की प्रतिक्रिया विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न रूपों में हुई। सर्वप्रथम उत्तरप्रदेश ने इस दिशा में कदम उठाया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कार्यभार को कम करने के लिये सन् १९२१ में इस प्रान्त को विधान सभा ने एक अधिनियम पास किया। यह अधिनियम 'बोर्ड ऑव हाईस्कूल एण्ड इण्टरमीडिएट ऐक्ट" कहलाया। अधिनियम का उद्देश्य एक परिषद् की स्थापना करना था जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के स्थान पर हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट

शिक्षा का नियंत्रण तथा निरीक्षण कर सके। अप्रैल सन् १९२२ में बोर्ड का उद्-घाटन हुआ। इसके कुछ सदस्य चुने गये और कुछ मनोनीत हुए। माध्यमिक-शिक्षा-क्षेत्र में यह सर्वप्रथम बोर्ड था और इसका क्षेत्र बड़ा व्यापक था। तब से यह बोर्ड हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट की शिक्षा का प्रबन्ध करता चला आ रहा है। बाद में मध्यभारत, मध्यप्रदेश, राजपूताना, अजमेर, दिल्ली, पूना, बम्बई, त्रावनकोर, हैदराबाद, मद्रास, बिहार, पश्चिमी बंगाल आदि में भी बोर्डों की स्थापना हो गई है और ये बोर्ड माध्यमिक शिक्षा के संचालन तथा परीक्षण की व्यवस्था कर रहे हैं। कुछ विश्वबिद्यालयों से सम्बन्धित माध्यमिक शिक्षालय भी हैं जिनका संचालन और परीक्षण उन विश्वविद्यालयों द्वारा ही होता है।

सन् १९२९ में साईमन कमीशन की एक उपसमिति—हर्टाग समिति ने—भारतीय शिक्षा पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। माध्यमिक शिक्षा के विषय में समिति ने कहा कि "इसकी उन्नति संतोषजनक हुई है किन्तु माध्यमिक शिक्षा के संगठन में अनेक दोष हैं।" समिति ने दिखाया कि माध्यमिक शिक्षा पर अब भी परीक्षाओं का बड़ा प्रभुत्व है। इस परीक्षा के बाद प्रत्येक छात्र उच्चशिक्षा की प्राप्ति के लिये उच्चविद्यालयों में प्रवेश पाने का ही प्रयत्न करता है। इस दोष को दूर करने के लिये समिति ने सुझाव दिया कि मिडिल स्कूलों का पाठ्यक्रम स्वतः पूर्ण हो और विभिन्न व्यवसायों के लिये जानेवाले बालकों की शिक्षा मिडिल स्कूल तक ही समाप्त हो जानी चाहिये। समिति ने स्कूलों में विभिन्न पाठ्यक्रमों को चालू करने का प्रस्ताव किया और कहा कि औद्योगिक एवं व्यापारिक शिक्षा की संस्थाओं में मिडिल परीक्षा के बाद अधिक बालकों को भेजा जाय।

माध्यमिक शिक्षालयों के शिक्षकों के विषय में समिति ने रिपोर्ट में कहा कि नौ महीनों के प्रशिक्षण में उस प्राचीन शिक्षण-प्रणाली की जड़ नहीं काटी जा सकती है जिसका अभ्यास विद्यार्थियों को रहता है। कम वेतन तथा नौकरी की असंतोष-जनक दशाओं के कारण शिक्षण-व्यवसाय में उचित प्रकार के लोग नहीं आते हैं। समिति ने प्रशिक्षण की अवधि बढ़ाने तथा शिक्षकों की आर्थिक दशा को सुधारने का प्रस्ताव किया।

हर्टाग समिति के प्रतिवेदन के पश्चात् भारतीय शिक्षा के विकास की गति में कुछ शिथिलता आगई। सरकारी शिक्षा-विभागों ने शिक्षा को ठोस बनाने तथा उसकी कुशलता बढ़ाने की आड़ में शिक्षा की प्रगति में रुकावटें डालीं। सन् १९३१–३२ की विश्वब्यापी आर्थिक मंदी का भी प्रभाव पड़ा और शिक्षा

विशेष उन्नति न कर सकी। फिर भी माध्यमिक शिक्षा स्थिर गति से आगे बढ़ती रही। समिति की सिफारिशों तथा आर्थिक संकट का अधिक घातक प्रभाव प्राथमिक शिक्षा पर पड़ा। माध्यमिकशिक्षा-प्रसार की गति अवश्य मंद हो गई किन्तु फिर भी इस क्षेत्र में सरकार ने पर्याप्त ध्यान दिया और व्यय भी इस पर अधिक हुआ। माध्यमिक स्कूलों की संख्या सन् १९३१–३२ में बृटिश भारत में (बर्मा सहित) १३,७४१ थी और यह सन् १९३६–३७ में १४,४१४ हो गई। इस काल में माध्यमिक शिक्षालयों की शिक्षा का माध्यम भी मातृभाषा हो गया। प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या में भी संतोषजनक प्रगति हुई।

सन् १९३४ में उत्तरप्रदेश सरकार ने प्रदेश में फैली हुई बेकारी की समस्या की जाँच-पड़ताल करने के लिये सप्रू समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने कारणों का विश्लेषण करते हुए कहा कि वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण है। यह शिक्षा-प्रणाली विद्यार्थियों को केवल परीक्षाओं तथा उपाधियों के लिये तैयार करती है, जीवन के किसी व्यवसाय के लिये नहीं। अतः समिति ने सुझाव दिया कि माध्यमिक स्तर पर विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों के शिक्षण की सुविधा की जाये, माध्यमिक स्तर को अधिक व्यावहारिक एवं स्वतःपूर्ण बनाया जाये तथा विभिन्न व्यवसायों में प्रवेश करनेवालों की व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुरूप उसे ढाला जाये। विश्वविद्यालयों में प्रवेश के हेतु साधारण पाठ्यक्रम के साथ टेकनिकल, व्यापारिक, औद्योगिक तथा अन्य व्यवसायसम्बन्धी पाठ्यक्रम भी माध्यमिक स्तर पर रखे जायें।

समिति के मुख्य प्रस्ताव निम्नलिखित थे:—

१—माध्यमिक स्तर पर विभिन्न पाठ्यक्रम चालू किये जायें, इनमें केवल एक पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के इच्छुक छात्रों के लिये हो।

२—इण्टरमीडिएट को समाप्त कर दिया जाये। माध्यमिक शिक्षालयों की कक्षाओं में एक कक्षा बढ़ा दी जाये। माध्यमिक शिक्षा की अवधि ६ वर्षों की हो जिसके ३–३ वर्षों के दो भाग रहें। प्राथमिक शिक्षा की अवधि ५ वर्ष की हो तथा माध्यमिक शिक्षा की जूनियर कक्षाओं के ३ वर्षों को मिलाकर ८ वर्षों का सामान्य पाठ्यक्रम हो।

३—व्यावसायिक शिक्षा का आरम्भ इस जूनियर माध्यमिक स्तर के बाद ही हो।

४—विश्वविद्यालयों का डिग्री कोर्स एक साल बढ़ाकर ३ वर्ष का कर दिया जाये।

जैसा कहा जा चुका है केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार परिषद् की स्थापना सन् १९२१ में हुई थी। किन्तु आर्थिक कारणों से यह सन् १९२३ में बन्द कर दिया गया था। हर्टाग समिति की सिफारिशों के फलस्वरूप यह सन् १९३५ में पुनः स्थापित किया गया। परिषद् में सभी प्रान्तों के सदस्य थे। दिसम्बर सम् १९३५ में अपनी प्रथम बैठक में परिषद् ने देश की शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के विचार से अनेक प्रस्ताव पास किये। शिक्षा के विभिन्न स्तरों के संगठन में परिवर्तन का सुझाव करते हुये परिषद् ने माध्यमिक शिक्षा पर निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये :—

१—माध्यमिक शिक्षा के दो भाग कर दिये जायें—निम्न माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक।

२—निम्न माध्यमिक स्तर—इसमें सामान्य शिक्षा का पाठ्यक्रम पर्याप्त तथा स्वतःपूर्ण हो। यह पाठ्यक्रम उच्चतर शिक्षा तथा विशेष व्यावसायिक शिक्षा के लिये लोगों को तैयार करे। ग्रामीण क्षेत्रों में यह पाठ्यक्रम ग्रामीण आवश्यकताओं के अनुसार हो। इस स्तर पर कुछ हस्तकार्य (manual training) अनिवार्य कर दिया जाये।

३—उच्चतर माध्यमिक स्तर—इसमें वे शिक्षालय सम्मिलित हों जिनमें विभिन्न अवधि के पाठ्यक्रम रखे जायें। इनमें मुख्य निम्नलिखित हों :—

(अ) कला और विज्ञान में विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय में प्रवेशयोग्य बनानेवाले।

(आ) ग्रामीण क्षेत्रों के लिये अध्यापकों का प्रशिक्षण करनेवाले।

(इ) कृषि-प्रशिक्षणवाले।

(ई) क्लर्कों का प्रशिक्षण करनेवाले।

(उ) विभिन्न प्रबन्धकों के परामर्श से चुने गये कुछ प्राविधिक विषयों में प्रशिक्षण करनेवाले।

४—जहाँ भिन्न-भिन्न शिक्षालय सम्भव न हों, वहाँ एक ही उच्चतर शिक्षालय में कुछ विषयों को एकत्रित किया जा सकता है।

५—निम्न माध्यमिक स्तर के अन्त में प्रथम सार्वजनिक परीक्षा हो।

६—शिक्षा की उपरोक्त पुनस्संगठन-योजना को कार्यान्वित करने के पूर्व सरकार को इस विषय में शिक्षा-विशेषज्ञों से परामर्श लेना उचित होगा

परिषद् के प्रस्ताव के अनुसार भारत सरकार ने सन् १९३६ में इंग्लैण्ड की शिक्षा-परिषद् से प्रार्थना की कि वह भारत में १० शिक्षा-विशेषज्ञों के भेजने का प्रबन्ध करे। किन्तु वहाँ की शिक्षा-परिषद् केवल दो विशेषज्ञों को भेज सकी। ये श्री ए० एबट और श्री यच० वुड थे। इन्होंने सन् १९३६–३७ में भारतीय शिक्षा का अध्ययन किया और मार्च सन् १९३७ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जो वुड-एबट रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रतिवेदन में सामान्य शिक्षा तथा व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा के संगठन के सुझाव दिये गये। सामान्य शिक्षा की रिपोर्ट में माध्यमिक शिक्षा पर निम्नलिखित सुझाव रखे गये :—

१—ग्रामीण मिडिल स्कूलों का पाठ्यक्रम बालकों के वातावरण से पूर्णतः सम्बन्धित हो। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। अगर अंग्रेजी पढ़ाई भी जाये तो उस पर विशेष समय न दिया जाये।

२—माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम यथासम्भव मातृभाषा हो। अंग्रेजी को एक आवश्यक विषय कर दिया जाये।

३—हस्तकला, कला तथा कौशल के शिक्षण को प्रोत्साहित किया जाये। प्रत्येक स्कूल के पाठ्यक्रम में इन्हें स्थान दिया जाये और इनके लिये योग्य शिक्षक रखे जायें। शारीरिक व्यायाम तथा शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाये।

४—शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाये तथा रिफ्रेशर कोर्सों की व्यवस्था की जाये।

व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा पर प्रस्तुत रिपोर्ट में समस्या का पूर्ण विवेचन किया गया और विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक तथा औद्योगिक माध्यमिक स्कूलों के खोलने की सिफारिश की गई। यथास्थान इनका वर्णन किया जायेगा। इनकी सिफारिशों के फलस्वरूप एक नये प्रकार का औद्योगिक शिक्षालय, जिसे बहुउद्योगीय (Polytechnic) स्कूल कहते हैं, अस्तित्व में आया। अनेक औद्योगिक, वाणिज्य तथा कृषि स्कूल भी खुले।

राजनीतिक उथल-पुथल के कारण वुड-एबट रिपोर्ट की सिफारिशों को पूर्णतः कार्यान्वित नहीं किया जा सका। सन् १९३७ में कई प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बने। किन्तु वे बेसिक योजना में इतने व्यस्त थे कि माध्यमिक शिक्षा पर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका। फिर भी माध्यमिक शिक्षा में संतोषजनक प्रगति होती रही। गैरसरकारी प्रयासों का अधिक विकास हुआ। कस्बों और गाँवों में भी माध्यमिक स्कल खुलने लगे। शिक्षकों के प्रशिक्षण एवं नौकरी की अवस्था

में भी सुधार हुआ किन्तु व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा म संतोपजनक वृद्धि न हुई।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया और कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया। शिक्षा की प्रगति रुक गई। सन् १९४४ में युद्ध में विजय का आभास पाते ही सरकार ने युद्धोत्तर विकास-योजनाएँ बनानी आरम्भ कर दीं। जैसा कहा जा चुका है सन् १९४४ में केन्द्रीय-परामर्श-परिषद् के प्रयत्नों से सार्जेण्ट शिक्षा-योजना प्रकाशित हुई। यह समस्त भारत के राष्ट्रीय शिक्षा-प्रसार की प्रथम विशद योजना थी। केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-परिषद् ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। माध्यमिक शिक्षा के विषय में योजना में निम्न-लिखित बातें कही गई :—

१—वर्त्तमान इण्टरमीडिएट की एक कक्षा हाईस्कूल में मिलाकर हाई-स्कूल की शिक्षा ६ वर्ष की कर दी जाये। इसमें ११ वर्ष से १७ वर्ष की आयु के विद्यार्थी-शिक्षा प्राप्त करें।

२—जूनियर बेसिक पाठ्यक्रम समाप्त करने के पश्चात् चुनाव द्वारा छाँटकर केवल २० प्रतिशत विद्यार्थी हाईस्कूलों में प्रवेश पायें। अन्य विद्यार्थी १४ वर्ष की आयु तक चलनेवाले सीनियर बेसिक शिक्षालयों में प्रविष्ट हों। हाई-स्कूलों में वही विद्यार्थी आयें जो शिक्षा में विशेष रुचि दिखलायें।

३—चनाव के साधन बहुत सोच-विचारकर रखे जायें जिससे उचित प्रकार के विद्यार्थी ही आ सकें। सीनियर बेसिक में जो विद्यार्थी योग्यता दिखलायें उनके प्रवेश के लिये भी हाईस्कूलों में स्थान रखा जायें।

४—हाईस्कूल मुख्य रूप से दो प्रकार के हों—(१) साहित्यिक, और (२) व्यावसायिक (Technical)। दोनों का उद्देश्य विद्यार्थी को एक उत्तम ठोस शिक्षा देना हो तथा अन्तिम कक्षाओं में उन उद्यमों की कुछ तैयारी कराई जाये जिसमें विद्यार्थी स्कूली शिक्षा समाप्त करके जाने को हों।

५—प्रत्यक दशा में पाठ्यक्रम विभिन्न प्रकार का हो और उस पर विश्व-विद्यालय अथवा सार्वजनिक परीक्षण-संस्थाओं का अनावश्यक प्रभाव न रहे।

६—योग्य निर्धन विद्यार्थी भी शिक्षा पा सकें इसके लिये ५० प्रतिशत विद्यार्थी निःशुल्क रहें और छात्रवृत्ति आदि का भी पर्याप्त प्रबन्ध हो।

७—योग्य शिक्षकों को आकर्षित करने के लिये सभी स्वीकृत स्कूलों में वेतन केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् द्वारा निर्धारित दर से दिया जाये।

८—हाईस्कूलों में प्रवेश पा जानेवाले प्रत्येक बालक को १४ वर्ष की आयु तक रहना अनिवार्य होगा।

९—शारीरिक शिक्षा, डाक्टरी जाँच, भोजन एवं स्वच्छता आदि की व्यवस्था बेसिक स्तर के समान ही रहे।

आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह योजना कार्यान्वित न हो सकी। किन्तु सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार करली गई और इसके अनुसार भारतीय शिक्षा का पूर्नानिर्माण आरम्भ हो गया। सन् १९४५ से आगे शिक्षा की प्रगति फिर बढ़ चली। सन् १९४५ में केन्द्रीय शिक्षा-विभाग अलग कार्य करने लगा। १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया और देश में शिक्षा का उत्साह बढ़ चला।

सन् १९३७–४७ के दशक में माध्यमिक शिक्षा का विकास साधारण रहा। सन् १९३७–३८ में माध्यमिक स्कूलों की संख्या १३,३०५ थी और सन् १९४५–४६ में १७,०३१ हो गई। मंद विकास का मुख्य कारण युद्ध की कठिनाइयाँ तथा राजनीतिक हलचलें थीं।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में—सन् १९४८ में—केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने अपनी बैठक में माध्यमिक शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया। माध्यमिक शिक्षा के महत्त्व पर ध्यान देते हुए परिषद् ने प्रस्ताव रखा कि—

भारत सरकार एक शिक्षा कमीशन नियुक्त करे जो भारत में माध्यमिक शिक्षा की वर्त्तमान दशा की जाँच-पड़ताल करे और माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित समस्याओं पर सुझाव प्रस्तुत करे।

इस प्रस्ताव के समर्थन पर भारत सरकार ने अपने तत्कालीन शिक्षा-सलाहकार डॉ० ताराचन्द की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति कर दी। इस समिति ने माध्यमिक शिक्षा पर कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव किये। इन प्रस्तावों पर केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने सन् १९४९ में अपनी इलाहाबाद की बैठक में विचार किया। परिषद् ने तै किया कि डॉ० ताराचन्द समिति के प्रतिवेदन के कुछ निष्कर्षों की जाँच तथा माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, लक्ष्य तथा तात्पर्य एवं संगठन को स्पष्ट करने के लिये एक माध्यमिकशिक्षा-कमीशन की नियुक्ति के लिये भारत सरकार से प्रार्थना की जाये। डॉ० ताराचन्द समिति की मुख्य सिफारशें निम्न थीं—

प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा का अवधि-काल १२ वर्ष का हो। इसमें ५ वर्ष जूनियर बेसिक, ३ वर्ष सीनियर बेसिक तथा ४ वर्ष उच्चतर माध्यमिक का

पाठ्यक्रम हो। इस सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को समाप्त कर ही विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में प्रवेश पायें। सीनियर बेसिक स्तर की सभी कक्षाओं में राष्ट्रभाषा हिन्दी अनिवार्य कर दी जाये और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर वैकल्पिक हो सकती है। अंग्रेजी, सीनियर बेसिक कक्षाओं में वैकल्पिक रहे किन्तु पूर्व-उच्चतर तथा उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में तब तक अनिवार्य रहे जब तक कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहे। अंग्रेजी माध्यम समाप्त हो जाने पर राष्ट्र-भाषा अंग्रेजी का स्थान ले ले। साधारण तया उच्चतर माध्यमिक शिक्षालय बहुमुखी हों किन्तु स्थानीय आवश्यकतानुसार एकमुखी भी हो सकते हैं। माध्य-मिक शिक्षा के उपरान्त एक सार्वजनिक परीक्षा हो। विश्वविद्यालय अपने प्रवेश के लिये अलग नियम बना सकते हैं। माध्यमिक शिक्षालयों के शिक्षकों के वेतन-क्रम एवं नौकरी की अवस्था केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् के प्रस्तावों के अनुसार हो। योग्य विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता दी जाये। विद्यार्थियों के सामाजिक जीवन को ऊँचा बनाने के लिये शिक्षालयों में बालचर संस्था सरीखी संस्थाओं को प्रोत्साहित किया जाये। माध्यमिकशिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर शिक्षा-अधिकारियों को परामर्श देने के लिये एक प्रान्तीय बोर्ड की स्थापना की जाये।

इसी बीच में, भारत सरकार ने सन् १९४८ में केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-परिषद् तथा अन्तर्विश्वविद्यालय परिषद् की सिफारिशों के फलस्वरूप एक विश्व-विद्यालय कमीशन की नियुक्ति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में की। अगस्त सन् १९४९ में इस कमीशन ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उच्च-शिक्षा के सम्बन्ध में कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा का भी विश्लेषण किया और उस पर कुछ सुझाव दिये। कमीशन ने कहा कि हमारी माध्यमिक शिक्षा, शिक्षा-क्षेत्र की सबसे कमजोर कड़ी है और उसका शीघ्र सुधार होना आवश्यक है। कमीशन ने इण्टरमीडिएट कालेजों को बनाये रखने और उनके स्तर को ऊँचा उठाने का प्रस्ताव किया। कमीशन की राय में विश्वविद्यालयों में प्रवेश इण्टर-मीडिएट परीक्षा पास करने के पश्चात् ही होना चाहिये। कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा के अध्यापकों तथा परीक्षण आदि के सुधार पर भी जोर दिया।

सन् १९५१ में केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने माध्यमिक शिक्षा के लिये एक कमीशन नियुक्त करने के अपने प्रस्ताव को पुनः दोहराया। इसलिये सरकार ने सितम्बर सन् १९५२ में डॉ० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार की अध्यक्षता में एक

माध्यमिक शिक्षा कमीशन की नियुक्ति की। माध्यमिक शिक्षा पर यह प्रथम शिक्षा कमीशन था अतः इसके विषय में विस्तृत वर्णन अपेक्षित है।

कमीशन की जाँच के विषय निम्नलिखित थे:—

(अ) भारत में माध्यमिक शिक्षा की वर्त्तमान अवस्था की सभी दृष्टिकोणों से जाँच करना और उसकी रिपोर्ट देना।

(आ) इसके पुनस्संगठन एवं सुधार के लिये विशेषतः निम्नांकित के सम्बन्ध में सुझाव देना:—

(*i*) माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, संगठन और विषय-वस्तु।
(*ii*) प्राथमिक, बेसिक तथा उच्चशिक्षा से इसका सम्बन्ध।
(*iii*) विभिन्न प्रकार के माध्यमिक शिक्षालयों का पारस्परिक सम्बन्ध।
(*iv*) तत्सम्बन्धी अन्य समस्यायें।

६ अक्टूबर सन् १९५२ को शिक्षा-मन्त्री माननीय मौलाना आज़ाद ने इस कमीशन का उद्घाटन नई दिल्ली में किया। शीघ्र ही कमीशन अपने कार्य में व्यस्त हो गया। अगस्त सन् १९५३ को कमीशन ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया। रिपोर्ट में माध्यमिक शिक्षा के इतिहास, संगठन, दोष आदि अनेक बातों का पूर्ण विवेचन किया गया है। उसके कुछ प्रमुख प्रस्ताव निम्नलिखित हैं :—

१—वर्त्तमान शिक्षा में उपस्थित दोषों का निराकरण आवश्यक है। ये दोष मुख्यतः ये हैं:—

(अ) हमारे स्कूलों की शिक्षा जीवन से असम्बद्ध है।

(आ) यह शिक्षा संकुचित तथा एकांगी है और विद्यार्थी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को शिक्षित करने में असमर्थ है।

(इ) अभी हाल तक अंग्रेजी माध्यमिक शिक्षा का माध्यम और एक अनिवार्य विषय रही है अतः अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है।

(ई) प्रयुक्त शिक्षण-प्रणाली विद्यार्थियों में विचार-स्वातन्त्र्य और स्वेच्छा से कार्यारम्भ की प्रवृत्ति का विकास नहीं कर पाती है।

(उ) कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या अधिक रहने के कारण अध्यापक और शिष्य का व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रह पाता; अतः चरित्र एवं अनुशासन की शिक्षा ठीक प्रकार नहीं हो पाती।

(ऊ) परीक्षा-प्रणाली का अत्यधिक प्रभुत्व माध्यमिक शिक्षा पर अत्यन्त

घातक सिद्ध हुआ है। इसने शिक्षक, पाठ्यक्रम, शिक्षण- णाली सभी को दोषपूर्ण बना रखा है।

२—माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य वर्त्तमान भारत में निम्नलिखित होने चाहिये—

(अ) विद्यार्थियों में एक प्रजातन्त्री राज्य की सुयोग्य नागरिकता का विकास करना, उनमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से सोचने तथा कार्य करने की क्षमता उत्पन्न करना, जिससे वे समाज के कल्याणकारी अंग बन सकें।

(आ) विद्यार्थियों की व्यावसायिक एवं उत्पादक क्षमता को विकसित करना।

(इ) विद्यार्थियों की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं भावात्मक शक्तियों का अभिवर्द्धन करते हुए उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायता करना।

(ई) विद्यार्थियों में अनुशासन एवं पथप्रदर्शन की शक्ति विकसित करना अर्थात् ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करना जो सामाजिक, राजनीतिक, औद्योगिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में पथप्रदर्शन का उत्तरदायित्व संभाल सकें।

३—माध्यमिक शिक्षा का पुनस्संगठन निम्नलिखित रूप में करना चाहिये:—

(अ) माध्यमिक शिक्षा का आरम्भ चार अथवा पाँच वर्ष की प्राथमिक अथवा जूनियर बेसिक शिक्षा के पश्चात् होना चाहिये। इसके दो भाग हों—प्रथम तीन वर्ष का मिडिल, अथवा सीनियर बेसिक अथवा जूनियर माध्यमिक स्तर और अन्तिम चार वर्ष का उच्चतर माध्यमिक स्तर।

(आ) उच्चतर माध्यमिक के चार वर्ष के पाठ्यक्रम में एक वर्ष इण्टरमीडिएट का भी सम्मिलित हो और उच्चतर माध्यमिक स्तर वर्त्तमान इण्टर-मीडिएट का स्थान ले ले। विश्वविद्यालयों का डिग्रीकोर्स तीन वर्ष का कर दिया जाये।

(इ) उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् किसी भी व्याव-सायिक (professional) शिक्षण में प्रवेश दिया जा सके।

(ई) विभिन्न उद्देश्य, रुचि तथा योग्यता के विद्यार्थियों के लिये, जहाँ

सम्भव हो, बहुमुखी पाठ्यक्रमवाले बहूद्देशीय (Multi-purpose) शिक्षालय खोले जायें।

(उ) बहुमुखी शिक्षालयों में सफलता-प्राप्त विद्यार्थियों के लिये बहूद्योगीय (पालिटेकनिक) अथवा औद्योगिक (टेक्नोलॉजिकल) संस्थाओं में विशेष उच्च-शिक्षा का प्रबन्ध हो।

(ऊ) सभी राज्य अपने ग्रामीण स्कूलों में कृषिशिक्षा, वृक्षविज्ञान, पशु-विज्ञान और कुटीरोद्योगों के शिक्षण का विशेष प्रबन्ध करें।

(ए) अधिक संख्या में विभिन्न प्रकार के औद्योगिक शिक्षालय (Technical schools) खोले जायें।

(ऐ) पब्लिक स्कूल तथा सावास विद्यालय (Residential schools) बनाये रखे जायें।

(ओ) लड़कियों के और सहशिक्षावाले स्कूलों में लड़कियों के लिये गृह-विज्ञान के शिक्षण की सुविधा प्रदान की जाये।

४—भाषाध्ययन के विषय में निम्नलिखित नीति बरती जाये:—

(अ) माध्यमिकशिक्षा-स्तर पर मातृभाषा अथवा स्थानीय भाषा शिक्षा का माध्यम हो। मिडिल स्कूल स्तर पर प्रत्येक बालक को कम-से-कम दो भाषायें पढ़ाई जायें। अंग्रेजी और हिन्दी का आरम्भ जूनियर बेसिक स्तर के अन्त में विभिन्न वर्षों में होना चाहिये। उच्चतर स्तर पर भी कम-से-कम दो भाषायें पढ़ाई जायें जिनमें एक मातृभाषा अथवा स्थानीय भाषा हो।

(५) विभिन्न स्तरों पर पाठ्यक्रम निम्नलिखित रहे:—

(अ) माध्यमिक मिडिल स्तर पर पाठ्यक्रम में निम्न विषय सम्मिलित किये जायें—

(१) भाषायें, (२) सामाजिक ज्ञान, (३) सामान्य विज्ञान, (४) गणित, (५) कला एवं संगीत, (६) क्राफ्ट, (७) शारीरिक शिक्षा।

(ब) उच्चतर माध्यमिक स्तर पर बहुमुखी पाठ्यक्रम रखे जायें। इनमें अनिवार्य विषय भाषायें, सामान्य विज्ञान, सामाजिक ज्ञान तथा क्राफ्ट रहें। बहुमुखी पाठ्यक्रम में निम्न सात समूह हों:—(१) सामाजिक अध्ययन, (२) विज्ञान, (३) औद्योगिक विषय, (४) वाणिज्य, (५) कृषि, (६) ललितकला, और (७) गृहविज्ञान। बहुमुखी पाठ्यक्रम उच्चतर स्तर के द्वितीय वर्ष से आरम्भ किये जायें।

६—पाठ्यपुस्तकों के चुनाव के विषय में निम्नलिखित व्यवस्था रहे :—

(अ) पाठ्यपुस्तकें चुनने का काम एक स्वतन्त्र, शक्तिशाली समिति को सौंप दिया जाये। समिति अभीष्ट पुस्तकों का माप-दंड का स्पष्टतः निर्णय कर ले।

(आ) एक विषय के लिये एक ही नहीं वरन् कई पुस्तकें रखी जायें।

(इ) निर्धारित पाठ्य-पुस्तकों को प्रायः परिवर्तन करते रहने की प्रवृत्ति को रोका जाये।

७—शिक्षण-पद्धति का निर्णय करने में निम्नलिखित विचार सम्मुख रखे जायें:—

(अ) शिक्षण-पद्धति का उद्देश्य केवल ज्ञान प्रदान करना न हो वरन् विद्यार्थियों में वांछनीय गुण, स्वभाव तथा अभिरुचि विकसित करना भी हो।

(आ) विशेष रूप से उसका उद्देश्य बालकों में कार्य के प्रति प्रेम तथा उसे कुशलतापूर्वक ईमानदारी के साथ और पूर्णरूपेण करने की अभिलाषा विकसित करने का हो।

(इ) सोद्देश्य, ठोस एवं वास्तविक परिस्थितियों एवं क्रियात्मक सिद्धान्तों द्वारा शिक्षा दी जाये।

(ई) प्रत्येक विषय के शिक्षण में स्पष्ट मनन करने तथा वाणी एवं लेखनी द्वारा भावाभिव्यंजन करने की स्पष्टता पर जोर दिया जाये।

(उ) स्वाध्याय की प्रवृत्ति को उत्तेजित किया जाये।

(ऊ) व्यक्तिगत विशेषताओं पर ध्यान देते हुए शिक्षण विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार किया जाये।

(ए) प्रत्येक शिक्षालय में पुस्तकालयों का पर्याप्त प्रबन्ध किया जाये।

८—चरित्र-निर्माण की शिक्षा के लिए इन सुझावों को क्रियान्वित किया जाये :—

(अ) चरित्रनिर्माण की शिक्षा को प्रत्येक अध्यापक का उत्तरदायित्व समझा जावे और स्कूल के प्रत्येक कार्यक्रम में इस शिक्षा के लिये अवसर दिये जायें।

(आ) अध्यापक और शिष्य का व्यक्तिगत सम्पर्क मजबूत किया जाये। विद्यार्थियों को स्वशासन का अवसर प्रदान किया जाये।

(इ) सामूहिक खेलों तथा अन्य पाठ्यान्तर कार्यों को अधिक महत्त्व दिया जाये।

(ई) अभिभावकों एवं प्रबन्धकों की आज्ञा लेकर स्कूल समय के अतिरिक्त समय में किसी विशेष धर्म के बालकों को धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा दे सके।

(उ) स्काउटिंग, एन. सी. सी., प्राथमिक चिकित्सा तथा अन्य पाठ्य-सहगामिनी प्रवृत्तियों को स्कूलों में उचित प्रोत्साहन मिलना चाहिये और सभी अध्यापकों को कुछ निश्चित समय इसमें देना चाहिये।

(९) शिक्षोपरान्त विद्यार्थी किन-किन व्यवसायों में जा सकते हैं इस बात का शिक्षा-अधिकारियों को विशेष ध्यान रखना चाहिये। इसके मार्ग-प्रदर्शन के लिये पथ-प्रदर्शनाधिकारी (Guidance Officers) और व्यवसाय-निर्देशक (Career Masters) प्रशिक्षित किये जायें। चलचित्रों द्वारा भी बालकों को व्यवसायों के विषय में ज्ञान कराना चाहिये और उनके स्थानों पर ले जाकर वास्तविक कार्यप्रणाली का भी अध्ययन कराना चाहिये।

(१०) प्रत्येक राज्य में विद्यार्थियों के स्वास्थ्य-सुधार पर ध्यान दिया जाये। उनके स्वास्थ्य की जाँच-पड़ताल तथा चिकित्सा आदि का एक विभाग होना चाहिये। कुछ अध्यापकों को भी प्राथमिक चिकित्सा का प्रशिक्षण दिया जाये। छात्रावासों आदि में पौष्टिक भोजन की व्यवस्था हो और स्वच्छता आदि पर ध्यान दिया जाये।

(११) विभिन्न प्रकार की शारीरिक शिक्षा दी जाये। अध्यापक भी इसमें भाग लें। उन्हें स्वास्थ्य-सम्बन्धी सब प्रकार की शिक्षा इसमें दी जाये। शारीरिक शिक्षा के अध्यापकों को प्रशिक्षण की अधिक सुविधायें प्रदान की जायें।

(१२) वाह्य परीक्षाओं की संख्या कम कर दी जाये। माध्यमिक पाठ्यक्रम समाप्त होने पर केवल एक ही सार्वजनिक परीक्षा हो। परीक्षा में नवीन परीक्षण-प्रणाली के प्रश्नों का समावेश किया जाये। स्कूलों में विद्यार्थियों की उन्नतिविषयक रेकार्ड रखे जायें। परीक्षा-फल में आन्तरिक परीक्षाएँ, स्कूल रेकार्ड तथा सालभर किये गये कार्य पर भी विचार किया जाये। प्रमाण पत्र में भी स्कूल परीक्षा आदि का सारांश दिया जाये। पूरक परीक्षाएँ भी हों।

(१३) अध्यापकों के चुनाव और नियुक्ति का उचित ढंग होना चाहिये। प्रत्येक गैरसरकारी संस्था में एक चुनाव-समिति होनी चाहिये जिसका अध्यक्ष संस्था का प्रधानाध्यापक हो। माध्यमिक शिक्षा के अध्यापक ग्रेजुएट तथा प्रशिक्षित हों। उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में अधिस्नातक (एम० ए०) अध्यापक हों।

अध्यापकों को उचित वेतन-क्रम, पेंशन, प्राविडेण्ट फण्ड तथा इन्शोरेन्स आदि दिया जाये। उनके बच्चों को स्कूल में निःशुल्क शिक्षा दी जाये। अध्यापकों को निवास-गृह, स्वास्थ्य, चिकित्सा, भ्रमण, तथा अध्ययन आदि की सुविधायें प्रदान की जायें।

(१४) शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये केवल दो प्रकार की संस्थायें हों:—(१) उच्चतर माध्यमिक उत्तीर्ण करके आनेवालों के लिये दो वर्ष का प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (२) स्नातकों के लिये प्रथमतः एक वर्ष का तथा बाद में बढ़ाकर दो वर्ष का पाठ्यक्रम। प्रथम प्रकार के शिक्षालय एक अलग बोर्ड के अधीन हों तथा द्वितीय प्रकार के विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित हों। प्रशिक्षण-विद्यालयों में रिफ्रेशर कोर्सों तथा विशेष विषयों के पाठ्यक्रम आदि की व्यवस्था की जाये। प्रशिक्षणकाल में छात्राध्यापकों को वजीफा दिया जाये और उनका प्रशिक्षण निःशुल्क हो। उनके लिये पर्याप्त छात्रावासों का प्रबन्ध हो।

(१५) प्रशासन को अधिक कार्यक्षम बनाया जाये। माध्यमिक शिक्षा का एक बोर्ड हो जिसमें २५ सदस्य से अधिक न हों और शिक्षा-संचालक इसका अध्यक्ष हो। यह बोर्ड माध्यमिक-शिक्षा-सम्बन्धी मामलों को तै करे और उसकी नीति को निर्धारित करे। अध्यापक प्रशिक्षण का भी एक बोर्ड हो।

(१६) स्कूलों में निरीक्षण की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिये। निरीक्षक अध्यापकों को सुझाव दें और उनका मार्ग-प्रदर्शन करें। विशेष विषयों के लिये दक्ष निरीक्षकों की नियुक्ति हो। निरीक्षकों की सहायता के लिये योग्य स्टाफ की व्यवस्था होनी चाहिये।

(१७) स्कूलों को मान्यता प्रदान करते समय इस बात पर ध्यान दिया जाये कि वे भविष्य में उचित रूप से तथा उचित मापदण्ड पर कार्य कर सकेंगे। स्कूलों के प्रबन्धक बोर्ड रजिस्टर्ड हों। बोर्ड शिक्षालय के संचालन के लिये निश्चित नियम निर्धारित करले। शिक्षा विभाग द्वारा ये नियम स्वीकृत करा लिये जायें। शिक्षालयों में जातीय भेद न हो।

(१८) माध्यमिक शिक्षालय ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्रीय स्थानों पर होने चाहिये और शहरों में भीड़-भाड़ से अलग। स्कूलों के साथ क्रीड़ाक्षेत्र भी हों। स्कूल-भवन आधुनिक ढंग के, हवादार तथा स्वच्छ हों। किसी कक्षा में ४० विद्यार्थियों से अधिक न हों। स्कूलों में ५०० से ७५० तक विद्यार्थी हों। आधुनिक ढंग के फर्नीचर आदि से स्कूल सुसज्जित हों।

(१९) स्कूलों के कार्य-काल के निश्चित करने में प्रधानाध्यापक को पर्याप्त स्वतन्त्रता हो ताकि स्थानीय आवश्यकताओं का ध्यान रखा जा सके। नियमानुसार साधारणतः कार्य-दिवस वर्ष में २०० से कम न हों। सप्ताह में ३५ घंटे कम-से-कम काम हो और प्रत्येक अन्तर ४५ मिनट का हो। ग्रीष्मावकाश दो माह का तथा बीच में दो छुट्टियाँ १०–१० या १५–१५ दिन की हों।

(२०) माध्यमिक शिक्षा के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था विभिन्न साधनों से की जाये तथा केन्द्रीय एवं राज्य सरकार दोनों ही इसमें सहयोग करें।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा पर विस्तृत एवं सर्वांगीण प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था। रिपोर्ट के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मुख्य बल सुधार पर ही दिया गया। कोई क्रान्तिकारी मौलिक योजना प्रस्तुत नहीं की गई। माध्यमिक शिक्षा के वर्त्तमान स्वरूप में उपस्थित अनेक समस्याओं का समाधान इन प्रस्तावों द्वारा नहीं होता है। फिर भी रिपोर्ट सुधार की दिशा में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम है।

इधर सन् १९४७ ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में माध्यमिक शिक्षा में पर्याप्त विकास हुआ है। शहरों, गाँवों और पिछड़े हुए इलाकों में भी माध्यमिक शिक्षालयों की संख्या बढ़ी है और विद्यार्थियों की संख्या तो दुगनी हो गई है। शिक्षा का माध्यम माध्यमिक स्तर पर प्रायः सभी प्रान्तों में मातृभाषा हो गयी है। पाठ्यक्रम को भी बहुमुखी बनाने का प्रयत्न किया गया है। माध्यमिक शिक्षा की उन्नति के लिये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें दोनों ही प्रयत्नशील हैं। केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों के आधार पर दिल्ली राज्य ने अपने यहाँ उच्चतर माध्यमिक-शिक्षा-योजना को लागू कर दिया है। इण्टर की ११वीं कक्षा माध्यमिक स्कूलों में जोड़ दी गई है। माध्यमिक शिक्षा ६ठीं से ११वीं कक्षा तक ६ वर्ष की अवधि की कर दी गई है। यह शिक्षा ५ वर्ष की प्राथमिक अथवा बेसिक शिक्षा के उपरान्त आरम्भ होती है। सन् १९४८ में उत्तरप्रदेश ने भी इस योजना को अपनाया और इस दिशा में परीक्षण आरम्भ कर दिया। कुछ स्कूलों में ११वीं कक्षा खुल गई। सभी हाईस्कूलों को उच्चतर माध्यमिक (हायर सेकेण्डरी) का नाम दे दिया गया और उनके प्रधान को हेड-मास्टर के स्थान पर प्रिन्सीपल का नाम दिया गया। किन्तु अभी तक उत्तरप्रदेश में यह योजना पूर्णरूपेण लागू नहीं हो पाई है।

माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन की रिपोर्ट निकलने पर केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने कमीशन की सिफारिशों पर विचार करने के लिये एक विशेषज्ञ

समिति नियुक्त कर दी। समिति ने कमीशन की प्रायः सभी सिफारिशों को मान लिया और सम्मिलित राय दी कि बेसिक शिक्षा पाठ्यक्रम ८ वर्ष का हो, माध्यमिक शिक्षा पाठ्यक्रम ४ वर्ष का तथा डिग्री पाठ्यक्रम ३ वर्ष का। समिति ने बहुउद्देशीय पाठ्यक्रम की महत्ता स्वीकार करते हुये सुझाव दिया कि अधिकांश माध्यमिक शिक्षालयों को क्रमशः बहुउद्देशीय स्कूलों में परिवर्तित कर दिया जाये।

फरवरी १९५४ में केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने इस विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट पर विचार किया। शिक्षामन्त्री मौलाना आजाद ने उनमें से निम्नलिखित बातों को स्वीकार कर लिया:—

(१) भारत की राष्ट्रीय शिक्षा का आधार प्राथमिक स्तर पर बेसिक शिक्षा है अतः माध्यमिक शिक्षा को इस प्रकार का बनाया जाये कि बेसिक पाठ्यक्रम को आगे चलकर पूरा बनाने में माध्यमिक शिक्षा योग दे सके और देश के लिये सुयोग्य नागरिक उत्पन्न कर सके। फलतः माध्यमिक शिक्षा में भी किसी क्राफ्ट का होना उचित है।

(२) माध्यमिक शिक्षा अधिकांश विद्यार्थियों के लिये एक स्वतःपूर्ण शिक्षा हो।

(३) माध्यमिक शिक्षा में विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम हों ताकि विभिन्न रुचियों के विद्यार्थियों की आवश्यकतायें पूरी हो सकें।

केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को भी इस दिशा में प्रोत्साहित किया। राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्र में पहले से सतर्क थीं। उत्तरप्रदेश में भी 'माध्यमिक शिक्षा पुनस्संगठन समिति' की नियुक्ति आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में मार्च १९५२ में हुई थी और मई १९५३ में समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी थी, इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा। इसी प्रकार अन्य राज्य भी शिक्षा की उन्नति के लिय जागरूक थे। केन्द्र और राज्य-सरकारों के सहयोग से अनेक शिक्षा-योजनाएँ आरम्भ हो गई हैं। इन योजनाओं को प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतिम वर्षों में भी स्थान दिया गया है। योजना में भारत में ५०० बहु-उद्देशीय माध्यमिक स्कूलों को खोलने का तथा अन्यों को बहु-धंधी बनाने का सुझाव है। अनेक पोलिटेकनिक तथा औद्योगिक शिक्षालय भी खोले जायेंगे। प्रत्येक माध्यमिक शिक्षालय में सामान्य विज्ञान पढ़ाने की व्यवस्था पर भी जोर दिया गया है। पुस्तकालय, हस्तकला तथा साज-सज्जा के निमित्त भी विशेष अनुदान की योजना रखी गई है।

केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् का २२वाँ अधिवेशन १२-१३-१४ जनवरी, १९५५ को दिल्ली में हुआ। इस अधिवेशन में परिषद् ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये:——

(अ) विश्वविद्यालयों का प्रथम डिग्री कोर्स ३ वर्ष का हो और १७ वर्ष की आयु विश्वविद्यालय प्रवेश के लिये न्यूनतम आयु मानी जाये।

(आ) माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति १७ वर्ष की आयु पर हो और यह एक स्वतन्त्र स्तर के रूप में बालकों को जीवन के लिये तैयार करे। साथ ही यह एक ऐसा स्तर हो जो विद्यार्थियों को ३-वर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम से लाभ उठाने योग्य बना दे।

(इ) भारत सरकार से प्रार्थना की जाये कि वह एक समिति नियुक्त करके माध्यमिक शिक्षा के लिये एक स्वत:पूर्ण पाठ्यक्रम निर्धारित कराये ताकि उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्त्ति हो सके।

(ई) माध्यमिक शिक्षा की अन्तिम कक्षा को ११वीं कक्षा कहा जाये और कम-से-कम १० वर्ष की स्कूल शिक्षा के उपरान्त विद्यार्थी उसमें पहुँचे। स्कूल शिक्षा की वास्तविक अवधि विभिन्न राज्य सरकारें तै करें।

(उ) इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिये केन्द्र तथा राज्य सरकारें उदारतापूर्वक व्यय का प्रबन्ध करें; अत: बोर्ड प्रार्थना करता है कि केन्द्र तथा राज्य सरकारें एवं आयोजन आयोग-द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक व्यय की सुविधा प्रदान करें।

भारत सरकार ने इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया है। इनके अनुसार भविष्य में शिक्षा का ढाँचा साधारणतया इस प्रकार का होगा——

(१) आठ वर्ष की अवधि का बेसिक पाठ्यक्रम——इसमें प्राय: ६ वर्ष से १४ वर्ष की आयु तक की शिक्षा का समावेश होगा। इसके अन्तिम वर्ष में विद्यार्थियों की रुचि और योग्यता का पता लगाया जा सकेगा।

(२) तीन वर्ष की अवधि का माध्यमिक शिक्षा पाठ्यक्रम जिसमें विभिन्न बहुमुखी पाठ्यक्रम की व्यवस्था होगी। इसमें १४ वर्ष से १७ वर्ष की आयु के विद्यार्थी होंगे।

(३) माध्यमिक स्तर के उपरान्त विश्वविद्यालयों में प्रथम डिग्री कोर्स तीन वर्ष का होगा।

माध्यमिक शिक्षा-कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा की अवधि को अनिर्णीत छोड़ दिया था। बोर्ड ने अनेक समितियों के प्रस्तावों का विचार करते हुये तथा बहुत सोच-समझकर भविष्य का यह ढाँचा निश्चित किया है अत: माध्यमिक

शिक्षा-कमीशन के प्रस्तावों से कुछ अन्तर आ गया है। माध्यमिक शिक्षा में एक वर्ष और जुड़ जाने से माध्यमिक शिक्षा की क्षमता बढ़ जायेगी। उधर विश्व-विद्यालयों में भी भीड़ का प्रवेश कम हो जायेगा तथा इण्टरमीडिएट का स्तर समाप्त हो जायेगा। बहु-उद्देशीय शिक्षालयों की स्थापना पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है अतः माध्यमिक शिक्षा केवल विश्वविद्यालय प्रवेश की सीढ़ी न होकर विद्यार्थियों को जीवन में प्रवेश के लिये तैयार करेगी।

किन्तु यह संक्रमण काल है। परिवर्तन एक दिन में ही सम्भव नहीं है अतः इस समय भी माध्यमिक शिक्षा को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। ये समस्यायें उद्देश्य, पाठ्यक्रम, संगठन, साधन, परीक्षण एवं शिक्षक आदि सम्बन्धी हैं, माध्यमिक-शिक्षा-आयोग तथा अन्य समितियों ने इन समस्याओं का विशद विवेचन किया है और उनके दोषों का निराकरण करने के सुझाव रखे हैं, किन्तु गत सौ वर्षों से माध्यमिक शिक्षा का जो ढाँचा चल रहा है और इसमें जो कमियाँ हैं उनमें आवश्यक परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके लिये सतत प्रयत्न और अत्यधिक व्यय की आवश्यकता है। देश की जन-संख्या के अनुपात से अभी माध्यमिक शिक्षा का विकास बहुत कम है। आशा है नवीन योजनाओं के परिणामस्वरूप इस दिशा में कुछ संतोषजनक प्रगति हो सकेगी।

भारत सरकार इधर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद एक अखिलभारतीय माध्य-मिक शिक्षा परिषद् की नियुक्ति की आवश्यकता अनुभव कर रही थी। कई समितियों तथा कमीशनों ने भी इस प्रकार की परिषद् की स्थापना का समर्थन किया था। इसलिये अभी सितम्बर १९५५ में भारत सरकार ने माध्यमिक शिक्षा के लिये २२ सदस्यों की एक अखिलभारतीय परिषद् बना दी है। परिषद एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में कार्य करेगी और सरकार को माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में सलाह देगी। केन्द्रीय शिक्षा विभाग के सचिव परिषद् के अध्यक्ष हैं। इसका संगठन इस प्रकार है—

२ सदस्य केन्द्रीय शिक्षामंत्रालय से।
३ ,, केन्द्रीय शिक्षा-परामर्शमण्डल से।
६ ,, राज्यों के शिक्षाविभागों से।
६ ,, नामजद प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों में से।
१ ,, प्रतिनिधि प्रशिक्षण कालेजों के आचार्यों में से।
१ ,, टेक्नीकल शिक्षा-परिषद् से।

१ सदस्य अन्तर्विश्वविद्यालय मण्डल से।

१ ,, सामुदायिक योजना प्रशासन से।

इस समय सरकार का माध्यमिक शिक्षा के सुधार का कार्यक्रम आगे बढ रहा है। यह परिषद् माध्यमिक शिक्षा में आनेवाली समस्याओं को हल कर सकेगी और उसकी प्रगति पर भी समय-समय पर विचार कर सकेगी। इसकी एक स्थायी कार्यकारिणी समिति भी बन गई है।

अखिलभारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् की प्रथम बैठक २ आक्टूबर १९५५ को हुई। मौलाना आजाद के उद्घाटन भाषण के पश्चात् परिषद् ने माध्यमिक शिक्षा-स्तर में सुधार करने के उद्देश्य से माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिशों को क्रियान्वित करने की कार्रवाइयों पर विचार किया। सरकार ने दौरा करने-वाला एक मण्डल भी 'शिक्षापरामर्शदाता और दौरामण्डल' के नाम से नियुक्त कर दिया है। यह मण्डल अखिलभारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् की प्रशासनिक शाखा के रूप में काम करेगा तथा अखिलभारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् की योजनाओं को क्रियान्वित करने में सहायता देगा। यह शाखा केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को विशेषज्ञतापूर्ण सलाह देगी। यह शिक्षा की प्रगति से सम्पर्क स्थापित रखेगी और केन्द्र तथा राज्यों को प्रगति की रिपोर्ट देगी।

दूसरी शाखा माध्यमिक शिक्षालयों के लिये अध्यापकों के प्रशिक्षण से सम्बन्धित होगी और तीसरी का सम्बन्ध शिक्षा-विशेषज्ञों के एक समूह से होगा। इस प्रकार अखिलभारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् अपने कार्य के लिये तीन शाखायें रखेगी। माध्यमिक शिक्षा की पुनर्व्यवस्था-सम्बन्धी अपनी योजना के लिये केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने १६ राज्यों को सन् १९५५–५६ के लिये ३,८३,२९,५४७ रुपये अनुदान के रूप में स्वीकृत किये हैं।

इस परिषद् ने भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय की माध्यमिक शिक्षा-योजना पर विचार किया। इसने सुझाव दिया है कि—

(१) प्राथमिक शिक्षा की अवधि पाँच वर्ष और माध्यमिक शिक्षा की छः वर्ष कर दी जाये।

(२) सभी हाईस्कूलों को हायर सेकेण्डरी स्कूलों में बदल दिया जाये और माध्यमिक शिक्षा ग्यारहवीं कक्षा तक पूरी हो। इस प्रकार इण्टरमीडिएट का प्रथम वर्ष हाईस्कूलों में जोड़ दिया जाये।

(३) इण्टरमीडिएट का द्वितीय वर्ष डिग्री कोर्स में जोड़कर उसे तीन वर्ष का कोर्स बनाया जाये।

(४) सन् १९५६ के शिक्षासत्र से कालेजों में इण्टरमीडिएट के प्रथम वर्ष में भरती बन्द कर दी जाये और सन् १९५८ में इण्टर की अन्तिम परीक्षा हो। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली सन् १९५८ तक सारे देश में लागू हो सकेगी।

(५) स्कूलों में नया पाठ्यक्रम आरम्भ कर दिया जाये। बहु-उद्देशीय शालाओं की स्थापना पर अधिक ध्यान दिया जाये।

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के स्तर को उठाने का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे हायर सेकेण्डरी प्रमाण-पत्रवाला विद्यार्थी अधिक उत्तरदायित्व की भावना से विभिन्न व्यवसायों में जा सके या विश्वविद्यालयों में उच्चशिक्षा जारी रख सके।

उपसंहार—जैसा कहा जा चुका है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षाक्षेत्र में दो बातों को प्रमुखता दी गई थी। शिक्षा-संस्थाओं की संख्या बढ़ाना और शिक्षा-प्रणाली में सुधार करना। माध्यमिक शिक्षा में सन् १९५०–५१ में ११ से १७ वर्ष के १०·३ प्रतिशत लड़के-लड़कियों की पढ़ाई का प्रबन्ध था। सन् १९५५–५६ तक १५ प्रतिशत का लक्ष्य रखा गया है। आशा है यह लक्ष्य पूरा हो जायेगा। माध्यमिक स्कूलों की संख्या २१ हजार से बढ़कर ३० हजार और विद्यार्थियों की संख्या ४८ लाख से बढ़कर ७७ लाख हो जायेगी। बहुधंधी स्कूलों के खोलने का कार्य प्रगति कर रहा है, पुराने स्कूलों को भी बहुधंधी स्कूलों में परिवर्तित करने का कार्य हो रहा है। स्कूलों में विज्ञान की शिक्षा की सुविधा बढ़ाई जा रही है, तथा स्कूलों में पुस्तकालय बनाने तथा उद्योग सिखाने का कार्य भी बढ़ाया जा रहा है। कुछ शिक्षा एवं व्यवसाय गाइडेंस ब्यूरो भी स्थापित हो रहे हैं। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा में निरन्तर प्रगति और सुधार हो रहे हैं।

अध्याय ११
विश्वविद्यालयीय शिक्षा

अध्याय-संक्षेपः—

१. प्रस्तावना। २. सन् १८१३ तक। ३. सन् १८१३ से १८५४ तक। ४. सन् १८५४ से १६२० तक। ५. सन् १६२० से १६४७ तक। ६. स्वातंत्र्योत्तर काल में। ७. उपसंहार।

प्रस्तावना—विश्वविद्यालयीय शिक्षा भारत के लिये कोई नवीन वस्तु नहीं है। प्राचीन काल में आर्यों ने अपनी शिक्षा-प्रणाली को अत्यन्त उच्चकोटि तक पहुँचा दिया था। प्राचीन शिक्षा के प्रसंग में आश्रमों और परिषदों का वर्णन आ चुका है। ये उच्चशिक्षा के केन्द्र थे। परिषद् तो कई अर्थों में आधुनिक विश्व-विद्यालयों के समकक्ष थे। परिषदों में अनेक विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् होते थे। वैदिक युग से ही कुरु, पांचाल, विदेह, काशी, तक्षशिला आदि में उच्चशिक्षा के केन्द्र स्थापित हो चुके थे। बौद्ध युग में बौद्ध विहार शिक्षा के केन्द्रों के रूप में संगठित होने लगे। क्रमशः अनेक बौद्ध विहारों में उच्चशिक्षा के केन्द्र विकसित हो गये। बौद्ध विहारों की संगठित शिक्षा-व्यवस्था को ही आधुनिक पाश्चात्य विश्वविद्यालय-व्यवस्था की जननी समझना चाहिये। बौद्ध धर्म भारत के बाहर भी फैला अतः अन्य देशों के लोग भी अध्ययन के लिये प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों में आने लगे। इतिहास में प्रथम वार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा-विषयक आदान-प्रदान बौद्धयुग की ही देन है। बौद्धकालीन तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, ताम्रलिप्ति, एवं वल्लभी आदि बौद्धशिक्षा-केन्द्र विश्वविद्यालय के समकक्ष ही थे।

मध्य युग में भी नवद्वीप और मिथिला आदि हिन्दू शिक्षा-केन्द्र उच्चशिक्षा के स्थान थे। मुसलिम शिक्षाकाल में मदरसा कालेज का समकक्ष था तथा प्रमुख स्थानों पर मदरसे विश्वविद्यालय के ही रूप थे। दिल्ली, आगरा, जौनपुर, बीदर, लाहौर, रामपुर, तथा लखनऊ आदि स्थानों पर स्थित मदरसे आधुनिक विश्व-विद्यालयों की समता में आ सकते हैं। मध्ययुगीन यूरोप के विद्यालय भारत के इन शिक्षा-केन्द्रों से अधिक उन्नत न थे।

सन् १८१३ तक—किन्तु भारत में आधुनिक विश्वविद्यालयों का विकास यहाँ के प्राचीन अथवा मध्ययुगीन शिक्षा-केन्द्रों के आधार पर नहीं हुआ है। भारत

में योरोपीय जातियों के राजनीतिक उदय के समय भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली तथा शिक्षा-संस्थाएँ अस्तव्यस्त हो गई थीं । उनके स्थान पर क्रमशः योरोपीय शिक्षा की स्थापना का इतिहास पूर्व अध्यायों में दिया जा चुका है। आरम्भ में बृटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी शिक्षा के प्रति उदासीन रही। किन्तु कुछ व्यक्तिगत प्रयासों के फलस्वरूप प्राच्यशिक्षा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज़ ने सन् १७८१ ई० में कलकत्ता मदरसा की स्थापना की जिसका उद्देश्य "प्रतिष्ठित मुसलिम सज्जनों के लड़कों को राज्य में उत्तरदायित्व के उच्चपदों पर नियुक्ति के योग्य बनाना" था । इसी प्रकार सन् १७९१ में बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना का उद्देश्य "हिन्दू पण्डितों को इस प्रकार की योग्यता प्रदान करना" था कि वे अंग्रेज जजों की सहायता कर सकें। किन्तु ये दोनों ही संस्थाएँ प्राच्यशिक्षा-प्रणाली के अनुसरण पर थीं।

सन् १८१३ ई० से सन् १८५४ ई० तक—सन् १८१३ के चार्टर में शिक्षा-विषयक धारा के जुड़ जाने के पश्चात् भी कम्पनी बहुत दिनों तक प्राच्यशिक्षा के ही प्रोत्साहन की नीति को ग्रहण किये रही। सन् १८१८ में आगरा कालेज, १८२१ में पूना कालेज तथा १८२४ में कलकत्ता संस्कृत कालेज आदि संस्थाओं की स्थापना प्राच्यशिक्षा के ही समर्थन की साक्षी हैं।

किन्तु भारतवर्ष में मिशनरियों, व्यक्तिगत अंग्रेज अफसरों तथा स्वयं भारतवासियों के प्रयत्न के फलस्वरूप पाश्चात्य शिक्षा का विकास एवं प्रसार होता रहा। मिशनरी प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा में अधिक रुचि ले रहे थे। किन्तु राजा राममोहन राय जैसे भारतीय उच्च पाश्चात्य शिक्षा के पक्ष में थे। सन् १८१७ में कलकत्ता में स्थापित हिन्दू कालेज आधुनिक अर्थ में पाश्चात्य ढंग का पहला कालेज था। मिशनरियों ने भी सिरामपुर तथा मद्रास आदि स्थानों पर कुछ कालेज खोले। सन् १८३५ तक उच्चशिक्षा की प्रगति अत्यन्त मन्द रही। लार्ड मैकाले के प्रसिद्ध निर्णय तथा लार्ड बेंटिक की सरकारी शिक्षा-नीति के पाश्चात्य शिक्षा के पक्ष में घोषित हो जाने के बाद भारत में कालेजों की संख्या में वृद्धि होने लगी। सन् १८३५ से सन् १८५४ तक देश में अनेक स्थानों पर कालेज खुल गये और उच्च पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार हो चला। इस बीच में कलकत्ता (१८३५), बम्बई (१८५४) तथा मद्रास (१८५२) में मेडिकल कालेज भी खुल गये। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, तथा रुड़की (१८४७) में इंजीनियरिंग तथा कुछ कानून की कक्षाएँ भी खुलीं।

पहला प्रयत्न असफल

सन् १८४५ से पूर्व भारत में आधुनिक विश्वविद्यालय जैसी किसी संस्था की स्थापना का कोई विचार नहीं था। सबसे पहला प्रस्ताव सन् १८४५ में हुआ। सन् १८४४ में लार्ड हार्डिञ्ज ने घोषित किया कि अंग्रेजी शिक्षालयों में शिक्षाप्राप्त युवकों को सरकारी नौकरी में प्राथमिकता दी जायेगी अतः बंगाल की शिक्षा परिषद् ने सरकारी नौकरियों के लिये सूची बनाने के विचार से वार्षिक परीक्षा लेनी आरम्भ कर दी। मिशनरियों ने इसका विरोध किया अतः शिक्षा परिषद् ने कलकत्ता में एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव रखा। यह भी सुझाव दिया गया कि यह विश्वविद्यालय लन्दन विश्वविद्यालय के ढाँचे पर खोला जाये। किन्तु बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स ने इस विचार को असामयिक कहकर अस्वीकृत कर दिया।

बृटिश संसद ने सन् १८५३ में कम्पनी का चार्टर बदलने के अवसर पर इस ओर ध्यान दिया। बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स ने भी स्वीकार किया कि भारत में विश्व-विद्यालयों की स्थापना का अवसर आ गया है। अतः सन् १८५४ की वुड घोषणा में यह प्रस्ताव रखा गया कि:—

'कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर विश्व-विद्यालय खोले जायें, जो अपने से सम्बन्धित शिक्षालयों के परीक्षण की व्यवस्था करें और उपाधि प्रदान करें। विश्वविद्यालय के लिये एक चांसलर और एक वाइस चांसलर और एक सिनेट होगी। सिनेट विश्वविद्यालय के कोष का प्रबन्ध करेगी तथा विश्वविद्यालय के नियम बनायेगी जिन्हें सरकार स्वीकृत करेगी। सिनेट ही कला तथा विज्ञानों के परीक्षक नियुक्त करेगी। विश्वविद्यालयों की परीक्षा में कोई धार्मिक विषय नहीं होंगे किन्तु धार्मिक संस्थाएँ भी, जिनमें विश्वविद्यालय के पाठचक्रम को पढ़ाने की व्यवस्था हो और जो विश्वविद्यालय से सम्बन्धित हों, अपने विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में भेज सकेंगी। पाठचक्रम में ऑनर्स कोर्स की भी व्यवस्था होगी। विश्वविद्यालय विभिन्न विषयों में और विशेष-कर कानून, इंजीनियरिंग, अरबी, फारसी, संस्कृत, देशी भाषायें आदि उन विषयों में जिनकी उच्चशिक्षा का प्रबन्ध सम्बन्धित कालेजों में न होगा, प्रोफेसरों की नियुक्ति भी करेंगे।'

सन् १८५४ ई० से सन् १९२० ई० तक—इन प्रस्तावों के अनुसार लॉर्ड डलहौज़ी ने जनवरी सन् १८५५ में विश्वविद्यालयों की विस्तृत योजना बनाने के लिये एक समिति नियुक्त करदी। सन् १८५६ में समिति ने अपनी रिपोर्ट में

कला, चिकित्सा, कानून और सिविल इंजीनियरिंग में साधारण तथा ऑनर्स डिग्री देने की योजना पेश की। कुछ साधारण अन्तरों के अतिरिक्त योजना पूर्णतः लन्दन विश्वविद्यालय के ढाँचे पर ही थी।

जनवरी सन् १८५७ में गवर्नर-जनरल की स्वीकृति मिल जाने पर सर्वप्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। उसी वर्ष क्रमशः बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालयों की भी स्थापना हुई। तीनों का ढाँचा और उनके अधिनियम प्रायः समान ही थे। गवर्नर-जनरल कलकत्ता विश्वविद्यालय का चांसलर तथा बम्बई और मद्रास के गवर्नर क्रमशः बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालयों के चांसलर नियुक्त हुए। बाद में विज्ञान का विभाग और जोड़ दिया गया। इस प्रकार सन् १८५७ में प्रथम वार भारत में आधुनिक विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और उनके ऊपर उच्चशिक्षा के संगठन का भार दिया गया।

सन् १८५७ से सन् १८८२ तक के २५ वर्षों में अन्य कोई विश्वविद्यालय नहीं खोले गये। किन्तु इस बीच में कालेजों और विद्यार्थियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १८५७ में भारत में कालेजों की संख्या २७ थी किन्तु सन् १८८२ में यह संख्या प्रायः ७५ हो गई। इसी प्रकार सन् १८५७ की इण्ट्रेन्स परीक्षा में तीनों विश्वविद्यालयों से उत्तीर्ण विद्यार्थियों की संख्या २१९ थी किन्तु सन् १८८२ में उत्तीर्ण छात्रों की संख्या २,७७८ हो गई। प्रथम १४ वर्षों में इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० उत्तीर्ण छात्रों की संख्या क्रमशः २,६६६, ८५०, तथा १५१ थीं किन्तु अगले ११ वर्षों में इनकी संख्या क्रमशः ५,९६९, २,४३४ और ३८५ हो गई।

इस अवधि में विश्वविद्यालयों की अन्य बातों में भी कुछ परिवर्तन हुआ। आरम्भ में चांसलर, वाइस चांसलर तथा फैलो को मिलाकर सिनेट बनता था जो विश्वविद्यालय का प्रबन्ध करता था। रजिस्ट्रार का पद आरम्भ से ही उत्तरदायित्व का था। क्रमशः प्रतिदिन के कार्यों का संचालन करने के लिये वाइस चांसलर तथा कुछ चुने हुए फैलोओं की एक सिंडीकेट बना दी गई और यह मुख्य कार्यकारिणी संस्था बन गई।

विश्वविद्यालयों द्वारा ली जानेवाली परीक्षाओं में पहली इण्ट्रेन्स अथवा मैट्रिकुलेशन परीक्षा थी। इसे उत्तीर्ण करने के उपरान्त ही विश्वविद्यालयों में प्रवेश मिल सकता था अथवा इसके बाद ही सरकारी नौकरियाँ प्राप्त हो सकती थीं। सन् १८६० में एफ० ए० (इण्टरमीडिएट) परीक्षा का अधिकार भी विश्वविद्यालयों को मिल गया था। ऑनर्स कोर्स की व्यवस्था कलकत्ता में थी किन्तु

बम्बई और मद्रास में न थी। डिग्री कोर्स में साहित्यिक तथा वैज्ञानिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था थी। तीनों विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम तथा अवधि में कुछ अन्तर था। कला-विभाग अधिक सर्वप्रिय था। कानून विभाग भी अधिक लोगों को आकर्षित करता था किन्तु चिकित्सा तथा इंजीनियरिंग में अपेक्षाकृत कम लोग जाते थे। विज्ञान बीसवीं सदी के आरम्भ से पूर्व लोगों में अधिक प्रिय न हो सका।

विश्वविद्यालय इण्ट्रेन्स या मैट्रिकुलेशन परीक्षाएँ लेते थे। जो भी हाईस्कूल इन परीक्षाओं के लिये छात्रों को तैयार करते थे उनको विश्वविद्यालय मान्यता दे देते थे। इस क्षेत्र में विश्वविद्यालयों के अधिकार का स्पष्टीकरण नहीं हुआ था अत: अनेक गैरसरकारी हाईस्कूल इन परीक्षाओं के लिये छात्रों को तैयार करते थे। कुछ शिक्षालय सरकारी अनुदान की अपेक्षा नहीं करते थे और फीस से ही उनकी आय पर्याप्त हो जाती थी। ऐसी दशा में उन पर सरकारी शिक्षाविभागों का उचित नियन्त्रण भी नहीं हो पाता था अत: शिक्षा विभाग और विश्वविद्यालयों में आपसी मनोमालिन्य एवं कटुता भी आने लगी।

विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने तथा प्रमाण-पत्र वितरण करने का ही काम करते रहे। इनमें न तो सीधे पढ़ाने का कार्य आरम्भ हुआ और न इनमें घोषणा के अनुसार प्रोफेसरों की ही नियुक्ति की गई। सरकारी कालेजों की संख्या भी कम होने के बजाय बढ़ती ही गई।

इस अवधि में भारत में बृटिश राज्य का पर्याप्त विस्तार हो गया था। कालेजों की संख्या अधिकाधिक बढ़ रही थी। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालयों से पंजाब तथा उत्तरप्रदेश आदि के कालेज भी सम्बन्धित थे किन्तु दूर होने के कारण इन कालेजों को बड़ी असुविधा होती थी। इस कारण विश्वविद्यालयों की माँग स्वाभाविक थी। पंजाब ने सन् १८६५ में एक प्राच्य विश्वविद्यालय खोलने की माँग की। इसमें प्राच्य भाषाओं—संस्कृत, अरबी, फारसी, तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं—के शिक्षण की विशेष व्यवस्था करने की योजना थी। इसी प्रकार सन् १८६७ में उत्तरपश्चिमी प्रान्त (उत्तर-प्रदेश) में भी विश्वविद्यालय की माँग की गई। किन्तु सन् १८८२ से पहले कुछ नहीं हो सका।

लाहौर में सन् १८६९ में एक यूनीवर्सिटी कालेज की स्थापना हुई थी। सन् १८८२ में अधिनियम बनाकर पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना कर दी गई। इस विश्वविद्यालय का विधान भी अन्य तीन विश्वविद्यालयों के समान ही था किन्तु इसकी एक धारा द्वारा प्रोफेसरों तथा लेक्चरारों की नियुक्ति करके शिक्षण-

कार्य करने की भी व्यवस्था की गई। इस विश्वविद्यालय की एक विशेषता प्राच्य साहित्य—संस्कृत तथा अरबी आदि का अध्ययन और देशी भाषा का माध्यम—थी। इसमें पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के बी० ए० तथा एम० ए० के समकक्ष ही प्राच्य साहित्य के लिये भी बी० ए० तथा एम० ए० की उपाधियाँ रखी गईं किन्तु इनका माध्यम देशी भाषाएँ थीं।

जैसा कहा जा चुका है सन् १८८२ में प्रथम भारतीय शिक्षा-कमीशन की नियुक्ति हुई। यद्यपि स्पष्ट रूप से उच्चशिक्षा कमीशन की जाँच का विषय न थी, फिर भी कमीशन ने अपनी सिफारिशों में उच्चशिक्षा के विषय में कहा:—

(१) उच्चशिक्षा के क्षेत्र से सरकार सावधानी से हट जाये और इसका उत्तरदायित्व गैरसरकारी प्रयासों पर छोड़ दे। यदि शिक्षा के क्षेत्र में हानि होने की सम्भावना न हो तो सरकारी कालेजों को भी भारतीयों के प्रबन्ध में दे दिया जाये।

(२) कालेजों को साधारण तथा विशेष अनुदान दिये जायें।

(३) बड़े कालेजों में विभिन्न पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जाये।

(४) कालेजों में फीस तथा स्कॉलरशिप आदि के नियम बना दिये जायें।

सरकार ने कुछ मुख्य प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और कालेजों की जाँच-पड़ताल का कार्य आरम्भ हो गया। सन् १८८६ में इनकी प्रथम रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें कालेजों का वर्गीकरण किया गया और उनके आय-व्यय का विवरण दिया गया।

उत्तर-पश्चिमप्रान्त (उत्तरप्रदेश) में भी विश्वविद्यालय की माँग बराबर दोहराई जा रही थी। भारतीय कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट में इस प्रान्त में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की सिफारिश की थी। इलाहाबाद में म्योर कालेज की स्थापना हो चुकी थी। भारत सरकार ने एक कानून द्वारा सन् १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना की। इसका विधान भी अन्य विश्वविद्यालयों के समान ही था और इसका आरम्भ भी एक परीक्षक विश्वविद्यालय के रूप में हुआ। इस प्रकार भारतवर्ष में अब तक पाँच विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे और उच्चशिक्षा की माँग बढ़ने के कारण कालेजों की संख्या में भी बहुत वृद्धि हो रही थी। सन् १८८२ में उच्चशिक्षा के कालेजों की संख्या ५९ थी किन्तु नन् १९०२ तक यह संख्या १४० हो गई। किन्तु उन्नीसवीं शती के अन्त तक विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई। विश्वविद्यालय केवल कालेजों को मान्यता देते थे, उनके विद्यार्थियों की परीक्षाएँ लेते थे और उनको उपाधियाँ वितरण करते थे।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है सन् १८९९ में लार्ड कर्जन भारत के वाइसराय होकर आये। उन्होंने यहाँ की शिक्षा का पुनस्संगठन करने का प्रयत्न किया। शिमला कान्फ्रेंस में भारतीय शिक्षा के सभी अङ्गों पर विचार किया गया। इन विचारों के फलस्वरूप लार्ड कर्जन ने सन् १९०२ में प्रथम भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति की। इस समय तक विश्वविद्यालयों का कार्यभार बहुत बढ़ गया था। संख्या सीमित न होने के कारण विश्वविद्यालयों के सिनेटों के सदस्यों की संख्या अनावश्यक रूप से बढ़ गई थी। सिनेट में शिक्षकों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं था। सम्बन्धित कालेजों पर विश्वविद्यालय का परीक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था अतः कालेजों के शिक्षा-स्तर, छात्रावास तथा अध्यापन आदि की व्यवस्था संतोषजनक न थी। विश्वविद्यालयों में अपनी ओर से शिक्षण के विभाग न थे। सन् १८९८ में लन्दन विश्वविद्यालय का भी विधान बदल दिया गया था और उसमें शिक्षण का प्रत्यक्ष कार्य भी शामिल कर दिया गया था।

अतः सन् १९०२ के कमीशन की जाँच का विषय रखा गया:––"बृटिश भारत में स्थापित विश्वविद्यालयों की दशा तथा उनके भविष्य की जाँच करना और उनके विधान एवं कार्य-प्रणाली में सुधार के प्रस्ताव प्रस्तुत करना और ऐसे सुझाव रखना जिससे विश्वविद्यालयों की शिक्षा का स्तर ऊँचा हो और शिक्षा उन्नति करे।" कमीशन ने सभी विश्वविद्यालयों का भ्रमण किया और अत्यन्त छानबीन के पश्चात् निम्नलिखित मुख्य प्रस्ताव रखे:––

(१) विश्वविद्यालयों के विधान इस प्रकार परिवर्तित कर दिये जायें जिससे वे निश्चित सीमा में शिक्षण-कार्य आरम्भ कर सकें।

(२) सिनेट, सिंडीकेट तथा विभिन्न विभागों का पुनस्संगठन किया जाये। प्रत्येक के सदस्यों की संख्या नियत कर दी जाये और उन्हें अधिक प्रतिनिध्यात्मक बनाया जाये।

(३) सम्बन्धित कालेजों को मान्यता देने के नियमों में अधिक कड़ाई रखी जाये और विश्वविद्यालय द्वारा सम्बन्धित कालेजों का अधिक नियमित निरीक्षण किया जाये।

(४) प्रत्येक कालेज की एक समुचित संगठित प्रबन्धक-समिति हो जो विद्यार्थियों के अनुशासन और रहने, तथा कार्य करने की अवस्थाओं पर विशेष ध्यान दे।

(५) पाठ्यक्रम और परीक्षाविधियों में प्रस्तावित सुझावों के अनुसार परिवर्तन किया जाये।

इन्हीं प्रस्तावों के आधार पर २१ मार्च सन् १९०४ में 'भारतीय विश्व-विद्यालय विधेयक' कानून बन गया। इसकी मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) सिनेट में कम-से-कम ५० और अधिक-से-अधिक १०० सदस्य हों। उनकी सदस्यता-अवधि आजीवन न होकर ५ वर्षों के लिये हो। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों में २० और अन्यों में १५ चुने हुए सदस्य हों।

(२) सिण्डीकेटों को काननी स्वीकृति दी जाये और उनमें विश्वविद्यालय के शिक्षकों का उचित प्रतिनिधित्व हो।

(३) कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार कालेजों को मान्यता देने के नियम निर्धारित कर दिये जायें और उनमें कड़ाई कर दी जाये। सम्बन्धित कालेजों में सिण्डीकेट द्वारा नियमित निरीक्षण की व्यवस्था हो जिससे शिक्षा-स्तर ऊँचा उठे।

(४) विश्वविद्यालय प्रोफेसर तथा लेक्चरर की नियुक्ति करके शिक्षण और अनुसन्धान के कार्य का प्रत्यक्ष भार ग्रहण करें और शिक्षा का स्तर ऊँचा करें।

(५) सिनेट द्वारा प्रस्तावित नियमों में सरकार स्वीकृति के अतिरिक्त संशोधन भी कर सकती है और आवश्यकता पड़ने पर नियम बना भी सकती है।

(६) सपरिषद् गवर्नर-जनरल विश्वविद्यालयों की प्रादेशिक सीमा निर्धारित कर देगा।

इसी वर्ष ११ मार्च सन् १९०४ में लार्ड कर्जन ने जो सरकारी शिक्षा-नीति के प्रस्ताव प्रकाशित किये थे उनमें भी उच्च शिक्षा-विषयक यही बातें कही गई थीं। यह पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया था कि भारत में विश्वविद्यालयों के विधान और प्रबन्ध में आवश्यक सुधार अत्यन्त आवश्यक हो गये हैं।

भारतीय जनमत ने इस विश्वविद्यालय विधेयक का, धारासभा में तथा बाहर, सर्वत्र विरोध किया। लार्ड कर्जन की नीति के प्रति भारतीय सशंक हो चुके थे। भारतीय मत था कि कालेजों की शिक्षा को सरकारी नियन्त्रण तथा कड़ाई की नीति से आघात पहुँचेगा और शिक्षा-क्षेत्र में गैरसरकारी प्रयत्न हतोत्साहित हो जायेंगे। सिनेट में चुने हुए सदस्यों की संख्या अत्यन्त नगण्य थी। इन सभी बातों के कारण भारतीयों में असन्तोष की वृद्धि होने लगी। कुछ अंशों में उनकी शंकाएँ उचित थीं। कालेजों के सम्बन्ध में कड़ाई बरतने का प्रभाव अतिशीघ्र पड़ा। सन् १९०२ में भारत में सम्बन्धित कालेजों की संख्या १९२ थी किन्तु सन् १९१२ में यह संख्या घटकर १७० के करीब रह गई। किन्तु शिक्षा की इच्छा बलवती होने के

कारण विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होती गई। विश्वविद्यालयों में भी शिक्षण-कार्य आरम्भ हो गया।

इसमें सन्देह नहीं कि इस विधेयक द्वारा विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियन्त्रण दृढ़ हो गया। दूसरी ओर देश में राजनैतिक तथा सामाजिक जाग्रति हो चली थी। लार्ड कर्जन की नीति के विरोध स्वरूप देश में स्वदेशी आन्दोलन (सन् १९०५) का जन्म हुआ। अनेक राष्ट्रीय संस्थायें शिक्षा के लिये स्थापित हुईं जिनमें गुरुकुल काँगड़ी, गुरुकुल वृन्दावन, तथा राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्, बंगाल द्वारा खोली गई संस्थायें प्रमुख थीं। स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीयता की भावनाएँ प्रबल हो रही थीं। मुसलमानों में भी शिक्षा का चाव बढ़ रहा था। सन् १९०६ में मुसलिम लीग की स्थापना हुई और मुसलमान शिक्षा के लिये अलग संस्थाओं की माँग करने लगे। औद्योगिक तथा व्यावहारिक शिक्षा की माँग भी देश में अधिक उग्र होने लगी।

इस कारण सरकार के लिये आवश्यक हो गया कि वह भारतीय शिक्षा-नीति का स्पष्टीकरण फिर से करे। सन् १९१३ में सरकार ने एक घोषणा-पत्र द्वारा अपनी नीति प्रकाशित की। इसमें उच्चशिक्षा के लिये कहा गया :—

(१) वर्त्तमान विश्वविद्यालयों ने अच्छा कार्य किया है किन्तु उच्चशिक्षा की दशा भारत में संतोषजनक नहीं है। अभी भारत में परीक्षक विश्वविद्यालयों की आवश्यकता रहेगी; किन्तु उनकी प्रादेशिक सीमा पूर्णतः निश्चित होनी चाहिये।

(२) इनकी संख्या पर्याप्त है अतः प्रत्येक प्रान्त में केवल शिक्षण-कार्य करनेवाले नये स्थानीय विश्वविद्यालयों की स्थापना का प्रयत्न किया जाये। सरकार ने ढाका में इस प्रकार का विश्वविद्यालय स्थापित करने का फैसला कर लिया है तथा कुछ शर्तों के साथ अलीगढ़ एवं बनारस में भी विश्वविद्यालयों की स्थापना की स्वीकृति देने को तैयार है। आगे सरकार रंगून, पटना और नागपुर में भी विश्व विद्यालयस्थापित करने का विचार कर रही है। योग्य तथा साधन-सम्पन्न कालेजों को भी स्थानीय विश्वविद्यालयों में परिवर्तित कर देना सम्भव हो सकेगा।

(३) सरकार वर्त्तमान विश्वविद्यालयों के शिक्षण-कार्य को उन्नत देखने की इच्छुक है। इनमें विद्यार्थियों की सामाजिक, नैतिक तथा बौद्धिक शक्तियों के विकास का वातावरण होना चाहिये। पुस्तकालय, छात्रावास, तथा छात्रों के चरित्र-निर्माण पर विशेष ध्यान देना वाञ्छनीय है।

(४) विश्वविद्यालयों का कार्य-भार अधिक हो गया है अतः हाईस्कूलों को स्वीकृति प्रदान करने का कार्य विश्वविद्यालयों से हटाकर प्रान्तीय सरकारों तथा देशी राज्यों को सौंप देना उचित है। इस प्रकार विश्वविद्यालयों को उच्च-शिक्षा में अधिक अच्छा कार्य करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

इस प्रकार सन् १९१३ की घोषणा ने अधिक विश्वविद्यालयों की आवश्यकता पर जोर दिया तथा संघात्मक (Federal) तथा एकात्मक (Unitary) विश्वविद्यालयों की स्थापना का सुझाव दिया। किन्तु अगस्त सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने के कारण सभी प्रस्तावों को कार्यान्वित नहीं किया जा सका। किन्तु सन् १९१६ में पण्डित मदनमोहन मालवीय के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तथा सन् १९१७ में पटना विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। देशी राज्यों में भी विश्वविद्यालयों की माँग हो चली थी। सन् १९१७ ई० में मैसूर राज्य में बंगलौर और मैसूर के कालेजों को मिलाकर मैसूर विश्वविद्यालय की स्थापना हो गई।

सन् १९१७ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में सर आशुतोष मुकर्जी के प्रयत्न से स्नातकोत्तर विभाग खोले गये। विश्वविद्यालय ने यह भी निश्चय किया कि जहाँ तक सम्भव हो स्नातकोत्तर शिक्षण का कार्य प्रत्यक्ष विश्वविद्यालय में ही केन्द्रित किया जाये। इस उद्देश्य से बहुत-से प्रोफेसरों और लेक्चररों की नियुक्ति विश्वविद्यालय में हुई। इसमें अनुसन्धान-कार्य की भी सुविधाएँ प्रदान की गईं। सरकार का ध्यान इन बातों पर गया और सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की जाँच के लिये एक कमीशन नियुक्त करने का निश्चय किया। सन् १९१७ में सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति की। लीड्स विश्व-विद्यालय के वाइस-चांसलर डॉ० एम० ई० सैडलर, इसके अध्यक्ष थे। सर आशुतोष मुकर्जी और डॉ० ज़ियाउद्दीन अहमद उसके भारतीय सदस्य थे। कमीशन अत्यन्त शक्तिशाली था और इसके जाँच-क्षेत्र में प्रधानतः कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा उससे सम्बन्धित कालेजों तथा माध्यमिक स्कूलों की शिक्षा थी।

जैसा कहा जा चुका है कमीशन ने अखिलभारतवर्षीय शिक्षा का सूक्ष्म अध्ययन किया और सन् १९१९ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया। प्रतिवेदन में माध्य-मिक तथा उच्चशिक्षा का पूर्ण विवेचन किया गया और उन पर सुझाव दिये गये। प्रतिवेदन बहुत ही विस्तृत है और तेरह भागों में विभाजित है। उसके मुख्य प्रस्ताव आगे लिखे अनुसार हैं :—

(१) इण्टरमीडिएट की कक्षाएँ विश्वविद्यालयों से अलग कर दी जायें और विश्वविद्यालयों में प्रवेश इण्टर परीक्षा के बाद हो। डिग्री कोर्स तीन वर्षों का कर दिया जाये।

(२) इण्टरमीडिएट कक्षाओं के लिये अलग इण्टरमीडिएट कालेज खोले जायें जहाँ चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कृषि, वाणिज्य, अध्यापन, व्यवसाय, कला, तथा विज्ञान आदि विषयों के पाठ्यक्रम रखे जायें।

(३) माध्यमिक तथा कालेज शिक्षा के निरीक्षण और नियन्त्रण के लिये प्रान्तों में माध्यमिक शिक्षा परिषदें (बोर्ड आफ सेकेण्डरी एण्ड इण्टरमीडिएट एजुकेशन)) स्थापित की जायें। माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में परिषद् शिक्षा विभाग के नियन्त्रण से प्रायः मुक्त रहे। इन्हें हाईस्कूल और इण्टरमीडिएट इन दो परीक्षाओं की व्यवस्था का अधिकार रहे।

(४) कलकत्ता विश्वविद्यालय, केन्द्र के स्थान पर, बंगाल सरकार के अधीन हो। कलकत्ता की शिक्षण-संस्थाओं में सुधार कर, एक वास्तविक शिक्षण विश्वविद्यालय को संगठित किया जाये। ढाका में एक सावास-शिक्षण विश्वविद्यालय (Residential and Teaching University) की स्थापना शीघ्र कर दी जाये।

(५) विश्वविद्यालयों के शिक्षणसम्बन्धी विषयों में सरकार का नियन्त्रण समाप्त कर दिया जाये। विश्वविद्यालयों को अधिक स्वतन्त्रता दी जाये। सिनेट के स्थान पर कोर्ट, तथा सिण्डीकेट के स्थान पर कार्यकारिणी समिति एवं एकेडेमिक समिति की स्थापना की जाये।

(६) सरकारी नौकरी-प्रणाली विश्वविद्यालयों के लिये उपयुक्त नहीं है अतः विश्वविद्यालयों की नौकरी का संगठन अलग हो और प्रोफेसरों और लेक्चररों की नियुक्ति विशेषज्ञों द्वारा हो।

(७) वाइस चांसलर का पद वैतनिक कर दिया जाये। कालेज एक ओर आपस में तथा दूसरी ओर विश्वविद्यालय से अधिक सहयोग करें।

(८) स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाये और इसके लिये एक अलग बोर्ड की स्थापना की जाये।

(९) अध्यापन, कानून, इंजीनियरिंग, डाक्टरी, एवं कृषि आदि की औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध विश्वविद्यालयों में किया जाये।

(१०) माध्यमिक शिक्षा का माध्यम अधिकांश विषयों के लिये मातृभाषा हो किन्तु उच्चशिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहे।

(११) परीक्षा-प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन किये जायें।

इनके अतिरिक्त कमीशन ने माध्यमिक तथा उच्चशिक्षा के किसी अंग को अछूता न छोड़ा था और सभी पर कुछ सिफारिशें की थीं। उसने प्राच्य साहित्य, शिक्षकों का संगठन और प्रशिक्षण, औद्योगिक, व्यावसायिक, स्वास्थ्य आदि के सुधार के सुझाव रखे। वास्तव में रिपोर्ट अत्यन्त विशद और उपयोगी थी और भारतीय शिक्षा-इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। माध्यमिक एवं उच्चशिक्षा के पुनस्संगठन और उनकी उन्नति का श्रेय इस कमीशन को है। कमीशन, लन्दन विश्वविद्यालय के लिये नियुक्त हाल्डेन कमीशन की रिपोर्ट, जो पहले ही प्रकाशित हुई थी, से अत्यधिक प्रभावित हुआ था और भारतीय शिक्षा-संगठन को बृटेन के अनुसार ही ढालना चाहता था। भारत सरकार ने जनवरी सन् १९२० में प्रस्ताव प्रकाशित कर कमीशन की रिपोर्ट के प्रस्ताव स्वीकृत कर लिये और प्रान्तों को विचारार्थ भेज दिये।

सन् १९२० ई० से सन् १९४७ ई० तक—इसके पश्चात् भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या शीघ्रता से बढ़ने लगी। उसमानिया विश्वविद्यालय (हैदराबाद) की स्थापना सन् १९१८ में ही हो चुकी थी। इसकी विशेषता यह है कि उच्चशिक्षा का माध्यम उर्दू भाषा को रखा गया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय रिपोर्ट के बाद अलीगढ़ (१९२०), रंगून (१९२०), लखनऊ (१९२०), ढाका (१९२१), दिल्ली (१९२२), नागपुर (१९२३), आन्ध्र (१९२६), आगरा (१९२७), तथा अन्नामलय (१९२९), विश्वविद्यालय खुल गये। सन् १९१५ तक भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या केवल पांच थी किन्तु इस प्रकार सन् १९३० तक यह संख्या १७ हो गई।

इस प्रकार इस काल में विश्वविद्यालय शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई। इनमें कुछ विश्वविद्यालय केवल सम्बन्धक और कुछ केवल शिक्षक हैं और कुछ में दोनों ही कार्यों का समन्वय है। इसी अवधि में पुराने विश्वविद्यालयों के नियमों में भी संशोधन हुआ और उनमें शिक्षण तथा अनुसंधान की सुविधाएँ बढ़ाई गईं। इलाहाबाद (१९२२ में), कलकत्ता (१९२१ में), बम्बई (१९२८ में) तथा मद्रास (१९२३ में), विश्वविद्यालय परिवर्तित और परिवर्द्धित हुये। नवीन स्थापित विश्वविद्यालय भी अपने क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति करने लगे।

भारत में उच्चशिक्षा की उन्नति होने तथा कई विश्वविद्यालयों के स्थापित हो जाने के कारण सरकार को यह आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि विभिन्न विश्वविद्यालयों में सहयोग तथा उनके कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिये कोई परिषद् होनी चाहिये। कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने भी इसकी आवश्यकता

बताई ही थी। अतः सन् १९२४ में भारतीय विश्वविद्यालय सम्मेलन ने एक अन्तर्विश्वविद्यालय परिषद् की स्थापना का संकल्प किया। इसका प्रधान कार्यालय बंगलौर में रखा गया। परिषदों में सभी विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि सम्मिलित रखे गये और परिषद्र के मुख्य कार्य इस प्रकार रहे:—

(अ) अन्तर्विश्वविद्यालय संगठन एवं सूचना केन्द्र के रूप में कार्य करना।

(आ) प्रोफेसरों के आदान-प्रदान को सुविधापूर्ण बनाना।

(इ) विश्वविद्यालयों में विचार-विनिमय के मार्ग के रूप में कार्य करना तथा उनके कार्यों में एकरूपता उत्पन्न करना।

(ई) भारतीय विश्वविद्यालयों को अन्य देशों में अपनी उपाधियों को मान्य कराने में सहायता देना।

(उ) अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलनों में अपने प्रतिनिधि को भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भेजना।

परिषद् की स्थापना सन् १९२५ में हुई और तब से इसने अत्यन्त उपयोगी कार्य किया है। उच्चशिक्षाविषयक मामलों में परिषद् केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-परिषद् को सलाह देती है। परिषद् की वार्षिक बैठकें भिन्न-भिन्न स्थानों पर होती रहती हैं। पंचवर्षीय सम्मेलन भी होते हैं। परिषद् की ओर से हैण्डबुक आफ इण्डियन यूनिवर्सिटीज़ (Hand Book of Indian Universities) नामक प्रसिद्ध प्रकाशन भी निकला है; किन्तु परिषद् प्रमुखतः एक परामर्शदात्री संस्था के रूप में ही कार्य करती रही है।

राजनीतिक क्षेत्र में असहयोग आन्दोलन के कारण इस काल में पुनः एक वार राष्ट्रीय शिक्षा की भावना प्रबल हो गई। गुजरात विद्यापीठ, और काशी विद्यापीठ आदि राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना इसी युग में हुई। इनमें मातृभाषा के माध्यम द्वारा उच्च विषयों का शिक्षण होने लगा और राजनीतिक एवं राष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न करना इनका प्रमुख कार्य रहा। इसी प्रकार विश्वभारती (शान्ति-निकेतन) तथा जामिया मिलिया इस्लामिया आदि राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना इसी काल में हुई। इनके अतिरिक्त कुछ सरकारी तथा कुछ गैरसरकारी उच्चशिक्षा के केन्द्र भी स्थापित हुये जो विभिन्न विषयों में उच्चशिक्षा प्रदान करते थे; किन्तु किसी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित नहीं थे और न स्वयं विश्वविद्यालय थे, जैसे इण्डियन वीमैन्स यूनिवर्सिटी, बम्बई।

हर्टाग समिति (१९२९) ने विश्वविद्यालय शिक्षा पर कोई विशेष सुझाव नहीं दिया। किन्तु समिति ने अपने प्रतिवेदन में उच्चशिक्षा के कतिपय दोषों

को बतलाया। समिति ने विश्वविद्यालयों के शिक्षण-कार्य पर संतोष प्रकट किया और भारत के लिये सम्बन्धक विश्वविद्यालयों की उपयोगिता कुछ अधिक काल के लिये आवश्यक बतलाई। समिति ने कहा, "अधिकांश भारतीय अब भी इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं कि विश्वविद्यालय का मुख्य कार्य विद्यार्थियों को परीक्षा पास करा देना है। हमारी इच्छा है कि इस बात का अधिक आभास मिले कि विश्वविद्यालय उदार, सहिष्णु और आत्मविश्वासी नागरिकों के निर्माण को अपना मुख्य कर्त्तव्य मानते हैं। विश्वविद्यालयों के कार्य में, उन विद्यार्थियों के अन्धाधुन्ध प्रवेश से, जो उच्चशिक्षा से लाभ उठाने के अयोग्य हैं, बड़ी बाधा पड़ी है। वे जीवन के अन्य क्षेत्रों में अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं।" इसके अतिरिक्त समिति ने शिक्षा-स्तर को ऊँचा करने, ऑनर्स कोर्स स्थापित करने, अयोग्य विद्यार्थियों की भर्ती रोकने, तथा पुस्तकालयों को उन्नत बनाने आदि के भी प्रस्ताव किये।

अनेक कारणों से भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा की माँग बढ़ती गई। प्रमुख कारण अब भी उच्चशिक्षा प्राप्ति के बाद अच्छी नौकरियाँ प्राप्त करने का लक्ष्य था। इसके अतिरिक्त उच्चशिक्षा से होनेवाले सांस्कृतिक एवं सामाजिक लाभ का आकर्षण भी था। प्रत्येक भाषाभाषी प्रदेश अपनी-अपनी यूनिवर्सिटी की माँग करने लगा। ट्रावनकोर विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १९३७ में त्रिवेन्द्रम में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य केवल कला एवं संस्कृति का संरक्षण एवं परिवर्द्धन है। उड़ीसा प्रान्त के लिये उत्कल विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १९४३ में हुई। इस प्रकार सागर (१९४६), पूर्वी पंजाब (१९४७), राजपूताना (१९४७), गौहाटी (आसाम) (१९४७), पूना, रुड़की, काश्मीर (१९४८), बड़ौदा (१९४९), गुजरात, कर्नाटक (१९५०), बिहार (१९५१), (S.N.D.T.) (बम्बई) महिला विश्वविद्यालय (१९५१–५२), विश्वभारती १९५१ तथा श्री वेंकटेश्वर (निरूपथी, आन्ध्र) (१९५५) विश्वविद्यालय अब तक खुल चुके हैं। सम्पूर्ण भारत में वर्त्तमान विश्वविद्यालयों की संख्या ३१ है। अभी कुरुक्षेत्र तथा काशी में एक-एक संस्कृत विश्वविद्यालय तथा अन्य कुछ स्थानों पर नये विश्वविद्यालय स्थापित करने के प्रयत्न जारी हैं। उच्चशिक्षा का प्रसार अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

पुराने तथा नये सभी विश्वविद्यालय उन्नति कर रहे हैं। उनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन हुये हैं। सभी की अलग-अलग विशेषताएँ हैं। नवीन विभाग, नवीन उपाधियाँ तथा पाठ्यक्रम आदि बढ़ते जा रहे हैं। सन् १९३४ में अन्त-

विश्वविद्यालय परिषद् ने बढ़ते हुये स्नातकों की बेकारी को देखकर कहा था कि माध्यमिक-शिक्षा-स्तर का पुनस्संगठन करना आवश्यक है जिससे अधिकतर विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा के बाद विभिन्न व्यवसायों में जा सकें और विश्वविद्यालयों की भीड़ कम हो सके और उनका स्तर ऊँचा किया जा सके। परिषद् ने इस हेतु सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था का पुनस्संगठन और स्तरों का पुनर्निर्माण करने का सुझाव दिया। डिग्री कोर्स तीन वर्ष का रखने का भी प्रस्ताव किया। तबसे अब तक कई समितियों और कमीशनों ने इस पुनस्संगठन की सिफारिशें की हैं। केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने स्तरों का पुनस्संगठन स्वीकार कर लिया है और इस दिशा में कार्य हो रहा है। दिल्ली विश्वविद्यालय ने अपना डिग्री कोर्स तीन साल का कर दिया है।

केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने सन् १९४३ में अपनी रिपोर्ट में भारतीय विश्वविद्यालयों के भविष्य की रूपरेखा दी और उसमें एक विश्वविद्यालय अनुदान समिति के संगठन का सुझाव भी दिया। सन् १९४६ में यह समिति नियुक्त कर दी गई और विश्वविद्यालयों को अनुदान देने का कार्य इस समिति के सुपुर्द हो गया है।

सन् १९४४ में सार्जेण्ट योजना ने भी उच्चशिक्षा पर अपने सुझाव प्रकाशित किये। उसके मुख्य प्रस्ताव निम्नलिखित थे :—

(१) वर्त्तमान भारतीय विश्वविद्यालय यथार्थ रूप में राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते। इनके प्रवेश नियमों में कड़ाई होनी चाहिये और उन्हीं विद्यार्थियों का प्रवेश होना चाहिये जो उच्चशिक्षा से लाभ उठाने की क्षमता रखते हैं। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा से निकलनेवाले १५ विद्यार्थियों में से एक का प्रवेश विश्वविद्यालयों में किया जाये।

(२) इण्टरमीडिएट कक्षाओं को हटाकर उनका एक वर्ष माध्यमिक स्कूलों में और एक वर्ष डिग्री कक्षाओं में मिला दिया जाये।

(३) ट्यूटोरियल प्रथा लागू की जाये और शिक्षकों तथा विद्यार्थियों का व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाया जाये। उच्चकक्षाओं में अनुसंधान-कार्य पर विशेष ध्यान दिया जाये।

(४) शिक्षकों की आर्थिक दशा, कार्य करने की अवस्थाओं तथा वेतन में समुचित सुधार किया जाये। शिक्षकों की संख्या में भी वृद्धि की जाये।

(५) एक भारतीय 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' नियुक्त की जाये जो विश्वविद्यालयों को दिये जानेवाले अनुदानों का निर्णय करे। समिति विभिन्न

विश्वविद्यालयों के कार्यों में साम्य तथा एकता उत्पन्न करने की कोशिश भी करे। विश्वविद्यालयों के लिये व्यक्तिगत दान को भी समिति उत्साहित करे और विदेशी विश्वविद्यालयों से भी सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करे।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद भारत में विश्वविद्यालयीय शिक्षा अति तीव्र गति से बढ़ी। जनता ने भी उदारतापूर्वक दान दिया और सरकार ने भी अनुदान की राशि में पर्याप्त वृद्धि कर दी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से भारत में बारह नये विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके हैं और निकट भविष्य में कुछ और खुलनेवाले हैं। छात्रों की संख्या में भी अत्यधिक वृद्धि हुई है। सभी विश्वविद्यालयों का आकार बढ़ रहा है और उनमें नवीन विषय तथा नवीन विभाग खोले जा रहे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर-काल में--विश्वविद्यालयों में सुधार की दृष्टि से अन्तर्विश्वविद्यालय परिषद् तथा केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने सरकार के सामने एक अखिलभारतीय विश्वविद्यालय कमीशन नियुक्त करने का सुझाव रखा। भारत सरकार ने नवम्बर सन् १९४८ में डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति कर दी। अगस्त सन् १९४९ में कमीशन ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिवेदन है।

कमीशन की जाँच का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। इसे विश्वविद्यालयों के वर्त्तमान तथा भविष्य की रूपरेखा के सभी अंगों पर प्रकाश डालना था। उसे विश्वविद्यालयीय शिक्षा एवं अनुसंधान के उद्देश्य, उनके विधान, नियन्त्रण, कार्य तथा क्षेत्र में आवश्यक परिवर्तन तथा केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों से उनका सम्बन्ध, आर्थिक प्रश्न, शिक्षा का उच्चस्तर, प्रशिक्षण-व्यवस्था, पाठ्यक्रम, प्रवेश, शिक्षण का माध्यम, धार्मिक शिक्षा तथा अनुशासन आदि सभी पर सुझाव देना था।

कमीशन ने प्रथम भाग में १८ अध्यायों में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। द्वितीय भाग में आँकड़े एवं साक्षी आदि हैं। प्रथम अध्याय में कमीशन ने अपने नियुक्ति-काल से पूर्व तक का विश्वविद्यालयीय शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास दिया है। द्वितीय अध्याय में कमीशन ने देश के निर्माण तथा उत्थान को ध्यान में रखते हुये विश्वविद्यालयीय शिक्षा के उद्देश्यों में प्रजातन्त्र, न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, राष्ट्रीय भावना, भारतीय संस्कृति का अटूट स्रोत, भारतीय परम्परा का संरक्षण तथा अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व के तत्त्वों पर बल दिया है। तीसरे अध्याय में शिक्षकों की समस्याओं की समीक्षा करते हुये कमीशन ने कहा है कि शिक्षक के महत्त्व और उत्तरदायित्व को मान्यता दी जाये।

उसने सुझाया कि विश्वविद्यालयों में चार श्रेणी के शिक्षक हों—प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरर, और इंस्ट्रक्टर। इनके अतिरिक्त प्रत्येक विश्वविद्यालय में कुछ अनुसंधान अभिसदस्य (Research fellows) भी हों। इनका वेतन-क्रम इस प्रकार से हो :—

	विश्वविद्यालयों में
प्रोफ़ेसर	९००-५०-१,३५०
रीडर	६००—३०—९००
लेक्चरर	३००—२५—६००
इंस्ट्रक्टर	२५०—२५—५००
अनु. अभिसदस्य	२५०—२५—५००

	सम्बन्धित स्नातक-कक्षा कालेज	स्नातकोत्तर-कक्षा कालेज
लेक्चरर	२००-१५-३२०-२०-४००	२००-१५-३२०-२०-४००—२५—५००
सीनियर पद	४००—२५—६००	५००—२५—८००
प्रिंसीपल	६००—४०—८००	८००—५०—१,०००

एक श्रेणी से उच्चश्रेणी पर उन्नति केवल योग्यता के आधार पर होनी चाहिये। शिक्षकों के चुनाव में सावधानी बर्ती जाये। जूनियर और सीनियर शिक्षकों का अनुपात प्रायः २ : १ होना चाहिये। अवकाश-ग्रहण की आयु साधारणतः ६० वर्ष होनी चाहिये किन्तु प्रोफेसरों को ६४ वर्ष की आयु तक अवसर दिया जा सकता है। प्राविडेण्ट फण्ड, छुट्टियाँ और कार्य-काल की अवस्थाएँ निश्चित होनी चाहिये। आर्थिक कठिनाइयों में पड़े हुए विश्वविद्यालयों को अनुदान देकर उन्हें क्षमता-शाली बनाया जाये।

अगले अध्यायों में कमीशन ने विश्वविद्यालय के अन्य विविध अंगों की विवेचना करते हुये प्रस्ताव किये हैं :—

शिक्षण मानदण्ड—विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों का प्रवेश वर्त्तमान इण्टर परीक्षा अथवा उसकी समकक्ष परीक्षाओं के बाद (१२ वर्ष की अवधि की स्कूल तथा कालेज शिक्षा के उपरांत) ही होना चाहिये। प्रत्येक प्रान्त में अधिक संख्या में साधन-सम्पन्न इण्टरमीडिएट कालेज (कक्षा ९ से १२ या ६ से १२ तक के) खोले जायें। माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् विभिन्न उद्यमों की ओर विद्यार्थियों को आकर्षित करने के लिये अधिक संख्या में व्यावसायिक विद्यालय खोले जायें। हाई-

स्कूल तथा इण्टर कालेजों के अध्यापकों को प्रशिक्षण देने के लिये विश्वविद्यालय रिफ्रेशर कोर्सों की व्यवस्था करें। शिक्षक विश्वविद्यालयों के कला और विज्ञान विभागों में ३,००० तथा सम्बन्धित कालेजों में १,५०० विद्यार्थियों की उच्चतम संख्या निश्चित कर दी जाये। परीक्षा-दिवसों को छोड़कर वर्ष में कम-से-कम १८० कार्य-दिवस हों। शिक्षण-विधि में सुधार हो, ट्यूटोरियल पद्धति को संगठित किया जाये, तथा पुस्तकालय में अध्ययन और लिखित कार्य को प्रोत्साहित किया जाये। किसी कोर्स में पाठ्यपुस्तकें नियत न की जायें, प्राइवेट परीक्षार्थियों के ऊपर अधिक नियन्त्रण हो और व्यावसायिक लोगों के लिये शाम की कक्षाओं का परीक्षण किया जाये। पुस्तकालयों और प्रयोगशालाओं को आधुनिकतम ढंग से उन्नत किया जाये।

पाठ्यक्रम (कला तथा विज्ञान)—ऑनर्स के एक वर्ष बाद तथा उत्तीर्ण परीक्षा के दो वर्ष बाद मास्टर डिग्री दी जानी चाहिये। संकुचित विशेषज्ञता को दूर करने के लिये माध्यमिक स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में सामान्य शिक्षा (General education) के सिद्धान्तों और प्रयोगों का अध्ययन चालू कर देना चाहिये। विशिष्ट क्षेत्रों के अनुरूप सामान्य शिक्षा का पाठ्यक्रम एवं पाठ्यवस्तु तैयार कर लेना चाहिये जिससे बालक को व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिले और वह योग्य नागरिक बन सके।

स्नातकोत्तर प्रशिक्षरण श्रौर श्रनुसंधान (कला श्रौर विज्ञान)—एम० ए० तथा एम० एससी० के नियमों में साम्य होना चाहिये। इनके शिक्षण का उचित संगठन होना चाहिये जिसमें भाषण (लेक्चर), गोष्ठी (सेमीनार) तथा प्रयोग-शाला-कार्य सम्मिलित हों। पाठ्यक्रम में एक विषय का उच्च अध्ययन तथा अनुसंधान की विधियों का प्रशिक्षण सम्मिलित होना चाहिये। पीएच० डी० का अनुसंधान-कार्य कम-से-कम दो वर्ष का होना चाहिये। इसमें निबन्ध के अतिरिक्त मौखिक परीक्षा भी होनी चाहिये। अनुसंधान-क्षेत्र पर परीक्षार्थी को पूर्ण अधिकार होना चाहिये। विश्वविद्यालयों को विभिन्न विषयों, विशेषत: विज्ञान में अनुसंधान-कार्य की सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिये। पीएच० डी० तथा उच्च अनुसंधान के योग्य विद्यार्थियों के लिये छात्रवृत्तियों और अभिवृत्तिओं (Research fellowship) का पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिये। डी० लिट० और डी० एससी० की उपाधियाँ मौलिक तथा उच्चकोटि के प्रकाशित कार्यों पर ही दी जायें। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अनुसंधान को प्रोत्साहित और संगठित किया जाये और विश्वविद्यालय तथा सरकार उसके लिये सभी प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान करें। इसके

अतिरिक्त देश की प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं, साहित्य, दर्शन, धर्म, इतिहास, तथा ललित कला आदि में अनुसंधान के लिये विस्तृत क्षेत्र है। इसका उपयोग किया जाये।

व्यावसायिक शिक्षा—व्यावसायिक शिक्षा वह शिक्षा है जो मनुष्य को किसी व्यवसाय में परिश्रम एवं उत्तरदायित्व के साथ कार्य करने की क्षमता प्रदान करती है।

(अ) **कृषि**—भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है अतः कृषि-शिक्षा को एक मुख्य राष्ट्रीय प्रश्न मान लेना चाहिये। इस शिक्षा का समावेश प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्चशिक्षा में होना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो कृषि-शिक्षा, कृषि-अनुसंधान तथा कृषि-नीति-संचालन उन्हीं व्यक्तियों तथा संस्थाओं के हाथों में होना चाहिये, जिन्हें कृषि-जीवन का घनिष्ट सम्पर्क तथा विशेष ज्ञान प्राप्त हो। कृषि-शिक्षण की संस्थायें यथासंभव ग्रामीण क्षेत्रों में हों। वर्त्तमान कृषि कालेजों को आर्थिक सहायता देकर उनके साधनों को बढ़ाया जाये, नवीन कृषि कालेज खोले जायें; सरकार द्वारा प्रयोगात्मक फार्म खोले जायें और कृषि-अनुसंधान तथा प्रयोगशालाओं की स्थापना की जाये। 'इण्डियन काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च' को उन्नत किया जाये और उसके संरक्षण में एक इन्स्टीट्यूट ऑफ एग्रीकल्चरल पालिसी खोला जाये।

(आ) **वाणिज्य**—अध्ययन-काल में वाणिज्य के विद्यार्थियों को तीन अथवा चार फर्मों में व्यावहारिक कार्य करने का अवसर मिलना चाहिये। स्नातक परीक्षा के बाद उन्हें किसी शाखा में विशेषज्ञ बनने की चेष्टा करनी चाहिये। एम० काम० में भी पुस्तकीय ज्ञान कम हो और कुछ ही लोगों को इस डिग्री के लिये प्रवेश दिया जाये।

(इ) **शिक्षा**—प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में सुधार किया जाये और अध्यापनाभ्यास में अधिक समय दिया जाये। अभ्यास को प्रशिक्षण में अधिक महत्त्व दिया जाये। उसके लिये उपयुक्त स्कूल हों। प्रशिक्षण महाविद्यालय के अधिकांश अध्यापक वे हों जिन्हें स्वयं स्कूलों में पढ़ाने का अनुभव हो। शिक्षा-सिद्धान्त के पाठ्यक्रम लचीले तथा स्थानीय वातावरण के उपयुक्त हों। एम० एड० डिग्री में प्रवेश कुछ वर्षों के शिक्षण अनुभव के पश्चात् ही दिया जाये।

(ई) **इंजीनियरिंग तथा टेक्नोलॉजी**—वर्त्तमान इंजीनियरिंग तथा टेक्नोलाजिकल संस्थाओं का सुधार कर उनकी उपयोगिता को बढ़ाया जाये। विभिन्न

प्रकार के इंजीनियरिंग स्कूलों की संख्या में वृद्धि की जाये। इन स्कूलों और कालेजों में पढ़नेवालों को कारखानों में कार्य करके व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने की भी सुविधायें प्रदान की जायें। पाठ्यक्रम में सुधार किया जाये और उच्च टेक्नोलॉजिकल संस्थायें खोली जायें। इनको सरकारी नियन्त्रण में न रखकर विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कर दिया जाये।

(उ) **कानून**—कानून के कालेजों का पूर्ण पुनस्संगठन किया जाये। इनके अध्यापकों की नियुक्ति भी कला तथा विज्ञान विभाग के समान विश्वविद्यालयों में हो। तीन वर्ष का डिग्री कोर्स समाप्त करने के उपरांत इनमें प्रवेश दिया जाये। कानून के विशेष विषयों का तीन वर्ष का पाठ्यक्रम हो। इसमें अंतिम वर्ष व्यावहारिक शिक्षा में लगाया जाये। अध्यापक पूर्णकालीन तथा अंशकालीन दोनों प्रकार के हों। कानून के विद्यार्थियों को अध्ययन-काल में अन्य पाठ्यक्रमों को लेने की आज्ञा विशेष परिस्थिति में ही दी जाये।

(ऊ) **चिकित्सा**—एक मेडिकल कालेज में १०० से अधिक विद्यार्थी भर्ती न किये जायें। इनसे सम्बन्धित अस्पताल हों जहाँ प्रति विद्यार्थी १० मरीज हों, ग्रामीण केन्द्रों में भी इनके प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाये। कुछ कालेजों में स्नातकोत्तर शिक्षा की व्यवस्था भी हो। सार्वजनिक स्वास्थ्य, इञ्जीनियरिंग, सुश्रूषा (नर्सिंग) को अधिक महत्त्व दिया जाये। प्राचीन भारतीय चिकित्सा-पद्धति में अनुसंधान की सुविधा प्रदान की जाये।

इनके अतिरिक्त कमीशन ने वाणिज्य-प्रशासन, जन-प्रशासन और औद्योगिक सम्बन्धों के शिक्षण की व्यवस्था की भी सिफारिशें की हैं।

धार्मिक शिक्षा—भारत एक धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र राज्य है अतः किसी धर्मविशेष की शिक्षा सरकारी संस्थाओं में नहीं दी जाये। सभी शिक्षालयों में कार्यारम्भ कुछ मिनट के मौन चिन्तन के पश्चात् हो। डिग्री कक्षा के प्रथम वर्ष में गौतमबुद्ध, कनफ्यूशस, ज़ोरास्टर, सुकरात, ईसा, शंकर, रामानुज, माधव, मुहम्मद, कबीर, नानक तथा गान्धी सरीखे महान् धार्मिक गुरुओं का जीवन-चरित्र पढ़ाया जाये। द्वितीय वर्ष में कुछ चुने हुये विश्व-ग्रन्थों से सार्वभौमिक महत्त्व के भाग पढ़ाये जायें और तृतीय वर्ष में धर्म-दर्शन के केन्द्रीय तत्त्वों का अध्ययन कराया जाये।

शिक्षा का माध्यम—राष्ट्रभाषा को सम्पन्न बनाया जाये। उसमें विभिन्न मार्गों से आये हुये शब्दों का समन्वय कर लिया जाये। अन्तर्राष्ट्रीय

पारिभाषिक शब्दों का भारतीयकरण कर लिया जाये और भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुसार उनमें परिवर्तन कर लिया जाये। उच्चशिक्षा में अंग्रेजी के स्थान पर यथाशीघ्र एक भारतीय भाषा का प्रयोग किया जाये, माध्यमिक और विश्वविद्यालय स्तर पर विद्यार्थियों को तीन भाषाओं का ज्ञान होना चाहिये— मातृ भाषा (प्रदेशीय), राष्ट्रभाषा (संघीय), तथा अंग्रेजी। उच्चशिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो और यदि विद्यार्थी चाहे तो राष्ट्रभाषा भी प्रयोग कर सकते हैं। राष्ट्रभाषा के लिये देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाये और उसमें सुधार कर लिया जाये। प्रादेशीय और राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिये शीघ्र कदम उठाये जायें और वैज्ञानिकों तथा भाषा-विशेषज्ञों की एक परिषद् बनाई जाये जो समस्त देश के लिये वैज्ञानिक शब्दकोष निर्माण करे और प्रत्येक भारतीय भाषा में विभिन्न विज्ञान-शाखाओं की पुस्तकें तैयार करे। प्रान्तीय सरकारें राष्ट्रभाषा का शिक्षण माध्यमिक तथा उच्चशिक्षा में प्रचलित कर दें।

परीक्षायें—परीक्षाओं के उन्मूलन का समर्थन न कर कमीशन ने उन में सुधार वाञ्छनीय बतलाया है। कमीशन ने सिफारिश की है कि शिक्षा विभाग विशेषज्ञों द्वारा परीक्षाओं के सुधार का कार्य करे। विश्वविद्यालयों में परीक्षक बोर्ड की नियुक्ति हो। सरकारी नौकरियों के लिये डिग्री परीक्षा अनिवार्य न हो वरन् राज्य विभिन्न नौकरियों के लिये परीक्षाओं की व्यवस्था करे। वर्ष में किये गये कक्षा-कार्य को भी परीक्षा की सफलता-असफलता में शामिल किया जाये। परीक्षा के $\frac{1}{3}$ अंक इस कार्य के लिये सुरक्षित रखे जायें। तीन वर्ष की डिग्री कक्षाओं में प्रत्येक वर्ष के अन्त में एक स्वतःपूर्ण परीक्षा होनी चाहिये। परीक्षकों का चुनाव सावधानी से हो। कोई परीक्षक तीन वर्ष से अधिक के लिये न हो। बीच में तीन वर्ष का अवकाश देकर ही फिर परीक्षक हो। प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणियों के लिये ७०, ५५ और ४० प्रतिशत न्यूनतम अंक रखे जायें। आधुनिक वस्तुगत परीक्षाओं (Objective tests) और निबन्धरूप परीक्षाओं को मिला दिया जाये। स्नातकोत्तर तथा व्यावसायिक परीक्षाओं में मौखिक परीक्षा (*Viva voce*) भी होनी चाहिये।

विद्यार्थी, उनके कार्य तथा कल्याण—कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्रवेश केवल योग्यता के आधार पर दिया जाये। प्रथम डिग्री कोर्स में विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था हो। विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर, व्यावसायिक तथा उच्च अनुसन्धान-कार्य पर अधिक ध्यान दें। परीक्षा के आधार पर योग्य

किन्तु निर्धन विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जायें। प्रवेश के समय तथा बाद में नियमित रूप से सभी छात्र-छात्राओं की निःशुल्क डाक्टरी जाँच की जाये और प्रत्येक विश्वविद्यालय में छात्रों के लिये चिकित्सालय की व्यवस्था हो। विद्यार्थियों के सम्पर्क में आनेवाले सभी जनों की डाक्टरी जाँच हुआ करे। शिक्षालयों की सफाई, भोजन, जल तथा छूत की बीमारी के टीके आदि की उचित व्यवस्था की जाये। शारीरिक शिक्षा के डायरेक्टर की नियुक्ति कालेजों और विश्वविद्यालयों में की जाये। खेल-कूद, जिमनैस्टिक आदि की उचित व्यवस्था हो। 'नैशनल केडिट कोर' (N. C. C.) की ट्रेनिंग शिक्षालयों में दी जाये। N. C. C. सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यय केन्द्र-सरकार वहन करे। स्वेच्छापूर्वक समाज-सेवा करने की प्रेरणा विद्यार्थियों को दी जाये। शिक्षालयों में छात्रावासों की उचित व्यवस्था हो। पचास छात्रों के लिये एक छात्रावास हो जहाँ भोजन, सामाजिक जीवन तथा स्वच्छता आदि पर विशेष ध्यान दिया जाये। विद्यार्थी यूनियन राजनैतिक दलदलों से स्वतन्त्र रहें और विद्यार्थियों द्वारा संचालित होकर उनके कल्याण के लिये कार्य करें। विद्यार्थियों को अनुशासनप्रिय बनने का प्रोत्साहन दिया जाये। विद्यार्थियों के लिये एक 'विद्यार्थी-कल्याण-परामर्श-परिषद्' की स्थापना की जाये।

स्त्री-शिक्षा—पुरुषों के जिन कालेजों में स्त्रियों को प्रवेश दिया जा रहा है वहाँ उनको जीवन की सभी सामान्य सुविधायें और शिष्टाचार प्रदान किये जायें। स्त्रियों की शिक्षा-सुविधाओं को और बढ़ाने की आवश्यकता है। स्त्रियाँ पुरुषों का अनुकरण न करके स्त्रियोचित शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दें। स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा पूर्णतः समान होना वाञ्छनीय नहीं है। समाज में स्त्रियों का विशिष्ट स्थान है और उन्हें उसके योग्य पाठचक्रम चुनना चाहिये। सहशिक्षावाली संस्थाओं में स्त्रियों के साथ उचित नम्रता एवं भद्रता का व्यवहार होना चाहिये। समान कार्य के लिये अध्यापिकाओं को पुरुष अध्यापकों के समान ही वेतन मिलना चाहिये।

संगठन एवं नियन्त्रण—विश्वविद्यालयीय शिक्षा का उत्तरदायित्व केन्द्रीय तथा राज्य सरकार दोनों पर होना चाहिये। केन्द्र सरकार विश्वविद्यालयों के वित्त, विशेष विषयों की सुविधाओं का समन्वय, राष्ट्रीय नीति संचालन तथा उचित प्रशासन आदि से मुख्यतः सम्बन्धित हो। एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति की जाये जो अनुदान-सम्बन्धी निर्णय किया करे। इसमें

विभिन्न शाखाओं के विशेषज्ञ हों। केवल सम्बन्धक प्रकार का कोई विश्वविद्यालय न हो। सरकारी कालेजों को भी विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कर दिया जाये। गैरसरकारी कालेजों को मान्यता देने में सावधानी बर्ती जाये। एक विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कालेजों की संख्या सीमित हो और उनकी उचित प्रबन्धकारिणी समितियाँ हों। सम्बन्धित कालेजों का लक्ष्य एक संघीय विश्व-विद्यालय के रूप में विकसित होने का हो। विश्वविद्यालय के अधिकारी इस प्रकार हों :—

(अ) विज़िटर (राष्ट्रपति); (आ) चांसलर (राज्यपाल); (इ) वाइस-चांसलर (वैतनिक पूर्णकालीन); (ई) सिनेट (कोर्ट); (उ) प्रबन्धकारिणी काउन्सिल (सिण्डीकेट); (ऊ) एकेडेमिक काउन्सिल; (ए) फैकल्टीज; (ए) बोर्ड ऑव स्टडीज़; (ओ) वित्त कमेटी; (औ) चुनाव समितियाँ।

वित्त—उच्चशिक्षा के व्यय को वहन करने का उत्तरदायित्व राज्य को स्वीकार करना चाहिये। गैरसरकारी कालेजों को भवन तथा साजसज्जा के लिये अनुदान तथा सालाना व्यय का नियमानुसार कुछ भाग अनुदानस्वरूप दिया जाये। शिक्षा के लिये दान को प्रोत्साहित करने के लिये आय-कर नियमों में संशोधन किया जा सकता है। कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिये शिक्षालयों को अतिरिक्त अनुदान दिया जाये। विश्वविद्यालयों को विकसित करने के लिये सरकार प्रतिवर्ष १० करोड़ रुपयों का अतिरिक्त अनुदान दिया करे।

बनारस, अलीगढ़ और दिल्ली विश्वविद्यालय—बनारस और अलीगढ़ विश्वविद्यालयों से जातीय भेद हटा दिया जाये और उनकी कोर्ट में सभी जाति और धर्म के सदस्य हों। इन विश्वविद्यालयों को अखिलभारतवर्षीय स्तर पर रखा जाये और इनके कालेजों में समस्त देश के लोग प्रवेश पा सकें। इण्टर कक्षायें इनसे अलग कर दी जायें। इनमें मेडिकल तथा कृषि कालेज खोले जायें। दिल्ली के कालेजों को एक स्थान पर केन्द्रित कर दिया जाये। केन्द्रीय विश्वविद्यालय होने के नाते दिल्ली समस्त देश के विद्यार्थियों को कार्य की सुविधायें प्रदान करे। इन तीनों विश्वविद्यालयों के शिक्षण का माध्यम संघीय (राष्ट्र-) भाषा हो जो क्रमशः छः वर्षों में अंग्रेजी का स्थान ग्रहण कर ले।

अन्य विश्वविद्यालय—कमीशन ने उस समय तक स्थापित भारत के सभी विश्वविद्यालयों की विवेचना करते हुये उनके सुधार और उनकी स्थिति को दृढ़ बनाने के सुझाव दिये हैं।

नये विश्वविद्यालय—नये विश्वविद्यालयों की स्थापना विश्वविद्यालय ग्राण्ट कमीशन की सिफारिशों के आधार पर राष्ट्रपति की आज्ञा द्वारा ही होनी चाहिये। विश्वभारती और जामिया मिलिया को विश्वविद्यालय स्वीकार कर उन्हें अनुदान दिया जाये। नये विश्वविद्यालयों की स्थापना में देश-काल का ध्यान रखते हुये उनका समुचित वितरण किया जाये।

ग्रामीण विश्वविद्यालय—भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है और इसकी अधिकांश जनता गाँवों में रहती है। अब समय आगया है कि शिक्षा का प्रसार गाँवों में हो। इस ध्येय से ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना उचित होगी। डेनमार्क के जनता कालेजों का आदर्श इस दिशा में सहायक हो सकता है। ग्रामीण विश्वविद्यालयों को बेसिक शिक्षा से सम्बन्धित कर दिया जाये और उनका पाठ्यक्रम इस प्रकार हो:—

८ वर्ष बेसिक शिक्षा, ३ या ४ वर्ष उत्तरबेसिक अथवा माध्यमिक शिक्षा।

३ वर्ष कालेज डिग्री पाठ्यक्रम तथा २ वर्ष स्नातकोत्तर शिक्षा।

इनके अतिरिक्त कमीशन ने अनेक परिशिष्टों में अत्यन्त उपयोगी सूचनायें दी हैं।

सन् १९५० में केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने कमीशन की रिपोर्ट पर विचार किया और कुछ संशोधनों के साथ इसके प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया। मुख्य संशोधन वित्तसम्बन्धी थे। सिफारिशों के आधार पर कई विश्वविद्यालयों के विधानों में संशोधन हो चुका है। नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना का प्रसंग पीछे दिया जा चुका है।

सन् १९५३ में केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने पुनः इन प्रस्तावों पर विचार किया और सिफारिशों को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करने के विषय में सुझाव देने के लिये श्री हुमाऊँ कबीर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त कर दी। सन् १९५४ में परिषद् ने इस समिति की रिपोर्ट पर विचार किया। समिति ने न्यूनाधिक संशोधनों के साथ कमीशन के प्रस्तावों को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करने के सुझाव रखे थे। परिषद् ने समिति के अधिकांश प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और कमीशन के सुझाव के अनुसार सन् १९५३ के अन्त तक विश्व-

विद्यालय अनुदान समिति के स्थान पर विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन की स्थापना भी कर दी गई। कमीशन के कार्यों में से प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

(१) केन्द्रीय सरकार को उच्चशिक्षा और विश्वविद्यालयों के मानदण्ड को ऊँचा करने के विषय में सुझाव देना।

(२) विश्वविद्यालयों की आर्थिक दशा की जाँच-पड़ताल करके उनके अनुदान के लिये सुझाव रखना।

(३) नये तथा पुराने विश्वविद्यालयों की स्थापना, प्रसार, डिग्रियों को मान्यता देने, सुधार के मार्ग बताने अथवा किसी प्रकार की समस्या पर सलाह देने का कार्य करना।

इस प्रकार कमीशन एक विशेषज्ञ समिति के समान कार्य करता है। ऊपर दिये हुये विवरण से स्पष्ट है कि इधर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में उच्च-शिक्षा की प्रगति अति संतोषजनक रही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत में केवल १९ विश्वविद्यालय थे किन्तु अब उनकी संख्या ३१ हो गई है। विद्यार्थियों की संख्या में भी प्रायः ७५ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। किन्तु संख्या की वृद्धि क्षमता-वृद्धि की सूचक नहीं है। कतिपय क्षेत्रों में सुधार अवश्य हुये हैं फिर भी अभी उच्चशिक्षा में अनेक कमियाँ हैं। विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन की अधिकांश सिफारिशों को अभी तक कार्यान्वित नहीं किया जा सका है। विद्यार्थियों की भीड़, शिक्षकों की दशा, शिक्षा का मानदण्ड तथा वित्तसम्बन्धी समस्याएँ आदि अब भी चिन्तनीय हैं।

कतिपय समस्यायें—इस क्षेत्र की मुख्य तीन समस्यायें हैं जिनका हल अत्यन्त आवश्यक हो रहा है :—

(१) **विश्वविद्यालयों में बढ़ती भीड़ को कम करना**—माध्यमिक शिक्षा के संकीर्ण एवं एकांगीय पाठ्यक्रम तथा विश्वविद्यालयों की वर्त्तमान प्रवेश-पद्धति के कारण विश्वविद्यालयों में अवाञ्छनीय भीड़ हो रही है। माध्यमिक शिक्षा में जिन सुधारों का प्रयत्न हो रहा है उनके हो जाने पर बहुत-से विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त किसी व्यवसाय में लग जायेंगे। इस प्रकार विश्वविद्यालयों में वही विद्यार्थी आयेंगे जिनमें वास्तव में उच्चशिक्षा-प्राप्त करने की योग्यता होगी।

आयोजन आयोग (Planning Commission) की सिफारिश पर भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की है जिसका मुख्य कार्य यह पता करना है कि किन प्रकार की नौकरियों के लिये यूनिवर्सिटी डिग्री आवश्यक नहीं होनी चाहिये। इससे भी भीड़ बहुत-कुछ कम हो जायेगी।

(२) विभिन्न पाठ्यक्रमों का प्रबन्ध करना जिससे भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये नवयुवक तैयार हों।

(३) विश्वविद्यालयों में शिक्षा के गिरते हुए स्तर को ऊँचा उठाना।

दूसरी और तीसरी समस्याओं के सुलझाव के लिये ही भारत सरकार ने जनवरी सन् १९५४ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नियुक्त कर दिया है। यह आयोग सराहनीय कार्य कर रहा है किन्तु कुछ लोगों को भय है कि इसके कारण विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियन्त्रण बढ़ जायेगा और शिक्षा-क्षेत्र में स्वतन्त्रता की भावना कम हो जायेगी। किन्तु सरकार का कथन है कि विश्वविद्यालयों की स्वाधीनता की रक्षा करते हुये हमें यह भी देखना है कि वे एक सामाजिक कर्त्तव्य को पूरा करें। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग विधेयक भी पास हो चुका है। आयोग के सदस्यों में कम-से-कम पाँच गैरसरकारी सदस्य होंगे और आयोग को अधिकार होगा कि विश्वविद्यालयों के परामर्श से सम्बद्ध कालेजों को भी अनुदान दे सके। विश्वविद्यालय की शिक्षा के माध्यम के रूप में सरकार किसी एक भाषा को थोपना नहीं चाहती। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विश्वविद्यालय शिक्षा के लिये ३६ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है।

विश्वविद्यालय कमीशन की ग्रामीण-विश्वविद्यालय-सम्बन्धी सिफारिश पर विचार करने के लिये केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने उप-शिक्षा मन्त्री डॉ० श्रीमाली की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति कर दी थी। समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित हो गया है। समिति ने कहा है कि अब समय आगया है जब शिक्षा का प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों में होना चाहिये। इसके लिये जनता-कालेजों और ग्रामीण संस्थाओं (Rural Institutes) की स्थापना का सुझाव दिया गया है। इनमें नियमित शिक्षा के अतिरिक्त अनुसन्धान कार्यों द्वारा प्राप्त ज्ञान जनता के घरों तक पहुँचाने की व्यवस्था की जा सकेगी।

केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को लिखा है कि वे सन् १९५६–५७ से ग्राम्य विश्वविद्यालयों की स्थापना का कार्य आरम्भ कर दें।

ग्राम्य विश्वविद्यालयों की स्थापना का उद्देश्य ग्रामीण युवकों को उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल उच्चशिक्षा देना है। किन्तु इनका स्तर शहरी विश्वविद्यालयों के समान ही होगा। केन्द्रीय सरकार इन विश्वविद्यालयों का दो-तिहाई अनावर्तक व्यय देगी और शेष एक-तिहाई राज्य सरकारें देंगी। किन्तु आवर्त्तक (recurring) व्यय में इसका उलटा होगा।

ग्रामीण उच्चशिक्षा की विस्तृत प्रणाली का निश्चय करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने अक्टूबर सन् १९५४ में एक राष्ट्रीय ग्राम उच्चशिक्षा परिषद् की स्थापना कर दी थी। ग्राम उच्चशिक्षा की राष्ट्रीय परिषद् का प्रथम सम्मेलन २ अप्रैल, १९५६ को नई दिल्ली में हुआ। सम्मेलन के अध्यक्ष उप-शिक्षामन्त्री डॉ० के० श्रीमाली थे। यह निश्चय किया गया कि केन्द्रीय सरकार द्वारा चुनी हुई शिक्षा-संस्थायें ग्रामीण क्षेत्रों में नेतृत्व के प्रशिक्षण-क्रमों से कार्य आरम्भ करें। प्रशिक्षण-कार्य में पाँच पाठ्यक्रम स्वीकृत किये गये:—(१) ग्रामीण सेवाओं का तीन वर्ष का डिप्लोमा कोर्स, (२) तीन वर्ष का सिविल इंजीनियरिंग का कोर्स, (३) दो वर्ष का कृषि-विज्ञान का कोर्स, (४) शिक्षण प्रमाण-पत्र (Certificate in Education), और (५) प्रशिक्षण उपाधि-पत्र (Diploma in Education)।

परिषद् ने यह भी तय किया कि ग्रामीण सेवाओं में डिप्लोमा प्राप्त करने के पश्चात् विद्यार्थी उन प्रतियोगिताओं में सम्मिलित हो सकेंगे जिनके लिये मान्य-योग्यता विश्वविद्यालय की डिग्री है। अखिलभारतीय उच्चशिक्षा समिति द्वारा चुनी हुई दस ग्रामीण उच्चशिक्षा-संस्थायें परिषद् ने स्वीकार कर लीं। उत्तर-प्रदेश में एकमात्र बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा एतदर्थ स्वीकृत हुआ है। इन ग्रामीण संस्थाओं में वर्त्तमान शिक्षण-संस्थाओं से बहुत-कुछ भिन्न ढंग अपनाये जायेंगे। वे ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याओं को सुलझाने का यत्न करेंगी और एक नवीन पथ पर अग्रसर होंगी। निर्धनता, बीमारी तथा अज्ञान को दूर करने के साधनों में ग्रामीण संस्थायें ग्रामीणों का पथ-प्रदर्शन करेंगी। वे ग्रामीण नेता तैयार करेंगी। इन संस्थाओं के साथ एक विस्तार-सेवा-विभाग भी कार्य करेगा। इनको सामुदायिक-उन्नति-खण्डों तथा राष्ट्रीय-विकास-सेवाओं से भी सम्पर्क रखना होगा।

उपसंहार—इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार विश्वविद्यालयीय शिक्षा का विस्तार करके अच्छे नागरिक और प्रगतिशील ग्रामीण तैयार करने में प्रयत्नशील है।

———

अध्याय १२

शिक्षा के अन्य क्षेत्र

अध्याय-संक्षेपः—

१. प्रस्तावना। २. स्त्री-शिक्षा। ३. प्रौढ़ अथवा सामाजिक शिक्षा। ४. प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा। ५. कानून एवं चिकित्सा-विज्ञान। ६. शिक्षक-प्रशिक्षण। ७. शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा। ८. धार्मिक शिक्षा। ९. अन्य विशेष शिक्षायें—प्राच्यशिक्षा, असमर्थों की शिक्षा।

प्रस्तावना—प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय शिक्षा के अतिरिक्त देश में विभिन्न प्रकार की विशेष शिक्षाओं का भी प्रबन्ध है। किन्तु इनका इतिहास संक्षिप्त ही है। इस अध्याय में हम इनका कुछ वर्णन करेंगे। इनमें मुख्य—स्त्री-शिक्षा, प्रौढ़ अथवा सामाजिक शिक्षा, प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षा, शिक्षक-प्रशिक्षण, शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, तथा प्राच्यशिक्षा हैं। इनका क्रमशः वर्णन निम्न प्रकार है :—

स्त्री-शिक्षा

हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही शिक्षा का अधिकार था। बाद में उनकी अवस्था समाज में हीन हो गई और उन्हें उच्चशिक्षा के अयोग्य समझा जाने लगा। बौद्ध-शिक्षा में भिक्षुणियों की शिक्षा का प्रबन्ध था किन्तु वह पुरुषों के समकक्ष न था। मुस्लिम युग की पर्दा-प्रथा के कारण स्त्रियों की शिक्षा कुछ घरों की चहारदिवारी के अन्दर ही सीमित हो गई थी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि स्त्रियों को किसी प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती थी। प्रत्येक प्रकार के घरेलू कार्यों की शिक्षा घरों में दी जाती थी। पढ़ना, लिखना, हिसाब रखना भी सिखाया जाता था। हाँ, इनके लिये अलग शिक्षालयों की व्यवस्था न थी।

वर्त्तमान युग में आरम्भिक योरोपीय आगन्तुकों ने भ्रमवश समझा कि भारत में स्त्री-शिक्षा होती ही नहीं है। वास्तव में उन्होंने यहाँ की स्त्री-शिक्षा का वास्तविक स्वरूप समझने में भूल की थी। आधुनिक अर्थ में स्कूलीय शिक्षा भारत में ईसाई मिशनरियों ने प्रचलित की। कम्पनी सरकार ने तो इस पर ध्यान दिया

ही नहीं था। सन् १८१३ के आज्ञापत्र में भी इसका कोई स्थान नहीं रखा गया। सन् १८५४ की घोषणा में प्रथम बार कम्पनी सरकार ने आंशिक रूप में स्त्री-शिक्षा का कुछ उत्तरदायित्व स्वीकार किया। किन्तु आधुनिक ढंग का लड़कियों का प्रथम शिक्षालय सन् १८१८ में चिनसुरा (बंगाल) में पादरियों ने खोला। दूसरे वर्ष सिरामपुर में भी एक स्कूल खोला गया। कलकत्ता में अंग्रेज महिलाओं ने स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिये एक समिति की स्थापना कर ली थी। इस समिति ने कलकत्ता के विभिन्न भागों में लड़कियों के लिये स्कूल खोले। सन् १८२३ में समिति दस कन्या पाठशालाएँ चला रहीं थी। विभिन्न मिशन संस्थाओं ने भारत में लड़कियों के लिये स्कूल खोले और गैरसरकारी भारतीय प्रयास को भी इस दिशा में उत्साहित किया।

इस क्षेत्र में कलकत्ता की श्रीमती विलसन का कार्य अत्यन्त सराहनीय था। इन्होंने चर्च मिशनरी सोसाइटी की अधीनता में सन् १८२१ से सन् १८३६ तक कार्य किया और सन् १८२६ में लड़कियों के लिये सेण्ट्रल स्कूल स्थापित कराया। मद्रास में भी इसी सोसाइटी ने सन् १८२१ से लड़कियों के स्कूल खोलने आरम्भ कर दिये थे। बम्बई, पूना तथा उत्तरी भारत के कई स्थानों पर विभिन्न मिशनों के स्कूल लड़कियों की शिक्षा के लिये खुले। किन्तु इन स्कूलों में निम्न जाति और स्तर की ही लड़कियाँ शिक्षा के लिये आती थीं। उच्चवर्ग और प्रतिष्ठित लोग अपनी लड़कियों को घर पर ही शिक्षा देते थे। सन् १८४९ में श्री बेथून (Bethune) ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति लगाकर कलकत्ता में बेथून कन्या पाठशाला की स्थापना की। यह धर्मनिरपेक्ष स्कूल था और इसमें सम्भ्रान्त परिवारों की लड़कियाँ भी पढ़ सकती थीं। भारत में स्त्री-शिक्षा की उन्नति के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। लार्ड डलहौजी ने भी इसका समर्थन किया और इस प्रकार के स्कूलों को खोलने के लिये लोगों को उत्साहित किया।

कम्पनी सरकार की ओर से सन् १८५४ से पूर्व इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। सन् १८५४ के वुड-घोषणा-पत्र में सर्वप्रथम स्त्री-शिक्षा को राज्य-शिक्षा-व्यवस्था का एक अंग माना गया। घोषणा-पत्र में स्पष्ट रूप से स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित करने की नीति पर जोर दिया गया और गैरसरकारी कन्या-शिक्षालयों को उदारतापूर्वक अनुदान देने की बात कही गई। किन्तु कम्पनी सरकार ने इस शिक्षा का सीधा उत्तरदायित्व अपने कंधों पर नहीं लिया। फलस्वरूप व्यक्तिगत संस्थायें खुलीं और उनको अनुदान भी दिया गया किन्तु

स्त्री-शिक्षा की उन्नति मन्द गति से ही हुई। सन् १८५९ में अपनी घोषणा में लार्ड स्टैनले ने भी कहा था कि "भारत में स्त्री-शिक्षा की उन्नति अत्यन्त नगण्य है। सरकारी शिक्षा-विभाग ने कन्या-पाठशालाओं की स्थापना के लिये कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया है।"

वास्तव में उस युग में स्त्री-शिक्षा के मार्ग में अनेक बाधायें थीं। सरकार ने सीधा उत्तरदायित्व नहीं लिया था और न अपने शिक्षालय खोले थे। जनता भी स्त्री-शिक्षा के प्रति उदासीन थी। पर्दा-प्रथा, बालविवाह, लड़कियों के प्रति माता-पिता का उदासीन भाव, लड़कियों के स्कूलों और उचित स्त्री-शिक्षकों का अभाव, धनाभाव, लड़कियों की शिक्षा के उचित पाठ्यक्रम का अभाव तथा भारतीय सामाजिक दृष्टिकोण आदि अन्य कारण थे जिनसे स्त्री-शिक्षा का विकास अत्यन्त मन्द गति से हुआ। फिर भी गैरसरकारी और मिशन प्रयत्नों के फलस्वरूप कलकत्ता, ढाका, हुगली, मथुरा, मैनपुरी, आगरा, बम्बई तथा अहमदाबाद आदि स्थानों में स्त्री-शिक्षा के लिये अनेक शिक्षालय खुले।

सन् १८६० के बाद स्त्री-शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। स्त्री-शिक्षा का अधिक विकास हो चला और शिक्षित समाज में स्त्री-शिक्षा का आदर और माँग बढ़ गई। गैरसरकारी प्रयत्नों के कारण स्कूलों की संख्या बढ़ी। सन् १८७१ में समस्त भारत में १३४ माध्यमिक और १,७६० प्राथमिक स्कूल लड़कियों के लिये थे। बेथून स्कूल में सन् १८७८ में कालेज कक्षायें जोड़ दी गईं। कुछ और कालेज भी लड़कियों के खुले किन्तु भारतीय विश्वविद्यालयों में लड़कियों की परीक्षा की कोई व्यवस्था न थी और न उन्हें परीक्षा की अनुमति दी जाती थी। सन् १८७७ में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा की अनुमति लड़कियों को भी दे दी। सन् १८७८ से अन्य विश्वविद्यालयीय परीक्षायें भी लड़कियों के लिये खुल गईं। मद्रास में सन् १८८१ में लड़कियों के लिये उच्चतर परीक्षा का संगठन किया गया। बम्बई ने भी सन् १८८३ में अपनी परीक्षाओं में बैठने की अनुमति लड़कियों को दे दी।

सन् १८८२ में हण्टर कमीशन ने स्त्री-शिक्षा के विकास पर अधिक ध्यान देने का प्रस्ताव किया और कन्या-पाठशालाओं को उदारतापूर्वक अनुदान देने को कहा। स्त्री-शिक्षा के उचित पाठ्यक्रम बनाने का भी प्रस्ताव कमीशन ने किया और स्त्री-शिक्षकों की नियुक्ति पर ज़ोर दिया। कमीशन के प्रस्तावों के आधार पर सरकार ने कन्या-पाठशालाओं के लिये स्त्री-निरीक्षिकाओं की नियुक्तियाँ

की और कुछ प्रशिक्षण-शिक्षालय भी स्त्रियों के लिये स्थापित किये। किन्तु इन प्रयत्नों के होते हुए भी सन् १९०१-०२ में भारत में स्त्री-शिक्षा के लिये केवल १२ कालेज, ४६७ माध्यमिक स्कूल और ५,६२८ प्राथमिक स्कूल थे। इन सब संस्थाओं में कुल मिलाकर ४,४४,४७० लड़कियाँ शिक्षा पा रहीं थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्री-शिक्षा की प्रगति का श्रय मिशन, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, पारसी और गैरसरकारी प्रयत्नों को ही है। इसी समय कुछ विधवाश्रमों की भी स्थापना हुई जिन्होंने स्त्री-शिक्षा में पर्याप्त योग दिया।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही स्त्री-शिक्षा की माँग बढ़ चली। उदासीनता के स्थान पर जनता भी अब स्त्री-शिक्षा में रुचि लेने लगी और उसके मार्ग की बाधायें दूर होने लगीं। सरकारी शिक्षा विभाग ने भी स्त्री-शिक्षा के लिये विशेष सुविधायें प्रदान कीं। लड़कियों के लिये अलग स्कूल खोले गये; स्त्री-शिक्षकों और स्त्री-निरीक्षिकाओं की अधिकाधिक नियुक्तियाँ की गईं, घर से स्कूल तक लाने और पहुँचाने के लिये सवारियों का प्रबन्ध किया गया और स्त्री-संस्थाओं को उदारतापूर्वक अनुदान दिया गया। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा के विकास के लिये सराहनीय प्रयत्न किया जाने लगा। सन् १९०४ में श्रीमती एनी बेसेंट ने बनारस में सेण्ट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल की स्थापना की। सन् १९१६ में दिल्ली में लड़कियों के लिये लेडी हार्डिञ्ज मेडिकल कालेज की स्थापना की गई। सन् १९१६ में ही प्रोफेसर डी० जी० कर्वे ने पूना में महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की जिसका पाठ्यक्रम विशेष रूप से भारतीय महिलाओं की आवश्यकतानुसार रखा गया। इसकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आदर्श भारतीय गृहिणी एवं माता तैयार करना है। इसमें मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती है। इसके साथ प्रशिक्षण-कक्षाएँ भी हैं जिनमें प्राथमिक एवं माध्यमिक संस्थाओं की शिक्षिकाओं को प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके सम्बन्धित कालेज बम्बई, पूना, अहमदाबाद तथा बरौदा में हैं। सन् १९१७ तक समस्त भारत में महिलाओं के लिये १२ कला-महाविद्यालय, ४ व्यावसायिक कालेज और १६६ माध्यमिक स्कूल थे।

राष्ट्रीय भावना के विकास के साथ-साथ स्त्री-शिक्षा पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा। महात्मा गान्धी ने स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता पर विशेष रूप से ध्यान दिलाया। बालविवाह में कमी होने के कारण भी लड़कियों को अधिक दिनों तक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होन लगा। पर्दा-प्रथा का विरोध होने लगा और स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा का अधिकार प्राप्त होता गया।

किन्तु स्त्री-शिक्षा की प्रगति अब भी असन्तोषजनक ही चल रही थी। हर्टाग समिति ने सन् १८२७ में भारत में वर्त्तमान लड़कों और लड़कियों की शिक्षा के वैषम्य की पूर्ण विवेचना करते हुये और स्त्री-शिक्षा के महत्त्व को दिखाते हुये उस पर अधिक ध्यान देने का प्रस्ताव किया। सन् १९२६–२७ तक समस्त बृटिश भारत में ३१,०८९ महिला शिक्षा-संस्थायें थीं और उनमें केवल १८,४२,३५६ लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं।

धीरे-धीरे स्त्रियाँ स्वयं भी अधिक सचेत और जाग्रत होने लगीं। उनकी बैठकें और परिषदें अधिकाधिक होने लगी हैं। अखिलभारतीय महिला परिषद् की प्रथम बैठक सन् १९२७ में हुई। रानी साहेब सांगली ने अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए कहा कि, "एक ऐसा समय था जब भारत में स्त्री-शिक्षा के न केवल कोई समर्थक ही नहीं थे वरन् उसके शत्रु भी थे। स्त्री-शिक्षा भारत में पूर्ण घृणा, उदासीनता, व्यंग्य, आलोचना और स्वीकृति—इन सभी स्तरों से होकर गुजरी है।"

हर्टाग समिति की रिपोर्ट के बाद स्त्री-शिक्षा क्रमशः उन्नति करती रही है। सन् १९४५–४६ में बृटिश भारत में ६४ कला और विज्ञान के कालेज, १९ व्यावसायिक कालेज, १,४५५ माध्यमिक स्कूल और २१,५६७ प्राथमिक स्कूल लड़कियों के लिये थे। कुल ४०,२०,४४८ स्त्रियाँ इनमें शिक्षा पा रही थीं। इनके अतिरिक्त लड़कों के शिक्षालयों में भी बहुत-सी लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करती थीं। गत वर्षों में स्त्री-शिक्षा का विकास तीव्र गति से हुआ है। किन्तु अब भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की शिक्षा बहुत पीछे है। लड़कों और लड़कियों की शिक्षा में अब भी बड़ी विषमता है। यद्यपि भारत के विधान में स्त्री, पुरुष दोनों को शिक्षा का समानाधिकार दिया गया है किन्तु सामाजिक परिस्थितियों के कारण अब भी अनेक बाधाएँ हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में लड़कियों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं है और बहुत ही कम लड़कियाँ ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों में जाकर पढ़ सकती हैं।

किन्तु जहाँ तक सम्भव है स्त्री-शिक्षा का अधिकाधिक विकास हो रहा है। अब अधिक अवस्था तक स्त्रियाँ स्कूलों और कालेजों में पढ़ सकती हैं। लड़कियों के पाठ्यक्रम में भी लड़कों के पाठ्यक्रम की अपेक्षा कुछ विशेषतायें कर दी गई हैं। गृह-विज्ञान, कला, संगीत आदि उनके पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दिये गये हैं और कुछ राज्यों में गृह-विज्ञान लड़कियों के लिये अनिवार्य विषय कर दिया गया है। शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियाँ पुरुषों का मुकाबिला कर रही हैं और उनका

परीक्षा-फल भी अधिक उत्तम हो रहा है। शिक्षित स्त्रियाँ स्वयं भी अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रही हैं और स्त्री-शिक्षा की अधिकाधिक सुविधाओं के लिये प्रयत्नशील हैं।

भारत की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुये स्त्री-शिक्षा को पुरुषों के समकक्ष बनाने में अभी अत्यधिक व्यय और समय की आवश्यकता है। स्त्रियों की शिक्षा की दिशा पर भी ध्यान देना आवश्यक होगा। भारत के अनेक श्रेष्ठ नेताओं का विचार है कि स्त्रियों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाये जिससे वे भारतीय स्त्री के आदर्शों को सफल रख सकें। उन्हें पाश्चात्य रंग में न रंगकर भारतीय परम्परा के अनुसार आदर्श गृहिणी बनने में शिक्षा को सहायक बनाना उत्तम होगा। अतः उनका पाठ्यक्रम अति सावधानी से प्रस्तुत किया जाना चाहिये। माध्यमिक स्तर पर सहशिक्षा वाञ्छनीय नहीं है अतः इस स्तर पर लड़कियों की शिक्षा का अलग प्रबन्ध होना चाहिये। राधाकृष्णन कमीशन ने स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हुये कहा है, "बिना शिक्षित स्त्रियों के कोई भी समाज शिक्षित नहीं हो सकता है। अगर सामान्य शिक्षा को पुरुषों अथवा स्त्रियों तक सीमित करना हो, तो शिक्षा का सुअवसर स्त्रियों को ही मिलना चाहिये, क्यों कि उस दशा में यह शिक्षा अवश्य दूसरी पीढ़ी तक पहुँच जायेगी।" अभी तक राष्ट्रीय सरकार ने स्त्री-शिक्षा के लिये कोई स्तुत्य प्रयत्न आरम्भ नहीं किये हैं किन्तु आशा है निकट भविष्य में स्त्री-शिक्षा को अधिकाधिक महत्त्व दिया जायेगा।

प्रौढ़ अथवा सामाजिक शिक्षा

बीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत में शिक्षा की जो दशा दिखलाई जा चुकी है उससे यह निष्कर्ष निकालना अत्यन्त सरल है कि भारतीय जनसंख्या का अधिकांश भाग अशिक्षित है। शिक्षा के प्रति सरकार की उदासीनता का परिणाम यह हुआ है कि अब भी भारत की प्रायः ७५ प्रतिशत जनता अशिक्षित है। इस शोचनीय परिस्थिति पर इस देश में राष्ट्रीय आन्दोलन से पूर्व किसी ने ध्यान भी नहीं दिया था। भारत में प्रौढ़ अथवा सामाजिक शिक्षा के प्रयत्न सन् १९२० के बाद से आरम्भ हुये। इससे पूर्व बंगाल, बम्बई और बरौदा में कुछ छटपुट प्रयत्न प्रौढ़ों की शिक्षा के किये गये थे। बरौदा में सार्वजनिक पुस्तकालयों का आरम्भ सन् १९१० में हुआ था। प्रौढ़ों के लिये कुछ रात्रिपाठशालायें भी मैसूर, बंगाल, तथा बरौदा में खोली गई थीं।

प्रौढ़-शिक्षा के प्रयत्नों का क्रमबद्ध इतिहास माण्टफोर्ड सुधार (सन् १९२१) के पश्चात् ही आरम्भ होता है। सुधार के पश्चात् शिक्षा का संचालन भारतीय मन्त्रियों के हाथ में आया और उन्होंने उत्साह के साथ इस दिशा में कार्य आरम्भ किया। सन् १९२१ में पंजाब में प्रौढ़-साक्षरता आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसमें निरक्षर प्रौढ़ों को सामुदायिक रूप से साक्षर बनाने का प्रयत्न किया गया। पंजाब ने इस दिशा में पर्याप्त प्रगति की। बम्बई में भी रात्रि-पाठशालायें सन् १९२० के बाद क्षेत्र में आईं। सन् १९२० से सन् १९२७ तक उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रान्त, बंगाल, त्रावणकोर तथा कतिपय अन्य स्थानों पर इस दिशा में पर्याप्त कार्य हुआ। इन सब स्थानों पर प्रौढ़ों के शिक्षण के लिये पाठशालायें खोली गईं जिनमें रात्रि अथवा मध्याह्नोत्तर में लिखना, पढ़ना तथा कुछ गणित पढाया जाता था।

किन्तु सन् १९२७ के पश्चात् विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी तथा भारत की राजनैतिक हलचलों के कारण प्रौढ़-शिक्षा का समुचित विकास न हो सका। सन् १९३७ में पुनः राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डलों के आने के साथ-साथ प्रौढ़-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। देशव्यापी साक्षरता आन्दोलन तीव्रता के साथ चला और सरकार तथा गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा प्रत्येक प्रान्त में अधिक-से-अधिक प्रौढ़ों को साक्षर बनाने का प्रयत्न किया गया। मद्रास, बम्बई, बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पंजाब, मध्यप्रान्त, आसाम, बरौदा, हैदराबाद, मैसूर तथा त्रावणकोर ने विशेष रूप से इस प्रकार के प्रयत्न किये। साक्षरता-प्रसार के उद्देश्य से इन स्थानों पर अनेक गैरसरकारी संस्थायें खोली गईं। सरकारी शिक्षा विभागों ने भी इनके लिये धन-व्यय किया और व्यापक रूप से साक्षरता-आन्दोलन को प्रोत्साहित किया।

इसी समय (सन् १९३७) में दिल्ली में भारतीय प्रौढ़-शिक्षा समिति की स्थापना हुई और सन् १९३८ में प्रथम अखिलभारतीय प्रौढ़-शिक्षा परिषद् की बैठक हुई। कुछ उदारमना पादरियों ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया। बृटेन और अमरीका की जनता ने भी इसमें दिलचस्पी दिखलाई।

सन् १९३९–४० में साक्षरता-आन्दोलन का और अधिक विस्तार हुआ। उत्तरप्रदेश ने एक आन्दोलन चलाकर लाखों आदमियों से प्रतिज्ञा-पत्र मँगाये कि वे कम-से-कम एक व्यक्ति को साक्षर बनायेंगे। स्कूलों और कालेजों में साक्षरता-दिवस तथा सप्ताह मनाये गये और नारा उठा कि प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति एक

निरक्षर को साक्षर बनाये। भारत सरकार की सन् १९३८–३९ की शिक्षारिपोर्ट में निम्नलिखित तालिका इस विषय पर मिलती है :—

प्रान्त		स्कूलों की संख्या		विद्यार्थी (प्रौढ़ अथवा निरक्षर)
मद्रास	...	१२	...	७७१
बम्बई	...	६७३	...	२२,०९५
बंगाल	...	९६७	...	२८,१५२
संयुक्तप्रान्त (उत्तरप्रदेश)	...	२,६८९	...	८२,५९०
पंजाब	...	१४६	...	५,२०१
बिहार	...	१३०	...	२,७७२
मध्यप्रान्त	...	४३	...	१,७१४
आसाम	...	१३	...	५०५
सिंध	...	२८	...	६५९
उड़ीसा	...	१	...	२६
दिल्ली	...	१८	...	२३०
अजमेर-मेरवाड़ा	...	१३	...	२६८
योग	...	४,७३३		१,४४,९८३

इनके अतिरिक्त देशी रियासतों में बरौदा, मैसूर, हैदराबाद तथा त्रावणकोर आदि में भी पर्याप्त काम हुआ। इन नियमित स्कूलों के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर रात्रि-कक्षायें भी चलीं। सर्वेण्ट्स आव इण्डिया सोसाइटी, वाइ. एम. सी. ए., हरिजन सेवक संघ तथा बम्बई साक्षरता-प्रसारक मण्डल आदि संस्थाओं ने भी उत्साहपूर्वक साक्षरता को बढ़ाने का प्रयास किया।

केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने भी सन् १९३९ में एक प्रौढ़-शिक्षा समिति की स्थापना की जिसने इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे, जैसे :—

(१) निरक्षरों को उत्साहित किया जाये कि वे स्वयं शिक्षा-ग्रहण में रुचि लें। यदि वे इस दिशा में प्रयास न करें तो उन पर जोर डालने के साधनों का प्रयोग किया जाये।

(२) इस शिक्षा को विद्यार्थियों के योग्य और रुचिकर बनाया जाये। शिक्षा उनकी व्यक्तिगत रुचि, सामाजिक और आर्थिक अवस्था के अनुकूल, तथा उनके व्यवसाय के लिये उपयोगी बनाई जाये।

(३) बारह वर्ष की अवस्था से कम के और नियमित स्कूलों में पढ़नेवाले बालक को रात्रि-कक्षाओं में पढ़ने के लिये उत्साहित न किया जाये। आवश्यकता होने पर १२ से १६ वर्ष की अवस्था के बालकों की अलग कक्षायें खोली जायें।

(४) विश्वविद्यालय के तथा उच्चतर माध्यमिक की उच्चकक्षाओं के छात्रों के लिये कुछ काल की अनिवार्य सामाजिक शिक्षा सेवा करने की सम्भावना को ध्यानपूर्वक जाँचा जाये। साथ ही सभी शिक्षित व्यक्तियों–विशेषकर सरकारी नौकरों-से अपील की जाये कि वे स्वेच्छा से साक्षरता-आन्दोलन में अपनी सेवायें अर्पित करें।

(५) प्रौढ़शिक्षा-प्रसार में रेडियो, सिनेमा, ग्रामोफोन तथा मेजिक लालटेन आदि शिक्षा-प्रसार के साधनों का प्रयोग किया जाये।

केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने समय-समय पर इस प्रकार की कई समितियों की स्थापना करके प्रौढ़-शिक्षा की समस्याओं पर विचार किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान में प्रौढ़-शिक्षा पर ध्यान कम हो गया। किन्तु सन् १९४४ में सारजेण्ट समिति ने अपनी योजना में इस विषय पर विस्तृत रिपोर्ट द्वारा इसकी एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना के अनुसार २२ वर्षों में भारत से निरक्षरता का सम्पूर्ण विनाश करने का ध्येय रखा गया। इसकी मुख्य सिफारिशें निम्न-लिखित थीं :—

"(१) प्रौढ़-शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर है किन्तु यथा सम्भव उन संस्थाओं की सहायता लेने का भी प्रयत्न किया जाये जो स्वेच्छा से इस दिशा में काम करना चाहें।

"(२) यद्यपि आरम्भ में मुख्य ध्यान निरक्षरता को दूर करने का हो किन्तु प्रौढ़-शिक्षा अपने सम्पूर्ण अर्थ में उन लोगों को शिक्षा प्रदान करना हो जो कुछ लिखना-पढ़ना जानते हैं। जैसे-जैसे निरक्षरता दूर होती जाये, प्रौढ़-शिक्षा का अधिकाधिक विकास होना चाहिये।

"(३) देश में सार्वजनिक अनिवार्य निःशुल्क बेसिक शिक्षा लागू हो जाने पर भी २० से ४० वर्ष की अवस्था के प्रायः ९ करोड़ प्रौढ़ निरक्षर रह जायेंगे। अतः प्रौढ़-शिक्षा को देश की निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा-व्यवस्था की पूरक समझना चाहिये। प्रौढ़-शिक्षा की समस्याओं को सुलझाने के लिये २० वर्ष की योजना बनानी होगी, जिसमें प्रथम पाँच वर्ष शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा अन्य आवश्यकीय तैयारियों में लगाने होंगे।

"(४) प्रौढ़-शिक्षा समिति (Adult Education Committee) की रिपोर्ट के अनुसार विस्तृत योजनाओं द्वारा प्रौढ़-शिक्षा को किसी भी राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था का अभिन्न भाग बनाना चाहिये।"

किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण सारजेण्ट योजना कार्यान्वित न हो सकी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रौढ़-शिक्षा का नाम सामाजिक शिक्षा रख दिया गया। स्वतन्त्र और प्रजातन्त्री भारत में यह अनुभव किया जाने लगा कि निरक्षर प्रौढ़ों को न केवल साक्षर बनाया जाये अपितु उन्हें नागरिकता की भी शिक्षा दी जाये। इस प्रकार इस दिशा में सम्पूर्ण दृष्टिकोण ही बदल गया और सामाजिक शिक्षा को देश की शिक्षा-व्यवस्था का एक प्रमुख अंग बना दिया गया। इंग्लैंड की भाँति यहाँ के शासकों ने भी अपने मालिकों (मतदाताओं) को शिक्षित बनाना अपना कर्त्तव्य समझ लिया और केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने इस कार्य का आरम्भ उत्साह के साथ कर दिया। सामाजिक शिक्षा का अर्थ सम्पूर्ण मनुष्य की शिक्षा को मानकर इसका क्षेत्र प्रौढ़ों में साक्षरता-प्रसार, जनता में ज्ञान-प्रसार तथा नागरिक के कर्त्तव्यों और अधिकारों के प्रति जागरूकता का भाव उत्पन्न करना आदि विषयों तक व्यापक बना दिया गया। सन् १९४९ में केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श (सलाहकार) परिषद् ने अपनी वार्षिक बैठक में निम्नलिखित द्वादश-सूत्रीय योजना स्वीकार की :—

(१) गाँव का स्कूल समस्त गाँव की जनता के लिये शिक्षा, कल्याण, क्रीड़ा तथा मनोरंजन का केन्द्र होगा।

(२) स्कूलों में बच्चों, युवकों और प्रौढ़ों के लिये अलग-अलग समय निर्धारित रहेगा।

(३) सप्ताह में कुछ दिन केवल बच्चों तथा स्त्रियों के लिये सुरक्षित रहेंगे।

(४) बहुत-सी मोटर गाड़ियाँ जिनमें ध्वनि-विस्तारक यन्त्र तथा प्रक्षेपक (Projector) लगे रहेंगे ग्रामीण स्कूलों में जाया करेंगी। चित्र तथा मेजिक लालटेन दिखाये जायेंगे और भाषणों के रिकार्ड सुनाये जायेंगे। यह प्रस्ताव किया जाता है कि प्रत्येक स्कूल सप्ताह में कम-से-कम एक दिन अवश्य एक मोटर की सेवा प्राप्त कर सकेगा।

(५) स्कूलों में रेडियो लगाये जायेंगे और स्कूल के बच्चों, युवकों और प्रौढ़ों के लिये विशेष कार्यक्रम प्रसारित किये जायेंगे।

(६) स्कूलों में सर्वप्रिय नाटकों के खेलने का प्रबन्ध किया जायेगा और समय-समय पर सर्वश्रेष्ठ नाटक दिखानेवालों को पुरस्कार दिया जायेगा।

(७) स्कूलों में राष्ट्रीय तथा लोकगीतों के सिखाने का भी प्रबन्ध रहेगा।

(८) इन स्कूलों में स्थानीय आवश्यकता के अनुसार किसी हस्तकला एवं व्यवसाय के सामान्य शिक्षण की व्यवस्था भी की जायेगी।

(९) ग्रामीण जनता को समाज, स्वास्थ्य-विज्ञान, कृषि की उन्नत प्रणालियाँ तथा कुटीर व्यवसाय आदि की लाभदायक जानकारी कराने के उद्देश्य से स्वास्थ्य, कृषि एवं श्रम मन्त्रालयों के सहयोग से स्कूलों में भाषणों का प्रबन्ध किया जायेगा।

(१०) सूचना एवं प्रसार मन्त्रालय के सहयोग से समय-समय पर स्कूलों में उचित फिल्में और स्लाइड दिखाये जायेंगे। राष्ट्रीय महत्त्व की समस्याओं पर ग्रामीणों के सम्मुख भाषण करने के लिये, नेताओं के बुलाने का प्रबन्ध किया जायेगा।

(११) विभिन्न स्कूलों में तथा ग्रामीणों के मध्य सामूहिक खेलकूद तथा प्रतियोगितात्मक क्रीड़ाओं का प्रबन्ध किया जायेगा।

(१२) प्रदर्शनी, मेला तथा उल्लास-यात्रा आदि का संगठन यथावसर प्रत्येक ग्राम-स्कूल में किया जायेगा।

उपर्युक्त योजना द्वारा सामाजिक शिक्षा को सम्पूर्ण भारत के अन्दर व्यापक बनाने का कार्यक्रम रखा गया है। इसका उद्देश्य कुछ सामान्य तथा साहित्यिक शिक्षा देकर प्रत्येक को नागरिकता के गुणों से सम्पन्न करना है।

फरवरी, सन् १९४९ में ही प्रान्तीय शिक्षा-मन्त्रियों का एक सम्मेलन दिल्ली में बुलाया गया और उसमें इस द्वादश-सूत्री कार्यक्रम पर विचार-विमर्श हुआ। प्रस्ताव रखा गया कि तीन वर्ष के भीतर १२ से ५० वर्ष की आयुवाले निरक्षरों में से कम-से-कम ५० प्रतिशत को अवश्य साक्षर बना दिया जाये। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने उपयोग के लिये प्रान्तों को उनकी निरक्षर जनसंख्या के आधार पर ९० लाख रु० भी दिया। प्रत्येक प्रान्त से तीन वर्ष का एक कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिये कहा गया। इसके अतिरिक्त प्रान्तों को कहा गया कि वे स्वयं भी अपने सामाजिक-शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रमों को उन्नत बनाने का यत्न करें, सभी सम्भव जन-धन-शक्ति को इस कार्य में लगाने की योजना बनायें और म्यूजियमों, विश्व-विद्यालयों, मिल-मालिकों, सचल पुस्तकालयों तथा स्वयंसेवकों आदि सभी साधनों की सहायता इस योजना में प्राप्त करें।

इस योजना के अनुसार सभी प्रान्तों ने अपनी प्रथम पंचवर्षीय सामाजिक शिक्षा की तीन वर्ष की योजना केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की। सभी

प्रान्तों ने अपने क्षेत्र में अनेक सामाजिक शिक्षा-कैम्प और शिक्षा-केन्द्र खोले। सभी प्रान्तीय सरकारें उत्साहपूर्वक इस कार्य में जुट गईं। रात्रि-पाठशालाओं, प्रौढ़-कक्षाओं तथा दृश्य-श्रव्य उपकरणों (Audio-visual aids) का प्रबन्ध किया गया। दिल्ली प्रान्त ने अपने गाँवों में सामाजिक शिक्षण के उद्देश्य से ऐसा कारवाँ स्थापित किया जिसमें ४ मोटरों में चल रंगमंच, चलचित्र तथा प्रदर्शनी का प्रबन्ध किया गया और जो गाँवों में जाकर इस योजना के अनुसार कार्य करते रहें। अलीपुर (दिल्ली) में एक जनता-कालेज भी खोला गया जिसके द्वारा अब भी स्थानीय कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण मिलता है।

केन्द्र द्वारा धन प्राप्त होने पर प्रान्तों ने अपनी धनराशि भी इस कार्य में बढ़ा दी। उत्तरप्रदेश सरकार ने इस प्रान्त में निरक्षरों को साक्षर बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। जो बालक कक्षा चार तक पढ़कर पढ़ना बन्द कर देते हैं उनकी साक्षरता बनाये रखने के लिये सातत्य-कक्षायें (Continuation Classes) जारी की गईं; सामाजिक-शिक्षा-शिविरों द्वारा ग्रामीणों को पढ़ना-लिखना तथा अन्य ग्रामसुधार-सम्बन्धी कार्यों की शिक्षा दी गई और ग्रामसुधार कार्यकर्त्ताओं को सहकारिता तथा कृषि-सुधार आदि की शिक्षा देकर गाँवों में काम करने के लिये भेजा गया। इधर गाँवों की सर्वमुखी उन्नति और सुधार के लिये ग्राम सेवक भी प्रशिक्षित किये जा रहे हैं। इसी प्रकार मध्यप्रदेश, मद्रास, बम्बई, बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि प्रान्तों ने भी अपनी-अपनी योजनाओं के अनुसार इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया है।

किन्तु फिर भी भारत में निरक्षरता को दूर करने की समस्या बड़ी विकट है। सम्पूर्ण भारतीय जनसंख्या का प्राय: १७ प्रतिशत ही अब तक साक्षर है। इस विशाल जनसंख्या के ८३ प्रतिशत प्राणियों को साक्षर बनाने के कार्य की कठिनाइयाँ सोचकर ही भय होने लगता है। फिर इस प्रकार की पुस्तकें जो सामाजिक शिक्षण के योग्य हों देश में बहुत ही कम हैं। प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की कमी है। शिक्षा के लिये प्राप्त धन भी बहुत ही कम है। इन कठिनाइयों का सामना करने का प्रयत्न केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें कर रही हैं। केन्द्रीय सरकार ने सामाजिक शिक्षा के योग्य साहित्य के लिखने तथा प्रकाशित करने के उद्देश्य से एक समिति की नियुक्ति सन् १९५१ में कर दी है। इस दिशा में उसका कार्य आरम्भ होगया है।

इस समिति की सन् १९५२ की बैठक में यह प्रस्ताव किया गया कि सरकार सामाजिक शिक्षण के योग्य पुस्तिकाओं, फोल्डरों, चार्टों, पत्रिकाओं तथा समाचारपत्रों

आदि के प्रकाशन को उत्साहित करने के लिये निम्नलिखित बातों पर अमल करे:—

(१) सामाजिक-शिक्षा अधिकारियों को अच्छे लेखकों पर दृष्टि रखनी चाहिये और उन्हें अच्छी पुस्तकें तथा पुस्तिकायें लिखने के लिये उत्साहित करना चाहिये।

(२) प्रत्येक वर्ष प्रकाशित पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक-लेखकों को पुरस्कार देना चाहिये।

(३) सरकार को चाहिये कि वह अफसरों तथा विश्वविद्यालयों एवं स्कूलों के शिक्षकों को योग्य विषयों पर पुस्तक लिखने, संकलित करने तथा अनुवादित करने के आदेश दे।

(४) इस प्रकार प्रकाशित पुस्तकों की कुछ प्रतियाँ सरकार खरीद लिया करे।

(५) राज्य-पुस्तकालय-संघों तथा सामाजिक-सेवा-कार्यकर्त्ताओं से इस कार्य में सहायता ली जाये।

अप्रैल सन् १९५२ में भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने कुछ प्रसिद्ध शिक्षाविदों की परिषद् बुलाई और नवशिक्षितों की शिक्षा के योग्य साहित्य के उत्पादन पर विचार-विमर्श किया। परिषद् ने प्रस्ताव पास किया कि दैनिक समाचारपत्रों, सचित्र साप्ताहिक तथा पाक्षिक, क्रमबद्ध प्राइमरों, शिक्षकों के लिये निर्देश-पुस्तकों, तथा सामान्य साहित्य आदि के प्रकाशन को उत्साहित किया जाये। दिल्ली की जामिया मिलिया ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। राज्यों ने भी इस प्रकार के साहित्य के प्रकाशन का कार्यक्रम बनाया है किन्तु इस कार्य के लिये और अधिक धन और श्रम अपेक्षित हैं। आशा है कि उसकी भी व्यवस्था हो सकेगी और अपने देश से निरक्षरता तथा पिछड़ेपन का अभिशाप दूर हो जायेगा।

प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा

भारतवर्ष में आधुनिक शिक्षा के आरम्भ काल से ही प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा को कम महत्त्व दिया गया है। अब भी इस प्रकार की शिक्षा की देश में भारी कमी है। जैसा कहा गया है कम्पनी सरकार ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल तक देश की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार की शिक्षा में भी पहल ईसाई मिशनों की ओर से ही भारत में हुई। पादरियों ने नव-दीक्षित गरीब भारतीय ईसाइयों के लिये कुछ ऐसे स्कूल, उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही खोल रखे थे जहाँ कौशल (बढ़ई, लुहार आदि का कार्य) सिखाया

जाता था ताकि उनको जीविका प्राप्त करने में सहायता मिल सके। बाद में कम्पनी सरकार ने क्रमशः अपनी प्रशासकीय आवश्यकताओं के लिये यत्र-तत्र प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के लिये कुछ प्रयत्न किये। इंजीनीयर, जज, डाक्टर तथा कारीगर प्रभृति लोगों के बिना प्रशासन कठिन होने के कारण ही भारत में कम्पनी सरकार ने इस प्रकार की शिक्षाओं का सूत्रपात किया।

इंजीनियरी की कक्षाओं को खोलने का प्रयत्न उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में किया गया था। बम्बई, मद्रास तथा रुड़की आदि स्थानों पर सरकारी कर्मचारियों की शिक्षा की कुछ कक्षायें आरम्भ हो गई थीं किन्तु नियमित कालेजों की स्थापना नहीं हुई थी। कानून की शिक्षा की व्यवस्था का आरम्भ भी सरकारी कार्य (जजों की नियुक्ति) के लिये किया गया था। कलकत्ता के हिन्दू कालेज में सब-से पहले इसकी कक्षायें (सन् १८४२ में) खुलीं। फिर क्रमशः बम्बई और मद्रास में भी कक्षायें खुलीं। पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली का आगमन भी भारत में यूरोपियन जातियों के साथ-साथ हुआ। कम्पनी ने सन् १८२२ में कलकत्ता में एक मेडिकल संस्था खोलकर और उसमें देशी लोगों को प्रशिक्षण देकर यूरोपियन डाक्टरों के सहायक तैयार करने का कार्य आरम्भ कर दिया था। सन् १८२६ तक मेडिकल कक्षायें भी कलकत्ता में खुल गईं। सन् १८३५ में एक मेडिकल कालेज की स्थापना भी हुई। इसी प्रकार बम्बई, पूना तथा मद्रास में भी योरोपीय ढंग की चिकित्सा-विधि के शिक्षण का कार्य सन् १८३५ के लगभग आरम्भ हो गया। इसी प्रकार कला, कृषि तथा व्यवसाय आदि में भी कम्पनी सरकार तथा मिशनरियों ने कुछ कक्षायें खोल रखी थीं।

भारत में प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का क्रमबद्ध विकास उड की सन् १८५४ की शिक्षा-घोषणा के पश्चात् आरम्भ हुआ। घोषणा ने सर्वप्रथम इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि भारतीयों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाये जो उनके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सहायक हो। अतः इस घोषणा के पश्चात् यहाँ पर अनेक स्थानों पर प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षण की कुछ व्यवस्था हो चली। रुड़की, पूना, कलकत्ता तथा मद्रास में क्रमशः सन् १८५४, १८५४, १८५७ तथा १८५८ में इंजीनियरिंग कालेज खुले और सिविल, मेकेनिकल और इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग की शिक्षा दी जाने लगी। छोटे-छोटे वर्कशाप भी खुले जहाँ साधारण कारीगरों की ट्रेनिंग का प्रबन्ध किया गया। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों के खुल जाने पर इनको विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कर दिया गया। इसी प्रकार कानून प्रशिक्षण के लिये कलकत्ता (सन् १८५७), बम्बई

और मद्रास के विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कुछ कालेजों में कानून में कक्षायें खोल दी गईं। सन् १८५५ में बम्बई और मद्रास के मेडिकल कालेजों को रायल कालेज ऑव सर्जन्स, इंग्लैण्ड से मान्यता मिल गई और विश्वविद्यालयों के खुल जाने पर मेडिकल कालेजों को उनसे सम्बन्धित कर दिया गया। इसी प्रकार कला एवं हस्तकला के भी कुछ केन्द्र देश में खुले। मद्रास में सन् १८५० में "स्कूल ऑव आर्ट्स" खुला। सन् १८५३–५६ तक बम्बई में "स्कूल ऑव आर्ट्स" स्थापित हुआ।

इस दिशा में विशेष प्रगति कलकत्ता, बम्बई एवं मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना के पश्चात् ही हुई। अंग्रेजी राज्य के प्रसार और स्थायित्व के साथ-साथ प्रशासन के अनेक विभागों में कुशल व्यक्तियों की आवश्यकता बढ़ती गई। सार्वजनिक निर्माण विभाग के लिये इंजीनियरों और ओवरसियरों की अधिक माँग बढ़ गई। पूना (बम्बई), ग्विन्डी (मद्रास) तथा सिवपुर (बंगाल) में इंजीनियरिंग कालेजों की स्थापना हुई। कानून के शिक्षण और परीक्षण के लिये भी विश्वविद्यालयों, हाईकोर्टों तथा कुछ प्रान्तीय सरकारों ने व्यवस्था की। लाहौर आदि में कुछ मेडिकल कालेज भी और खुले (सन् १८६०)। लाहौर में सन १८७५ में एक स्कूल ऑव आर्ट्स् की भी स्थापना हुई।

किन्तु सरकार ने प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षा पर उचित ध्यान नहीं दिया अतः देश में शिक्षा तथा आर्थिक विषयों पर नियुक्त होनेवाले सभी कमीशनों और समितियों ने इस पर ध्यान आकर्षित किया और सरकार से सिफारिश की कि इन शिक्षाओं पर विशेष ध्यान दिया जाये। सन् १८८२ में प्रथम भारतीय शिक्षा कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में इस पर जोर दिया और कहा कि देश की शिक्षा एकांगी हो रही है अतः सरकार को प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिये और माध्यमिक स्कूलों में टेक्नीकल कोर्स रखने चाहिये। जैसा कहा जा चुका है कमीशन की सिफारिशों के अनुसार मैट्रिक परीक्षा के लिये बम्बई, मद्रास और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में इस प्रकार के कुछ कोर्स रखे गये किन्तु वे अधिक सफल और प्रभावपूर्ण न हो सके। फिर भी विज्ञान का शिक्षण क्रमशः बढ़ने लगा। सन् १८८८ में भारत सरकार ने भी एक प्रस्ताव द्वारा इस कमी की ओर ध्यान दिलाया और प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षा की उन्नति करने की आवश्यकता बतलायी। इधर राष्ट्रीय कांग्रेस तथा जनता ने भी टेक्नीकल शिक्षा की माँग आरम्भ की।

इंजीनियरिंग कालेजों में डिग्री कोर्स की स्थापना हुई। इनके अतिरिक्त साधारण डिप्लोमा तथा अन्य प्रकार के कोर्स भी खोले गये। बम्बई में सन् १८८७ में विक्टोरिया जुबिली टेक्नीकल इंस्टीट्यूट की स्थापना बम्बई की मिलों के लिये कुशल कारीगरों के प्रशिक्षण के लिये हुई। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते देश में टेक्नीकल शिक्षा की अधिक माँग बढ़ गई। भारत सरकार ने वजीफा देकर कुछ चुने हुये भारतीय विद्यार्थियों को टेक्नीकल शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से यूरोप और अमेरिका भेजना आरम्भ कर दिया। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में चार इंजीनियरिंग कालेज तथा कई एक इंजीनियरिंग स्कूल थे। किन्तु टेक्नीकल संस्थायें विशेष ढंग की नहीं थीं। तब तक कुछ प्राविधिक संस्थायें (स्कूल) साधारण बढ़ई तथा लोहार आदि के व्यवसायों को सिखाती थीं।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होने तक मेडिकल स्कूलों की संख्या भी बढ़ चली थी। पशु-चिकित्साशास्त्र की ट्रेनिंग देने के लिये लाहौर, बम्बई तथा कलकत्ता में पशु-चिकित्सा (Veterinary) कालेज भी खुल चुके थे। बम्बई, मद्रास, लाहौर तथा कलकत्ता में स्कूल ऑव आर्ट्स उपयोगी कार्य कर रहे थे। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में कृषि शिक्षण की आवश्यकता होते हुये भी सरकार ने इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया था। सन् १८८० के पश्चात् इस पर सरकार का ध्यान बारम्बार आकर्षित किया गया। मद्रास में एक कृषि स्कूल सन् १८८६ में खोला गया। पूना इंजीनियरिंग कालेज में कृषि विभाग जोड़ दिया गया। कोइम्बटूर (सन् १८७६), नागपुर (सन् १८९०), कानपुर (सन् १८९२) तथा सिवपुर कालेज में कृषि विभाग (सन् १८९९) खुले। इस प्रकार की शिक्षा के लिये केन्द्रीय सरकार ने भी अपने सन् १८९७ के शिक्षा-प्रस्तावों में कृषि की डिग्री, डिप्लोमा और सर्टिफिकेट को, कला और विज्ञान की डिग्री, डिप्लोमा और सर्टिफिकेट के समान ही मान्यता प्रदान कर दी। माध्यमिक स्कूलों में कृषि का विषय भी ऐच्छिक विषयों में रख दिया गया। वाणिज्य (कामर्स) की शिक्षा देने के लिये उन्नीसवीं शती के अन्त तक कोई विशेष प्रबन्ध शिक्षा-व्यवस्था में न था। किन्तु कुछ ऐसे स्कूल खुल चले थे जो स्टेनोग्राफर (शार्टहैंड), टाइपराइटिंग तथा बुककीपिंग आदि कामर्स विषयों की शिक्षा प्रदान करते थे।

वन-विभाग में कार्य करनेवाले कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये देहरादून (सन् १८७८) तथा पूना में स्कूल खोले गये थे।

सन् १९०४ में अपनी शिक्षा-नीति में भारत सरकार ने पुनः देश में प्राविधिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। यूरोप तथा अमेरिका में भारतीय

छात्रों को वजीफा देकर टेक्नीकल शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजने की व्यवस्था की गई ताकि भारतीय कारोबार की उन्नति हो। राज्य तथा जनता दोनों के प्रयत्नस्वरूप भारत में प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का विकास हो चला। बंगाल में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् ने जादवपुर में इंजीनियरिंग और टेक्नोलाजिकल कालेज की स्थापना की। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में भी इंजीनियरिंग कालेज सन् १९१७ में स्थापित हो गया और वहाँ मेकेनिकल, एवं इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग तथा मेटलर्जी में शिक्षा दी जाने लगी। क्रमशः इंजीनियरिंग शिक्षा की उन्नति होती रही। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत में २५ के लगभग इंजीनियरिंग कालेज थे।

सन् १९१७ में व्यावसायिक शिक्षा के लिये दी जानेवाली छात्रवृत्तियों की व्यवस्था में परिवर्तन किये गये। प्रान्तीय सरकारों को चुनाव का अधिकार दे दिया गया और छात्रवृत्तियों की संख्या तथा कालावधि बढ़ा दी गई। चुनाव में वस्त्र, खानों की खुदाई, बर्तन निर्माण, चमड़ा पकाना, दियासलाई, काँच, शक्कर, कागज तथा पेंसिल व्यवसायों को प्राथमिकता देने का प्रस्ताव किया गया। सन् १९२०—२१ से देश में औद्योगिक संस्थाओं की माँग तीव्र हो चली। बंगलौर में इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑव साइंस सन् १९११ में ही खुल चुका था। सन् १९२१ के बाद इण्डियन स्कूल ऑव माइनिंग, धनबाद तथा हारकोर्ट बटलर टेक्नोलाजिकल इंस्टीट्यूट कानपुर खुले। कुछ विश्वविद्यालयों में भी औद्योगिक विभाग खोले गये। कुछ एकौद्योगिक तथा बहूद्योगिक संस्थायें भी स्थापित हुई। इसी प्रकार देश में बहुत-से औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षणालय खोले गये जिनमें आज भी विभिन्न प्रकार के कारीगरों को शिक्षा दी जाती है। एबट-उड रिपोर्ट ने इस विषय में एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की थी। दुर्भाग्यवश उस पर विशेष कार्य न हो सका। सन् १९४५ में अखिलभारतीय औद्योगिक शिक्षा परिषद् की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य भारत में प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का संगठन करना है। इस परिषद् ने प्राविधिक शिक्षा के लिये छः बोर्डों की स्थापना कर दी है। इन बोर्डों ने राष्ट्रीय आयोजनों तथा आवश्यकताओं को देखते हुये प्राविधिक विद्यालयों के लिये विभिन्न पाठ्यक्रम बनाये हैं।

कानून एवं चिकित्सा-विज्ञान—कानून प्रशिक्षण की व्यवस्था तो आरम्भ से ही ठीक प्रकार से चल रही है। इस दिशा में धनप्राप्ति तथा नेतागिरी के आकर्षण

के कारण अधिक लोग जाते रहे। अब भी कानून के ग्रेजुएटों की संख्या आवश्यकता से अधिक होती जा रही है। मेडिकल कालेजों की संख्या भी पर्याप्त रूप से बढ़ी। देश की विशाल जन-संख्या को देखते हुये डाक्टरों की अभी पर्याप्त कमी है। किन्तु देश का अभाग्य है कि डाक्टरों को ग्रामीण क्षेत्रों की ओर जाने का अभी ध्यान नहीं है और निर्धनता के कारण ग्रामीण क्षेत्र डाक्टरों की वर्त्तमान व्ययसाध्य चिकित्सा का भार सहन नहीं कर सकते। देश में आयुर्विज्ञान (Medical Science) की उन्नति के लिये कई एक अन्वेषण केन्द्र खोले गये हैं। पशु-चिकित्साप्रशिक्षण पर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है। कला एवं संगीत की शिक्षा के लिये भी कुछ स्कूल खोले गये हैं।

कृषि-शिक्षा का भी सराहनीय प्रयत्न किया गया। स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में कृषि-विभाग खोले गये हैं। कानपुर (सन् १९०६), कोइम्बटूर (सन् १९०९), साकूर (सन् १९०९), लायलपुर (सन् १९१०), पूना (सन् १९०८), तथा पूसा (सन् १९०८) आदि में अलग-अलग संस्थायें भी कृषि-शिक्षण के लिये खोली गईं। वन-विज्ञान की शिक्षा पर भी ध्यान दिया गया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने की सतत भावना से प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया है। सन् १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने केन्द्र में वैज्ञानिक शोध विभाग (Department of Scientific Research) खोला। देश के विभिन्न भागों में ग्यारह राष्ट्रीय प्रयोगशालायें और शोध-संस्थान खोलने की योजना बनाई गई। इनमें अधिकांश की स्थापना हो चुकी है। इस प्रकार स्नातकोत्तर प्रशिक्षण के लिये अब पर्याप्त व्यवस्था है। स्नातक-स्तर पर दस के लगभग टेक्नोलाजिकल इंस्टीट्यूट और प्रायः पच्चीस के लगभग इंजीनियरिंग कालेज देश में कार्य कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त सारजेण्ट रिपोर्ट (सन् १९४४), विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन रिपोर्ट (सन् १९४९), माध्यमिक शिक्षा कमीशन रिपोर्ट (सन् १९५३) में भी प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया। फलस्वरूप बहु-उद्देशीय स्कूलों की स्थापना की जा रही है। कला भवन, बरौदा, तथा कलकत्ता टेक्नीकल स्कूल जैसे सीनियर टेक्नीकल स्कूलों में सुपरवाइजरों (Supervisors) के शिक्षण की व्यवस्था देशभर में प्रगति कर रही है। इसी प्रकार कुशल कारीगरों को प्रशिक्षण देने के लिये भी अनेक स्कूल और वर्कशाप स्थापित हो गये हैं।

व्यावसायिक स्कूलों में गृह (कुटीर) उद्योग—जैसे करघा चलाना, लकड़ी पर नक्काशी का काम, चमड़े का काम, बढ़ई का काम कुम्हार का काम आदि-

सिखाये जाते हैं। जूनियर टेक्नीकल स्कूलों में कारखानों में कार्य करने के लिये कुशल कारीगरों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इनमें ओवरसियर, फोरमैन, चार्जमैन तथा सुपरवाइज़र विविध टेक्नीकल विभागों की शिक्षा पाते हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही प्रकट हो गया कि देश में प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा की बड़ी कमी है। योजनाओं के लिये कुशल कारीगर मिलना भी कठिन हो जाता है। अत: एन. आर. सरकार समिति (सन् १९४६) की सिफारिशों के अनुसार भारत में चार प्रादेशिक उच्चतर औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना की योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है। पूर्वी प्रादेशिक उच्चतर प्राविधिक संस्था (Higher Technical Institute) की स्थापना कलकत्ता के समीप हो चुकी है। बंगलौर और दिल्ली में भी इस दिशा में सरकार ने प्रयत्न किया है। अनेक गैरसरकारी टेक्नीकल संस्थाओं को भी उन्नत बनाने के लिये अनुदान दिया गया है। प्रयोगात्मक प्रशिक्षण के लिये भी सरकारी तथा गैर-सरकारी कारखानों एवं विभागों में सुविधायें प्रदान की गई हैं।

अखिलभारतीय औद्योगिक शिक्षा परिषद् ने अपनी प्रादेशिक समितियाँ नियुक्त कर दी हैं, जिनका कार्य उस क्षेत्र में स्थित कारोबार और औद्योगिक शिक्षा में सहयोग स्थापित करना है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने के लिये बड़े उद्योगों की स्थापना पर बल दिया गया है। इनके लिये औद्योगिक संस्थाओं की और अधिक आवश्यकता पड़ेगी। इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑव टेक्नोलाजी (Indian Institute of Technology) खड़गपुर में विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम इसी उद्देश्य से खोले गये हैं। विदेशों में भी अनेक भारतीय विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ देकर अथवा अन्य देशों के सहयोग द्वारा टेक्नीकल शिक्षा के लिये भेजा जा रहा है।

इनके अतिरिक्त कृषि-शिक्षा, वाणिज्य-शिक्षा, चिकित्सा-विज्ञान, पशु-चिकित्सा-विज्ञान तथा कानून-शिक्षा आदि व्यावसायिक शिक्षा में समुचित उन्नति के लिये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें प्रयत्नशील हैं।

शिक्षक-प्रशिक्षण—शिक्षण महाविद्यालयों के लिये शिक्षक-प्रशिक्षण का इतिहास विशेष महत्त्व रखता है। प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में सम्भवत: प्रशिक्षण का कोई विधिवत् नियम न था। किन्तु पाठशाला के बड़े तथा योग्य विद्यार्थी छोटे एवं कमजोर विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे।

इस प्रकार एक ही शिक्षक अपने बड़े शिष्यों की सहायता से अनेक विद्यार्थियों को शिक्षा देता रहता था। यूरोपीय जातियों के भारत में आने पर दक्षिण भारत में यह प्रथा विद्यमान थी। डा० एन्ड्रूवेल ने इस प्रथा को अपनाया और मानीटर प्रथा के नाम से इसका प्रचार ग्रेट बृटेन में भी किया। आरम्भ में मिशनरी पादरियों ने भी इस विधि को अपनाया। आरम्भ में मिशनरियों ने ही अपने स्कूलों के लिये शिक्षक तैयार करने के लिये कुछ ट्रेनिंग स्कूल खोले। सिरामपुर में एक नार्मल स्कूल पादरियों द्वारा खोला गया। पुर्तगाल तथा डेनमार्क के पादरियों ने भी इस प्रकार के ट्रेनिंग स्कूल खोल रखे थे। किन्तु ट्रेनिंग इस काल में केवल प्राथमिक शिक्षकों को ही दी जाती थी।

कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई की शिक्षा-समितियों ने शिक्षक-प्रशिक्षण की आवश्यकता अनुभव की और इसके लिये प्रयत्न किया। बम्बई में सर्वप्रथम २४ शिक्षकों की ट्रेनिंग सन् १८२६ में पूरी हुई और उन्हें प्रेसीडेंसी के विभिन्न प्राइमरी स्कूलों में भेज दिया गया। आरम्भ में प्रशिक्षण पाठ्यविषयों की ज्ञानप्राप्ति के हेतु दिया जाता था। उस समय शिक्षण-विधि पर विशेष ध्यान नहीं था। मद्रास में भी सन् १८२६ में एक नार्मल स्कूल खोला गया। सन् १८४७ में कलकत्ते में भी एक नार्मल स्कूल खुला।

आधुनिक अर्थ में प्रशिक्षण का आरम्भ सन् १८५४ की उड-घोषणा के पश्चात् ही हुआ। उड-घोषणा ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा की नींव रख दी अतः प्रशिक्षण भी उसकी आवश्यकतानुसार आवश्यकीय हो गया। घोषणा में प्रशिक्षण पर बल दिया गया और छात्राध्यापक-प्रणाली को जारी करने की सिफारिश की गई। घोषणा के पश्चात् बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, तथा उत्तरी-पश्चिमी प्रान्तों में नार्मल स्कल खोले गये जहाँ प्राइमरी स्कूलों के शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाने लगा। अनुदान-प्रथा में भी प्रशिक्षित अध्यापकों के वेतन के लिये अनुदान की विशेष व्यवस्था रखी गई। स्टेनले-घोषणा में भी शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया गया। सभी प्रान्तों में नार्मल स्कूलों की संख्या बढ़ने लगी। सन् १८८२ में बृटिश भारत में १०६ नार्मल स्कूल थे और शिक्षार्थियों की संख्या ३,८८६ थी। किन्तु यह प्रशिक्षण-व्यवस्था प्राइमरी शिक्षकों के लिये ही थी।

माध्यमिक स्कूलों के शिक्षकों के प्रशिक्षण पर अब तक बहुत कम ध्यान दिया गया था। सन् १८८२ तक भारत में इस प्रकार के केवल दो ट्रेनिंग कालेज थे—एक मद्रास में और दूसरा लाहौर में। इनमें माध्यमिक स्कूलों के लिये जानेवाले शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। इनमें भी स्नातकों और उप-स्नातकों

(Undergraduates) को साथ ही प्रशिक्षण दिया जाता था। प्रशिक्षण के लिये कौन-से विषय हों, इस पर बहुत मतभेद था। साथ ही प्रशिक्षण की महत्ता भी सर्वमान्य न थी।

सन् १८८२ के भारतीय शिक्षा कमीशन ने प्राइमरी एवं माध्यमिक शिक्षा के शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष रूप से बल दिया और प्रस्ताव किया कि नार्मल और ट्रेनिंग संस्थायें देश के विभिन्न भागों में आवश्यकतानुसार स्थापित की जायें और सरकार उसके लिये पर्याप्त धन व्यय करे। यह भी प्रस्ताव रखा गया कि प्रशिक्षित अध्यापकों को ही सरकारी तथा गैरसरकारी स्कूलों की नौकरियों में स्थायी स्थान दिया जाये। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत में केवल छः ट्रेनिंग कालेज माध्यमिक शिक्षा के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये थे जिनमें शिक्षा के सिद्धान्त और प्रयोग की शिक्षा दी जाती थी। परन्तु प्रशिक्षण विद्यालयों की संख्या बढ़ रही थी। कुछ प्रान्तों ने 'अध्यापन प्रमाण-पत्र परीक्षा' की व्यवस्था भी कर ली थी।

भारत सरकार के सन् १९०४ के शिक्षा-नीति के प्रस्तावों में पुनः शिक्षक-प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया। इस बात को पुनः कहा गया कि माध्यमिक स्कूलों के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये प्रत्येक प्रान्त में पर्याप्त व्यवस्था की जाये। स्नातकों के लिये एक साल का प्रशिक्षण रखा जाये तथा शिक्षण महाविद्यालयों से सम्बन्धित एक-एक अभ्यास-विद्यालय रखा जाये। इस घोषणा के पश्चात् बम्बई, कलकत्ता, पटना, ढाका तथा जबलपुर में अधिस्नातक स्तर के शिक्षण महाविद्यालय खुले। सन् १९१३ की सरकारी शिक्षा-नीति घोषणा में स्पष्ट कहा गया कि प्रशिक्षण के बिना किसी भी शिक्षक को पढ़ाने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये। सरकार ने भी शिक्षण महाविद्यालय खोले ताकि सरकारी एवं गैरसरकारी स्कूलों के लिये प्रशिक्षित अध्यापक मिल सकें। कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने भी प्रशिक्षण की आवश्यकता पर बल दिया और कलकत्ता तथा ढाका विश्वविद्यालयों में शिक्षा विभाग खोलने का परामर्श दिया। फलस्वरूप सन् १९२१ तक देश में तेरह उच्चशिक्षण महाविद्यालयों की स्थापना हो गई और सन् १९२६ तक इनकी संख्या इक्कीस तक पहुँच गई।

हर्टॉग समिति (सन् १९२९) ने प्राइमरी शिक्षकों के प्रशिक्षण की अवधि को बढ़ाने तथा प्रशिक्षण की क्षमता को उच्च बनाने के लिये कई सुझाव दिये। स्वतन्त्रता-प्राप्ति (सन् १९४७) तक भारत में ३४ शिक्षण महाविद्यालय, ३३९ नार्मल स्कूल पुरुषों के लिये तथा १८९ नार्मल स्कूल स्त्रियों के लिये खुल चुके थे

इनमें शिक्षार्थियों की संख्या क्रमशः २,४९३, २३,७५४ और १०,१९३ थी। इस समय तक प्राइमरी स्कूलों के शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के लिये नार्मल स्कूल और प्राथमिक शिक्षण विद्यालय थे जिनमें मिडिल पास लोग प्रशिक्षित किये जाते थे। C.T. ट्रेनिंग में हाईस्कूल अथवा इन्टर पास लोग प्रशिक्षण पास कर हाईस्कूलों के निम्न कक्षाओं अथवा मिडिल स्कूलों में शिक्षक होकर स्थान पाते थे। B.T. अथवा L.T. में स्नातक और अधिस्नातक प्रशिक्षण प्राप्त कर हाईस्कूलों के शिक्षक होते थे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस दिशा में पर्याप्त ध्यान दिया गया है। अब देश में विभिन्न प्रकार की प्रशिक्षण-संस्थायें खुल गई हैं। बेसिक शिक्षा लागू होने पर बेसिक प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये जिनमें बेसिक शिक्षा के लिये प्रशिक्षण दिया जाने लगा। रिफ्रेशर कोर्स दे-देकर प्राइमरी एवं मिडिल स्कूलों के शिक्षकों को प्रशिक्षित किया गया। प्रत्येक प्रान्त में बेसिक ट्रेनिंग का प्रबन्ध किया गया है और इनमें कौशल-केन्द्रित अध्यापन की शिक्षा दी जाती है। प्राथमिक प्रशिक्षण और नार्मल स्कूलों में भी बेसिक का कार्यक्रम कहीं-कहीं पर शामिल कर दिया गया है। माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिये भी विश्वविद्यालयों में शिक्षा विभाग खोले गये हैं अथवा सरकारी और गैरसरकारी प्रशिक्षण महाविद्यालय खुल गये है। राज्य शिक्षा विभाग भी कुछ प्रान्तों में प्रशिक्षण विद्यालय खोले हुये हैं। इस प्रकार B.T., L.T., B. Ed. या D.T. की प्रशिक्षण डिग्रियाँ या डिप्लोमा स्नातकों के लिये चल रहे हैं। विश्वविद्यालयों के प्रशिक्षण महाविद्यालयों में Ph. D., M. Ed., तथा M. T. की ऊँची डिग्रियों की भी व्यवस्था कर दी गई है। वहाँ पर शिक्षाविषयक शोध-कार्य भी किया जा रहा है। कला, मैनुयल ट्रेनिंग, संगीत, नृत्य तथा शारीरिक शिक्षा आदि विषयों में प्रशिक्षण की भी व्यवस्था कुछ केन्द्रों पर कर दी गई है। स्त्रियों के प्रशिक्षण के लिये अलग स्त्री-प्रशिक्षण महाविद्यालय खोले गये हैं तथा उनको पुरुषों की संस्थाओं में भी प्रशिक्षण मिलता है। सामाजिक शिक्षा के विकास के साथ-साथ प्रौढ़ों की शिक्षा के लिये कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षण देने की आवश्यकता पड़ी अतः कुछ जनता कालेज खोले गये और कुछ के खोलने की योजना चल रही है। वहाँ कार्यकर्त्ताओं को सामाजिक शिक्षा के विभिन्न पहलुओं की ट्रेनिंग दी जायेगी।

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, सेवाग्राम (वरधा) बेसिक प्रशिक्षण का मुख्य केन्द्र है। प्रत्येक राज्य में बेसिक प्रशिक्षण महाविद्यालय कार्य कर रहे हैं। केन्द्रीय

शिक्षा-मंत्रालय इस दिशा में विशेष ध्यान दे रहा है। जामिया मिलिया, दिल्ली तथा विश्वभारती के नाम भी इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा—प्राचीन काल में शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक विद्यार्थी को शरीर से स्वस्थ बनाना शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य था अतः विभिन्न प्रकार के शारीरिक श्रम विद्यार्थियों के लिये अनिवार्य थे। आगे चलकर युद्ध-विद्या का शिक्षण क्षत्रियों की शिक्षा का मुख्य अंग बन गया। बौद्ध-युगीन शिक्षा में भी वाण-विद्या, तैरना, घोड़े की सवारी, कुश्ती तथा प्राणायाम आदि को शिक्षा में स्थान दिया जाता था। मुस्लिम युग में मुस्लिम विद्यार्थियों की शारीरिक वृद्धि के लिये प्रयत्न किये जाते थे। किन्तु क्रमशः भारतीय जनता में शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा के प्रति उदासीनता उत्पन्न होती गई।

आधुनिक शिक्षा के आरम्भ-युग में इस दिशा में कुछ ध्यान नहीं दिया गया। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में कुछ स्कूलों में शारीरिक वृद्धि के लिये, खेल-कूद, जमनास्टिक तथा ड्रिल आदि का प्रबन्ध किया जाने लगा। आरम्भ में इनके प्रति लोगों की विशेष रुचि न थी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यंगमेन क्रिश्चियन एसोसियेशन (Y.M.C.A.) की भारतीय शाखा ने मद्रास में शारीरिक शिक्षा का Y.M.C.A. College of Physical Education खोला। इस कालेज के कारण भारत में खेलकूद, ड्रिल आदि में अनेक नवीनताएँ आईं और शारीरिक शिक्षा का प्रचार स्कूलों में बढ़ चला।

क्रमशः इस प्रकार की शिक्षा की उपयोगिता तथा आवश्यकता सर्वमान्य हो चली और शिक्षण-संस्थाओं पर शिक्षा विभागों ने भी दबाव डाला। प्रत्येक शिक्षण-संस्था में किसी-न-किसी प्रकार की शारीरिक शिक्षा का प्रबन्ध होने लगा। सन् १९४५–४६ में बम्बई सरकार ने एक शारीरिक शिक्षा समिति की स्थापना की। समिति ने सिफारिश की कि शारीरिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाये। इसके लिये स्कूलों के समय-विभागों में एक अंतर निश्चित कर दिया जाये। स्कूलों के साथ क्रीड़ाक्षेत्र (Playground) भी हों ऐसी व्यवस्था भी की गई।

केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श परिषद् ने शारीरिक शिक्षा पर जोर दिया। सन् १९४४ की सारजेण्ट योजना में ड्रिल और संगठित खेलकूद पर आवश्यक ध्यान दिया गया और इनको प्रत्येक माध्यमिक स्कूल में अनिवार्य करने का प्रस्ताव किया गया। स्कूलों के लिये आयुर्वैज्ञानिक सेवा (Medical service) की योजना बनाई गई।

प्रत्येक प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं में स्वास्थ्य-परीक्षा और निःशुल्क चिकित्सा की सिफारिशें की गईं। सन् १९४८ में भारत सरकार ने डॉ० ताराचन्द की अध्यक्षता में एक समिति शारीरिक शिक्षण के लिये नियुक्त की। समिति ने शारीरिक शिक्षा-केन्द्र प्रान्तों में खोलने का प्रस्ताव किया जिससे प्रशिक्षित शिक्षक और निरीक्षक तैयार किये जा सकें। कई प्रान्तों में इसकी व्यवस्था हो चुकी है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने इस दिशा में विशेष रुचि दिखलाई है। सन् १९४८ में एक कानून द्वारा भारत में नेशनल कैडट कोर (N.C.C.) की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य विद्यार्थियों में चरित्र, सेवाभाव, नेतृत्व तथा देश-रक्षा की भावना उत्पन्न करना है। इसकी तीन शाखायें हैं:—(१) विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिये, (२) माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये, तथा (३) विश्वविद्यालयों एवं माध्यमिक विद्यालयों की लड़कियों के लिये।

N.C.C. का प्रचार देश में तीव्र गति से हो रहा है और इससे अनुशासन की समस्या का बहुत-कुछ हल हो सकता है। प्रत्येक राज्य इन बातों में रुचि ले रहा है और इस प्रकार की शिक्षा शिक्षण-संस्थाओं में अनिवार्य बनाई जा रही है। प्रशिक्षण महाविद्यालयों में भी शारीरिक शिक्षण के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा रही है। बम्बई, उत्तरप्रदेश, बंगाल तथा आसाम में इसके लिये अलग विभाग खोल दिये गये हैं। व्यायामशालाओं तथा अखाड़ों को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है।

राधाकृष्णन कमीशन एवं मुदालियार कमीशन ने भी शिक्षण-संस्थाओं में शारीरिक स्वस्थता के निमित्त विभिन्न प्रस्तावों द्वारा सरकार तथा जनता का ध्यान शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा की ओर आकर्षित किया है। वर्त्तमान समय में इन पर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है किन्तु भारत जैसे विशाल देश के लिये अभी इस दिशा में पर्याप्त धन एवं प्रयत्न की आवश्यकता है।

धार्मिक शिक्षा—प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारतीय शिक्षा में धर्म की महत्ता पर विशेष ध्यान दिया गया था। जैसा कि इन युगों की शिक्षा के वर्णन में दिखलाया जा चुका है धर्म की शिक्षा देना शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य था। किन्तु आधुनिक शिक्षा के आरम्भ में वातावरण बदल चुका था। यूरोपीय ईसाई पादरियों ने

भारत में शिक्षा में विशेष रुचि अपने धर्मप्रचार के हेतु ही ली। मिशनरी स्कूलों में ईसाईधर्म की शिक्षा दी जाने लगी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आरम्भ में इसके लिये कुछ सहायता की किन्तु थोड़े दिनों बाद ही इस बात का अनुभव कर लिया कि भारत जैसे देश में जहाँ अनेक धर्म हैं, शिक्षा के क्षेत्र में निष्पक्ष रहना ही ठीक है। फलतः कम्पनी ने इस क्षेत्र में तटस्थता की नीति अपनाई। पादरियों ने बारम्बार अपना प्रभाव डाला और यहाँ की शिक्षा में ईसाईधर्म का शिक्षण आवश्यक बतलाया किन्तु कम्पनी अपनी नीति पर डटी रही।

सन् १८५४ तथा १८५९ की शिक्षा-घोषणाओं में भी धार्मिक तटस्थता की नीति अपनाई गई और सरकारी स्कूलों में केवल धर्म-निरपेक्ष शिक्षा की ही व्यवस्था की गई। मिशनरी पादरियों ने बारम्बार कोशिश की कि ईसाईधर्म की शिक्षा दी जाये किन्तु सरकारी नीति तटस्थता की ही रही। सन् १८८२ के प्रथम भारतीय शिक्षा कमीशन ने भी इसी नीति का समर्थन किया। कमीशन ने सरकारी स्कूलों में धार्मिक शिक्षा की अपेक्षा नैतिक शिक्षा का प्रस्ताव किया। उन्होंने सुझाव रखा कि सरकारी और गैरसरकारी कालेजों में कोई अध्यापक नागरिक के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों अथवा नैतिक विषयों पर भाषण दिया करे।

किन्तु इन प्रस्तावों के आधार पर कार्य न हो सका। सन् १९०४ की घोषणा में भी धार्मिक शिक्षा पर बल नहीं दिया गया। केवल शिक्षकों के आदर्श, उनका शिष्यों से घनिष्ट सम्बन्ध तथा शिष्यों पर उचित शिक्षकों के प्रभाव को ही प्रधानता दी गई। अन्य शिक्षा-समितियों ने भी शिक्षा में धर्म को स्थान देने पर बल नहीं दिया। स्वतन्त्रता के बाद भारत असाम्प्रदायिक राज्य घोषित कर दिया गया अतः विधान में सरकारी संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पूर्णतः वर्जित कर दी गई है। यदि अभिभावकों को कोई आपत्ति न हो तो गैरसरकारी तथा दान द्वारा संचालित संस्थाओं में स्कूल समय के उपरान्त धार्मिक शिक्षा अवश्य दी जा सकती है।

राधाकृष्णन कमीशन ने भी धार्मिक शिक्षा के स्थान पर नैतिक शिक्षा पर ही ध्यान दिलाया है। कमीशन के अनुसार शिक्षण-संस्थाओं का कार्य कुछ मिनटों की मौन प्रार्थना के बाद आरम्भ होना चाहिये। महान् धार्मिक पुरुषों के जीवन-चरित का अध्ययन कालेजों में कराया जाये। मुदालियार कमीशन ने भी कहा कि धार्मिक शिक्षा वैकल्पिक आधार पर स्कूल समय-सारिणी के बाहर दी जा सकती है किन्तु इसके लिये अभिभावकों की स्वीकृति आवश्यक है।

महात्मा गान्धी ने भी बेसिक योजना में धार्मिक शिक्षा को स्थान नहीं दिया। वास्तव में भारत में धार्मिक विभिन्नताओं के कारण किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा देना अत्यन्त कठिन है अतः शिक्षण-संस्थायें केवल नैतिक आदर्श प्रदान कर सकती हैं। धर्म की शिक्षा माता-पिता तथा परिवार पर ही छोड़नी पड़ेगी। यह दुर्भाग्य की बात है कि अज्ञान अथवा समयाभाव के कारण परिवार इसकी व्यवस्था नहीं कर पा रहे हैं और देश इस प्रकार की शिक्षा के नैतिक प्रभावों से वंचित हो रहा है और राज्य के संचालक जिस प्रकार की नैतिक शिक्षा की कल्पना करते हैं उसके प्रभावशाली ढंग से देने की व्यवस्था भी अभी नहीं हो पा रही है।

अन्य विशेष शिक्षायें

प्राच्य शिक्षा—भारत में विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार कुछ विशेष प्रकार की शिक्षाओं का भी प्रबन्ध है। प्राच्य भाषाओं के शिक्षण के लिये भी सरकारी सहायता दी जाती है। संस्कृत के लिये अब भी अनेक पाठशालायें खुली हुई हैं। काशी जैसे तीर्थस्थानों में अब भी प्राचीन पद्धति से संस्कृत भाषा का शिक्षण होता है। संस्कृत भाषा की बहुत प्राचीन पुस्तकें छप गई हैं। प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद भी अन्य भाषाओं में हुआ है। यूरोपीय विद्वानों ने भी संस्कृत का अध्ययन किया है और अनेक ग्रन्थों पर अन्वेषण कार्य किया गया है। चार्ल्स विलकिन्स, विलियम जोन्स, कोलब्रोक, और अलेक्जेण्डर प्रभृति अँगरेजों ने भारत में आकर संस्कृत का अध्ययन किया और इसके अनेक प्राचीन ग्रन्थों का संकलन एवं अनुवाद किया।

सन् १८६८ से केन्द्रीय सरकार संस्कृत ग्रन्थों के संकलन एवं संस्कृत अध्ययन के लिये धन की सहायता करती रही है। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने अनेक प्राचीन ग्रन्थों का पता लगाया और उनको प्रकाशित कराया। अन्य कई संस्थाओं ने संस्कृत ग्रन्थों को देश के पण्डितों से प्राप्त कर उनका संग्रह किया। अब भी इस दिशा में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के प्रयत्न से कार्य चालू है। स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में संस्कृत के अध्ययन पर विशेष बल दिया जा रहा है। पंजाब सरकार ने कुरुक्षेत्र में एक संस्कृत विश्वविद्यालय बनाने का अधिनियम बना लिया है। उत्तरप्रदेश भी काशी में संस्कृत विश्वविद्यालय खोलने का प्रयत्न कर रहा है।

संस्कृत की भाँति ही फारसी, अरबी, पाली, तथा प्राकृत आदि के अध्ययन तथा उनके भी प्राचीन साहित्य के अन्वेषण का काम चल रहा है। प्राचीन साहित्य एवं संस्कृत पर विशेष बल स्वतन्त्रता के बाद दिया जाने लगा है अतः

अनेक प्राचीन ग्रंथों का संग्रह, संकलन तथा प्रकाशन आदि कार्य सरकारी एवं गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा हो रहा है। विश्वविद्यालयों में भी संस्कृत, फारसी, अरबी, पाली, प्राकृत की एम. ए. तथा पीएच.डी. डिग्रियों का प्रबन्ध है।

असमर्थों की शिक्षा—स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व भारत सरकार ने शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक असमर्थों की शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया था। कतिपय परोपकारी संस्थाओं ने ही कुछ प्रयत्न इस दिशा में किया था। उनके प्रयत्न से अंधों तथा बहरों की शिक्षा के लिये कुछ संस्थायें खोली गई थीं। बंगाल, बिहार, मद्रास या बम्बई आदि प्रान्तों में अंधों के स्कूलों में साधारण शिक्षा के अतिरिक्त उनको कला-कौशल की शिक्षा भी दी जाती थी। गृह-उद्योगों में बढ़ई का काम, सिलाई, बुनना तथा छपाई आदि की शिक्षा भी दी जाती थी। पन्द्रह वर्ष से कम उम्रवाले अपराधियों के लिये भी कुछ सुधार विद्यालय खुले जहाँ उनके सुधार और उनकी शिक्षा पर ध्यान दिया जाता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया गया है। केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा-मंत्रालय में एक विशेष विभाग इस कार्य के लिये खोल दिया है। असमर्थ दो प्रकार के हो सकते हैं—(१) मानसिक दृष्टि से, (२) शारीरिक दृष्टि से। अभी भारत में मानसिक असमर्थों के लिये अत्यन्त नगण्य प्रयत्न हुआ है। शारीरिक असमर्थों के लिये गैरसरकारी संस्थाओं तथा सरकार दोनों ने ही उदारतापूर्वक सुविधायें की हैं। अन्धों की शिक्षा के लिये अखिलभारतीय स्तर पर एक ब्रेल संहिता (Braille Code) बना दी गई है। गूंगों, बहरों, कोढ़ियों आदि असमर्थ प्राणियों को लाभदायक शिक्षा देकर उन्हें समाज का उपयोगी अंग बनाने का प्रयत्न भी स्वतन्त्र भारत में हो रहा है। अभी इस दिशा में बहुत अधिक काम करने की आवश्यकता है।

अध्याय १३

उत्तरप्रदेश में शिक्षा

अध्याय-संक्षेप :—

१. प्रस्तावना। २. शिक्षा की प्रगति (सामान्य)। ३. नर्सरी अथवा शिशु-शिक्षा। ४. प्राथमिक शिक्षा। ५. माध्यमिक शिक्षा (१)। ६. माध्यमिक शिक्षा (२)। ७. उच्चशिक्षा। ८. स्त्री-शिक्षा। ९. विशिष्ट वर्गों की शिक्षा। १०. प्रौढ़ एवं सामाजिक शिक्षा। ११. प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा। १२. शिक्षक-प्रशिक्षण।

प्रस्तावना—भारतीय शिक्षा का अंग होने के कारण, उत्तरप्रदेश की शिक्षा का वर्णन साधारण ढंग से पूर्व अध्यायों में आ चुका है। इस अध्याय में हम उत्तर-प्रदेश की शिक्षा की प्रगति कुछ अधिक विस्तार में पढ़ेंगे।

शिक्षा की प्रगति—सन् १८४० तक उत्तर-पश्चिमप्रदेश आगरा की सभी शिक्षा-संस्थाओं का प्रबन्ध बंगाल प्रान्त के अधीन था। किन्तु सन् १८४० में उत्तर-पश्चिमप्रदेश आगरा और अवध की नई प्रान्तीय सरकार को इस प्रान्त की शिक्षा का प्रबन्ध दे दिया गया। इस समय तक प्रान्त में आधुनिक शिक्षा का सूत्रपात हो चुका था और कुछ स्कूल तथा कालेज खुल गये थे। सन् १८४३ में जेम्स टाम्सन यहाँ इस प्रान्त के गवर्नर होकर आये। श्री टाम्सन शिक्षा में विशेष रुचि रखते थे अतः उन्होंने यहाँ की शिक्षा-पद्धति में प्रशंसनीय सुधार किये। उन्होंने प्रान्त के जिलों में शिक्षा की जाँच-पड़ताल करवाई और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रान्त में साक्षरता चार प्रतिशत से कम है। शिक्षा-छनाई के सिद्धान्त को छोड़कर श्री टाम्सन ने जन-शिक्षा के प्रचार के सिद्धान्त को अपनाया और प्राथमिक शिक्षा की एक विस्तृत योजना सन् १८४६ में भारत सरकार के सामने रखी।

श्री टाम्सन की योजना में कहा गया कि प्रत्येक २०० घरों के गाँव में एक प्राथमिक स्कूल हो और अध्यापकों को वेतन के स्थान पर जमीन दे दी जाये किन्तु भारत सरकार ने इस योजना को अस्वीकृत कर दिया। सन् १८४८ में श्री टाम्सन ने दूसरी योजना प्रस्तुत की। इसमें तत्कालीन देशी स्कूलों के सुधार पर बल दिया गया और तहसीलों में आदर्श तहसीली स्कूल खोलने की योजना रखी गई। भारत सरकार ने इस योजना को मंजूर कर लिया।

प्रान्त में सर्वप्रथम आठ जिलों—आगरा, अलीगढ़, मथुरा, मैनपुरी, इटावा, बरेली, फर्रुखाबाद तथा शाहजहाँपुर में तहसीली स्कूलों की योजना लागू की गई। प्रधान अध्यापकों का १० से २० रु० तक वेतन निश्चित कर दिया गया। इनमें मिडिल कक्षाओं तक हिन्दी, उर्दू, पढ़ना-लिखना, हिसाब, भूगोल, इतिहास पढ़ाया जाता था। इनके निरीक्षण के लिये विजिटर-जनरल, जिला विजिटर तथा परगना विजिटर रखे गये। देशी स्कूलों को भी इस योजना में शामिल कर लिया गया।

सन् १८५१ में मथुरा के कलक्टर श्री अलेक्जैंडर ने एक नवीन योजना प्रस्तुत की। यह योजना "हल्काबन्दी स्कूल" के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार कुछ गाँवों को मिलाकर एक-एक हल्का अथवा क्षेत्र बना लिया गया और उनके केन्द्र में एक स्कूल स्थापित कर दिया गया। इस बात का ध्यान रखा गया कि हल्के का कोई गाँव स्कूल से दो मील से अधिक दूर न हो। स्कूलों के खर्च के लिये मालगुजारी का १ प्रतिशत लिया गया। शीघ्र ही यह योजना सर्वप्रिय हो उठी और पड़ोसी जिलों में भी फैल गई। इस प्रकार इस प्रान्त में प्राथमिक शिक्षा का प्रचार आदर्श तहसीली स्कूल और हल्काबन्दी स्कूल योजनाओं के आधार पर बढ़ने लगा। उच्चशिक्षा के लिये आगरा (सन् १८२४) और बनारस में कालेज स्थापित हो चुके थे। सन् १८५२ में सेन्ट जौंस कालेज (आगरा में) दूसरा कालेज स्थापित हुआ। प्रान्त में कुछ नार्मल स्कूल भी खोले गये। रुड़की का इंजीनियरिंग कालेज भी (सन् १८४७) इसी समय खोला गया।

उड-घोषणा के समय तक प्रान्त में प्रायः चार हजार स्कूल खुल चुके थे। उड-घोषणा की सिफारिशों के अनुसार प्रान्तों में शिक्षा विभागों की स्थापना हुई और उत्तर-पश्चिमप्रान्त आगरा-अवध के शिक्षा विभाग ने उत्साहपूर्वक प्रान्त की शिक्षा की बागडोर अपने हाथों में ली। गैरसरकारी प्रयत्न भी उदारतापूर्वक शिक्षा-प्रसार में जुट गये। सन् १८५७ के विद्रोह के उपरान्त बृटिश संसद ने धार्मिक तटस्थता की नीति को दोहराया अतः secular शिक्षा के लिये सरकारी स्कूल अधिकाधिक खुलने लगे। यह प्रान्त प्राथमिक शिक्षा में अपनी हल्काबन्दी योजना के अनुसार बढ़ता रहा। सन् १८६६ में मालगुजारी पर एक प्रतिशत का शिक्षा-कर मालगुजारी का भाग बना दिया गया। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी तथा गैरसरकारी दोनों ही प्रकार की संस्थाओं में पर्याप्त वृद्धि हुई। उच्चशिक्षा के क्षेत्र में कैनिंग कालेज, लखनऊ (सन् १८६४) और मुस्लिम ऐंग्लो-ओरिएण्टल कालेज, अलीगढ़ (सन् १८७४) की स्थापना हुई।

प्रथम भारतीय शिक्षा कमीशन (सन् १८८२) के पश्चात् प्रान्त ने प्राथमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया। जिला और नगर बोर्डों ने प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व सँभाला और उसकी उन्नति और प्रसार का प्रयत्न करने लगे। किन्तु बोर्डों की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वांछित मात्रा में शिक्षाप्रसार न हो सका। माध्यमिक शिक्षा का विकास इस काल में अच्छा हुआ। सन् १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और परीक्षा के लिये माध्यमिक शिक्षालयों का सम्बन्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हो गया। माध्यमिक शिक्षा के लिये अध्यापकों को प्रशिक्षण देने के लिये इलाहाबाद में ट्रेनिंग (एल० टी०) कालेज खुल गया। सन् १८९२ तथा १८९८ में क्रमशः कानपुर तथा बनारस में क्राइस्ट चर्च कालेज तथा सैण्ट्रल हिन्दू कालेज भी खुले।

इस प्रकार १९वीं शताब्दी के अन्त तक उत्तरप्रदेश में प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्चशिक्षा की संतोषजनक उन्नति हो चली थी। लार्ड कर्जन की शिक्षा-योजनाओं और घोषणाओं के फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा का विस्तार शीघ्रता से होने लगा। उत्तरबपेश में भी इसका प्रभाव पड़ा और प्रतिक्रिया-स्वरूप प्राथमिक स्कूलों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १९०४ के सरकारी प्रस्तावों के अनुसार प्रान्तीय सरकार ने प्राथमिक शिक्षा पर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। उत्तर-प्रदेश सरकार ने सन् १९१३ में प्राथमिक शिक्षा में सुधार के सुझाव देने के लिये एक समिति नियुक्त की जो अपने अध्यक्ष के नाम पर 'पिगट-समिति' कहलाई। पिगट-समिति के प्रतिवेदन में कहा गया कि प्रान्त में साक्षरता के विकास के मार्ग में दो रुकावटें हैं—(१) अभिभावकों की उदासीनता, (२) बालकों को स्कूलों से शीघ्र ही हटा लेना।

समिति ने अपर प्राइमरी स्कूलों की संख्या-वृद्धि की योजना बनाई। समिति ने प्रस्ताव रखा कि २५ वर्गमील के अन्दर कम-से-कम एक अपर प्राइमरी स्कूल तथा कई लोअर प्राइमरी स्कूल खोले जायें। पाठ्यक्रम को सुधारने की भी सिफा-रिश समिति ने की और भाषा, गणित, भूगोल, हाईजीन, बागवानी, बहीखाता, गाँव का नक्शा आदि को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने का सुझाव रखा। लड़कियों की शिक्षा पर भी समिति ने बल दिया और उनके पाठ्यक्रम को सरल और उपयोगी बनाने का सुझाव रखा। समिति की अधिकांश सिफारिशें स्वीकृत कर प्रान्तीय शिक्षा विभाग ने सन् १९१६–१७ में उन्हें लागू कर दिया।

बोर्डों का मुख्य उत्तरदायित्व प्राथमिक शिक्षा को बना दिया गया। सन् १९१९ में उत्तरप्रदेश प्राथमिक शिक्षा कानून बनाया गया जिसके अनुसार नगर पालि-काएँ ६ से ११ वर्ष की आयु के बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध कर सकती

थीं। माध्यमिक शिक्षा के लिये प्रान्त में ग्रामीण क्षेत्रों में वर्नाक्युलर मिडिल स्कूल तथा नगरों में प्रायः एंग्लोवर्नाक्युलर मिडिल एवं हाईस्कूल खोले गये थे। माध्यमिक स्कूलों की संख्या में अच्छी वृद्धि हुई और प्रायः प्रत्येक जिले में एक-एक सरकारी हाईस्कूल खुल गया। हाईस्कूलों के लिये "स्कूल-लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा" का आरम्भ हुआ। उच्चशिक्षा के लिये कालेजों की संख्या बढ़ गई। इलाहाबाद के अतिरिक्त बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय (१९१६), लखनऊ विश्वविद्यालय (१९२०), तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय (१९२०) की स्थापना हुई।

सन् १९२१ में प्रान्तीय शिक्षा भारतीय मन्त्रियों के अधिकार में दे दी गई। शिक्षा के प्रत्येक स्तर में उत्साह के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। प्राथमिक शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई और नये स्कूल खुले। किन्तु धनाभाव तथा बोर्डों की निष्क्रियता के कारण वांछित मात्रा में शिक्षा-विकास न हो सका। नगरपालिकाओं ने अनिवार्य शिक्षा यत्रतत्र लागू की किन्तु जनता की उदासीनता के कारण पूर्णतः सफल न हो पाई। शिक्षा विभाग की सिफारिश पर सरकार ने सन् १९२६ में ग्रामीण क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा के लिये, जिला बोर्डों को प्रोत्साहित करने के लिये सन् १९१९ के समान कानून बना दिया। जिला बोर्डों में शिक्षा-समितियों की स्थापना हुई। बोर्डों को मिलनेवाला सहायता अनुदान भी सरकार ने बढ़ा दिया। शिक्षा विभाग ने साक्षरता आन्दोलन आरम्भ किया और (सन् १९२७ में) प्रौढ़ों के लिये रात्रि-पाठशालाओं का प्रबन्ध हुआ।

हर्टाग समिति (सन् १९२९) के प्रतिवेदन का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। इसका भारतीय शिक्षा पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उत्तरप्रदेश सरकार ने भी शिक्षा से व्यर्थता एवं गतिरोध को दूर करने का निश्चय किया। शिक्षा विभाग ने अक्षम तथा अनावश्यक स्कूलों को बन्द करने का विचार रखा। सन् १९३०—३१ के संसारव्यापी अर्थ-संकट का भी प्रभाव पड़ा। बोर्डों को शिक्षा-व्यय कम करने का आदेश दिया गया। अध्यापकों के वेतन में कमी की गई। प्रान्तीय शिक्षा विभाग ने शिक्षा के प्रसार, विद्यार्थियों की संख्या-वृद्धि एवं शिक्षा की कुशलता के साधनों की छानबीन के लिये श्री वियर (Weir) को नियुक्त किया। श्री वियर ने सन् १९३३ में अपनी रिपोर्ट दी। रिपोर्ट में मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं:—

(१) अनावश्यक एवं अपव्ययी स्कूल (superfluous and uneconomic schools) अर्थात् जिन स्कूलों के टूटने से उस क्षेत्र के शिक्षा-विकास पर प्रभाव न पड़े और जो स्कूल साक्षरता का उद्देश्य पूरा न कर सकें उन्हें बन्द कर दिया जाये।

(२) एक शिक्षक वाले स्कूल प्रभावहीन हैं अतः उन्हें तोड़ दिया जाये। प्रत्येक स्कूल में कम-से-कम दो अध्यापक और ५० विद्यार्थी हों।

(३) जो स्कूल अनिवार्य क्षेत्र में न हों उनमें विद्यार्थियों से फीस ली जाये।

(४) स्कूलों की इमारतें पक्की हों और उनके साथ छात्रावास हों। बोर्डों को इसके लिये अधिक सहायता दी जाये।

(५) अनिवार्य क्षेत्रों में अनिवार्यता का नियम कड़ाई से लागू हो।

(६) अध्यापकों के उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था हो और प्रत्येक सर्किल में सरकारी केन्द्रीय प्रशिक्षण विद्यालय हो।

(७) स्त्री-शिक्षा को वढ़ाया जाये और स्त्रियों को गृह-विज्ञान तथा गृहोपयोगी विषय पढ़ाये जायें।

सरकार ने इनमें से कुछ सिफारिशों को लागू कर दिया किन्तु शिक्षा-विकास के लिये कुछ नहीं किया गया और न सरकार ने कोई निश्चित नीति अपनाई। सन् १९३४ में प्रान्तीय सरकार ने अपने शिक्षाविषयक सुधारों को प्रस्ताव रूप में प्रकट किया। इसमें सुझाव रखा गया कि हाईस्कूल शिक्षा में एक वर्ष कम कर दिया जाये और इण्टरमीडिएट में एक वर्ष बढ़ा दिया जाये। उच्चतर माध्यमिक शिक्षा में व्यापारिक, कृषि, कला-विज्ञान और व्यावसायिक चार प्रकार के पाठ्यक्रम हों। केवल कला-विज्ञान का पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय के लिये बालकों को तैयार करे, बाकी विद्यार्थी कृषि, वाणिज्य एवं व्यवसायों के शिक्षालयों एवं क्षेत्रों में चले जायें। हस्तकला एवं हस्तकौशल के शिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाये। शिक्षा-संस्थाओं, शिक्षा-परिषदों और जनता ने इन प्रस्तावों का समर्थन किया।

सन् १९३५ में उत्तरप्रदेशीय सरकार ने बेकारी की समस्या की छानवीन के लिये श्री तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक समिति नियत की। समिति ने भी प्रस्तावों का समर्थन किया और माध्यमिक शिक्षा में विभिन्न पाठ्यक्रम रखने का सुझाव दिया। सन् १९३६ में प्रान्तीय सरकार ने सप्रू-समिति के सुझावों की जाँच का काम श्री वियर को दिया। श्री वियर ने शिक्षा के पुनस्संगठन, पाठ्यक्रम को बहुमुखी बनाने, तथा माध्यमिक एवं उच्चशिक्षा के लिये अलग-अलग बोर्डों की स्थापना का सुझाव दिया।

सन् १९३७ में प्रान्त में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। जनप्रिय मन्त्रियों ने सोत्साह शिक्षा के विकास पर ध्यान दिया। इसी समय बेसिक शिक्षा-योजना वनी और उत्तरप्रदेश ने प्राथमिक स्कूलों में बेसिक शिक्षा को लागू करने का निश्चय किया। इलाहाबाद में बेसिक शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के लिये

सन् १९३८ में बेसिक प्रशिक्षण महाविद्यालय की स्थापना हुई। अपने प्रान्त में शिक्षा विभाग ने अनेक बेसिक प्रशिक्षण केन्द्र खोले जिनमें प्राइमरी स्कूल के शिक्षकों तथा निरीक्षकों के लिये रिफ्रेशर कोर्सों की व्यवस्था की गई। प्रान्त की आवश्यकता और वातावरण के अनुकूल बेसिक शिक्षा में वांछनीय सुधार कर के उसे सफल बनाने की चेष्टा की जाने लगी। योजना की आत्म-निर्भरता को छोड़ दिया गया और हस्त-कौशल के विषय में भी कुछ परिवर्तन किया गया। इस प्रकार बेसिक शिक्षा का प्रचार प्रान्त के प्राथमिक स्कूलों में किया गया।

प्रान्त में शिक्षा के सुचारु विकास के लिये प्रान्त सरकार ने प्रारम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षा के लिये आचार्य नरेन्द्रदेव समिति (प्रथम) नियुक्त की। समिति ने सन् १९३९ में अपनी रिपोर्ट पेश की। रिपोर्ट में प्राथमिक शिक्षा के लिये बेसिक शिक्षा को स्वीकृत करने का सुझाव दिया गया, नगर एवं ग्रामीण सभी क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा को ७ से १४ वर्ष की आयु तक अनिवार्य बना देने की सिफारिश की गई, हिन्दुस्तानी को माध्यम माना गया और अंग्रेजी को बेसिक स्कूलों में न पढ़ाने पर जोर दिया गया। समिति ने बेसिक शिक्षा के मुख्य तत्त्वों को स्वीकृत करते हुए उसमें कुछ सुधार भी सुझाये। इसी प्रकार माध्यमिक शिक्षा की पुनर्व्यवस्था और सुधार की सिफारिशें की गई थीं।

जनता ने इन सिफारिशों का स्वागत किया। सरकार ने उन्हें कार्यान्वित करना आरम्भ कर दिया। किन्तु अचानक परिस्थितियों से विवश होकर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण शिक्षा की प्रगति रुक-सी गई।

सारजेण्ट रिपोर्ट (सन् १९४४) के प्रकाशित होने पर उत्तरप्रदेश ने भी उसके आधार पर अपनी शिक्षा-योजना बनाई। प्राथमिक शिक्षा के लिये बेसिक पद्धति स्वीकृत हुई। कुछ पूर्व-बेसिक शिक्षा के लिये भी प्रमुख नगरों में साधन-संग्रह की बात रखी गई। सन् १९४६ में पुनः कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनने पर प्रान्त में दशवर्षीय योजना द्वारा सार्वजनिक अनिवार्य शिक्षा का कार्यक्रम आरम्भ कर दिया गया। सन् १९४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रान्त का नाम उत्तर-प्रदेश रख दिया गया और तब से अनेक शिक्षा-योजनाओं द्वारा प्रान्त की शिक्षा-व्यवस्था में पर्याप्त प्रगति हुई है। इनका वर्णन हम विभिन्न शाखाओं में करेंगे।

(१) **नर्सरी अथवा शिशु-शिक्षा**—शिशु-शिक्षा का प्रसार एवं प्रचलन राज्य में अभी बहुत कम है। बेसिक शिक्षा में ६ वर्ष की आयु के बच्चों का प्रवेश होता है। ५ वर्ष की आयु में भी प्रवेश दिया जा सकता है। किन्तु ३–५ वर्ष की

आयु के बच्चों के लिये बहुत कम संस्थायें हैं और वे भी प्रायः नगरों में। प्रथम नरेन्द्रदेव समिति ने शिशुओं की शिक्षा के लिये आदर्श किंडरगार्टेन पाठशालाओं की स्थापना उचित केन्द्रों में करने का प्रस्ताव किया था। सारजेण्ट-योजना में भी ३ से ६ वर्ष की आयु के बच्चों के लिये पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की सिफारिश की गई थी। इस शिक्षा का उत्तरदायित्व सरकार ने अपने ऊपर नहीं रखा है। केवल गैरसरकारी प्रयत्नों को प्रोत्साहित किया गया है। राज्य के प्रमुख नगरों में गैरसरकारी प्रयत्नों से नर्सरी स्कूल, शिशुमन्दिर, बालमन्दिर, माण्टेसरी स्कूल, तथा किण्डरगार्टेन स्कूल आदि नामों से शिशुओं को सामाजिक अनुभव तथा साधारण ज्ञान देने के लिये कुछ संस्थायें खुल गई हैं। इनमें माण्टेसरी, नर्सरी तथा गतिविधि प्रणाली (activity method) अथवा मिलीजुली पद्धतियों द्वारा शिक्षा दी जाती है। इन स्कूलों के लिये प्रशिक्षित अध्यापिकाओं को सुलभ करने के उद्देश्य से उत्तरप्रदेश सरकार ने सन् १९५१ में इलाहाबाद में नर्सरी प्रशिक्षण महाविद्यालय खोल दिया है। इसमें दो वर्ष का सी० टी० प्रशिक्षण पाठ्यक्रम रखा गया है और नर्सरी शिक्षा की ट्रेनिंग दी जाती है।

इस प्रकार की शिक्षा की उपयोगिता क्रमशः बढ़ती जा रही है। इसका महत्त्व जनता अनुभव करने लगी है अतः ऐसी संस्थाओं की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। सरकार के लिये आर्थिक कठिनाइयों के कारण इसका प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व ग्रहण करना अभी संभव नहीं है। सन् १९४८ की प्रान्तीय शिक्षा-योजना के अनुसार यह स्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और जैसे ही परिस्थितियाँ अनुकूल होंगी इसे प्रान्त में सरकारी तौर पर लागू किया जा सकेगा।

(२) **प्राथमिक शिक्षा**—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त राज्य में प्राथमिक शिक्षा क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई है। जुलाई सन् १९४७ में प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के लिये बेसिक शिक्षा को मान लिया गया और सभी प्राथमिक स्कूलों में यह पाठ्यक्रम लागू कर दिया गया। राज्य सरकार ने शिक्षा की पंचवर्षीय योजना तैयार की और राज्य के प्रत्येक गाँव में एक प्राथमिक स्कूल खोलने की योजना बनाई गई। सन् १९४७ में प्रान्त में प्राथमिक शिक्षा-योग्य बालकों की संख्या का केवल २५·८ प्रतिशत शिक्षा पा रहा था। शेष के लिये शिक्षा-व्यवस्था करनी थी। प्रान्त सरकार ने बोर्डों की सहायता ७५% कर दी और विकास-योजना सरकारी तौर पर आरम्भ कर दी। सन् १९४७ की पंचवर्षीय प्रान्तीय शिक्षा-योजना के अनुसार प्रतिवर्ष ४,४०० प्राथमिक शिक्षालय खोलना तै हुआ। किन्तु आर्थिक संकट तथा उत्साह की कमी के कारण यह योजना सफल न हो सकी। सन् १९५४ तक प्रान्त में प्रायः सोलह हजार स्कूल खुले।

कुछ जिलों में अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध हो गया है। सन् १९५० में सरकारी प्राथमिक विद्यालय भी बोर्ड को सौंप दिये गये। इन स्कूलों की संख्या ११,५५० थी। अधिकांश नगरपालिकाओं में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई है। बेसिक पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों की व्यवस्था भी प्रान्त सरकार अपने विशेष विभाग द्वारा कर रही है। ग्राम पंचायतों की स्थापना से भी इस दिशा में विशेष प्रोत्साहन मिला है। ग्राम पंचायतें स्कूल की इमारतों का निर्माण श्रमदान, सरकारी सहायता तथा अपनी आय से कर रही हैं। शिक्षा के विकास, उन्नति और उसकी सुविधा के लिये ग्राम पंचायतें अपने सदस्य नियुक्त कर देती हैं और पंचायतें शिक्षाविषयक सुविधाओं के लिये विशेष सजग हो रही ह। जनता की रुचि भी साक्षरता की ओर अधिकाधिक बढ़ रही है।

केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकार को शिक्षा-पुनर्व्यवस्था के लिये उदारता-पूर्वक धन दिया है। बेसिक शिक्षा को लागू करने और पुराने प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित करने के कार्य में भी केन्द्र शिक्षा-मंत्रालय ने राज्य को पर्याप्त सहायता दी है। बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम प्राथमिक स्कूलों में पाँच वर्ष का कर दिया गया है। वास्तव में सन् १९४९ की प्रान्तीय शिक्षा-योजना में बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम ८ वर्ष का रखा गया था। इसके दो भाग कर दिये गये थे :—

(अ) प्राथमिक बेसिक शिक्षा, ५ वर्ष का पाठ्यक्रम कक्षा १ से ५ तक।

(आ) सीनियर बेसिक शिक्षा, ३ वर्ष का पाठ्यक्रम कक्षा ६ से ८ तक।

प्राथमिक बेसिक शिक्षा में हिन्दी अनिवार्य विषय कर दिया गया। राज्य की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में प्राथमिक शिक्षा को प्राथमिकता दी जा रही है। योजना-काल में ५,००० नए प्राथमिक स्कूल खुलेंगे। प्राथमिक स्कूलों की संख्या में १६ प्रतिशत वृद्धि हो जायेगी और योजना के अन्त तक राज्य में ३१,११९ के स्थान पर ३६,११९ प्राथमिक स्कूल हो जायेंगे। राज्य की ९५ नगरपालिकाओं में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू कर दी गई है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के अन्त तक राज्य की १२० नगरपालिकाओं में से ११० में अनि-वार्य शिक्षा-योजना लागू कर दी जायेगी। वर्तमान में ६ से ११ वर्ष की अवस्था के कुल संख्या के ३४·१ प्रतिशत बालकों के लिये व्यवस्था है किन्तु योजनांत तक यह सुविधा ६६ प्रतिशत बालकों के लिये हो जायेगी। लड़कियों की इस वर्ग-अवस्था के १२·५ प्रतिशत के लिये शिक्षा-सुविधा हो जायेगी। साथ ही जूनियर बेसिक विद्यालयों का सुधार भी किया जायेगा और ५०० नये सीनियर

बेसिक विद्यालय आरम्भ किये जायेंगे। जिला बोर्डों के सीनियर और जूनियर बेसिक विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन में भी वृद्धि की जायेगी।

माध्यमिक शिक्षा (१)

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में राज्य ने स्वतन्त्रता के बाद अच्छी प्रगति की है। इसके दो अंग हैं :—(१) जूनियर हाईस्कूल, (२) उच्चतर माध्यमिक (हायर सेकेण्डरी) विद्यालय।

(१) **जूनियर हाईस्कूल**—सन् १९४७ तक प्रान्त में मिडिल स्कूल दो प्रकार के थे—हिन्दुस्तानी (वर्नाक्युलर) मिडिल स्कूल और ऐंग्लो-हिन्दुस्तानी (वर्नाक्युलर) मिडिल स्कूल। हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूलों में अंग्रेजी नहीं पढ़ाई जाती थी और वे मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों में खोले गये थे। सन् १९४९ में उत्तरप्रदेश शिक्षा विभाग ने माध्यमिक शिक्षा का पुनस्संगठन किया। इस योजना के अन्तर्गत प्रान्त के सभी मिडिल स्कूल जूनियर हाईस्कूल के नाम से पुकारे जाने लगे, हिन्दुस्तानी और ऐंग्लो हिन्दुस्तानी का भेद मिटा दिया गया, इनका पाठ्यक्रम ३ वर्ष का रखा गया और इनमें ६ से ८ तक कक्षायें रखी गई। इनमें जूनियर बेसिक शिक्षा के उपरांत विद्यार्थी प्रवेश पा सकते हैं। इनके साथ या तो प्राथमिक कक्षायें (जूनियर बेसिक) रह सकती हैं अथवा उच्चतर माध्यमिक। दोनों ही साथ नहीं हो सकतीं। जूनियर हाईस्कूलों में अंग्रेजी वैकल्पिक विषय है। ३ वर्ष के पाठ्यक्रम के पश्चात् एक सार्वजनिक परीक्षा होती है जो जिला शिक्षा-निरीक्षक के देखरेख में होती है। परीक्षा वैकल्पिक है।

राज्य सरकार ने जूनियर हाईस्कूलों के लिये जुलाई सन् १९५४ से एक नई योजना चालू की है। इसे 'शिक्षा पुनर्व्यवस्था-योजना' (Reorientation of Education Scheme) कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन यहाँ पर आवश्यक है :—

शिक्षा पुनर्व्यवस्था-योजना एवं उसकी प्रगति

महात्मा गान्धी का कथन है, "शिक्षा वह है जो सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करे"। सन् १९५१ में प्रान्त के प्रधानमन्त्री श्री गोविन्दवल्लभ पंत ने शिक्षा पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा, "शिक्षा को सामर्थ्यवान बनाने के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा समाज के आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक ढाँचे से पूर्णतः सम्बन्धित हो।" उत्तरप्रदेश एक कृषि-प्रधान प्रान्त है अतः शिक्षा को कृषि से सम्बन्धित करना आवश्यक समझा गया। बेसिक शिक्षा को प्रान्त ने प्राथमिक स्तर पर अपना लिया था अतः उससे उच्चशिक्षा-पद्धति में कृषि, उद्योग तथा हस्तकलाओं का समन्वय लाना विशेष महत्त्वपूर्ण समझा गया।

योजना—शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना शिक्षा के सभी स्तरों से सम्बन्धित है। बेसिक स्कूलों में बालक किसी हस्तकला को केन्द्र मानकर शिक्षा ग्रहण करता है। पुनर्व्यवस्था-योजना में जूनियर हाईस्कूलों में बेसिक शिक्षा को आगे बढ़ाने का कार्यक्रम रखा गया। इसमें शिक्षा का केन्द्र कृषि माना गया है। इस योजना के अनुसार उत्तरप्रदेश के प्रत्येक जूनियर हाईस्कूल अथवा हायर सेकेण्डरी स्कल को एक ५ से १० एकड़ तक का फार्म बनाना होगा। यह भूमि गाँववालों से दान में ली जायेगी। जहाँ भूमि प्राप्त करना सम्भव न हो अथवा जहाँ किसी अन्य हस्तकौशल अथवा कुटीर-उद्योग का अधिक महत्त्व हो, वहाँ उस हस्तकला अथवा उद्योग को ही शिक्षा-केन्द्र मान लिया जायेगा।

स्कूल के फार्म को बालकों और शिक्षकों के श्रम से सहयोगिता के आधार पर बढ़ाया एवं निर्मित किया जायेगा। प्रति दिन बालक दो घंटे फार्म पर कार्य करेंगे। कृषि के अन्तर्गत पशुपालन, उद्यान-कला तथा वन-विज्ञान की भी शिक्षा दी जायेगी। पहाड़ी भाग में उद्यान-कला और मधुमक्खी-पालन मुख्य विषय होंगे। जूनियर विद्यालयों में शारीरिक श्रम, सामाजिक जीवन एवं स्वावलम्बन पर बल दिया जायेगा। इनको ग्राम-विकास का केन्द्र बना दिया जायेगा जिससे ये जूनियर विद्यालय गाँवों की उन्नति में सहायक बनें। आधुनिक कृषि-विधियों का शिक्षण एवं प्रदर्शन इनमें किया जायेगा जिससे वे ग्रामीण क्षेत्रों के आदर्श के रूप में कार्य कर सकें।

इस योजना का यथार्थ उद्देश्य समझने के लिये निम्नलिखित अंकों को हृदयंगम करना आवश्यक होगा:—

सन् १९५४ में :—

(१) उत्तरप्रदेश का क्षेत्रफल—१,१३,४९५ वर्गमील।
(२) ,, ,, की जनसंख्या ६,३२,५४,०००।
(३) ,, ,, के गाँव १,११,७२२ (अब कम कर दिये गये हैं)।
(४) ,, ,, की उपजाऊ भूमि ४,०६,०९,५५२ एकड़।
(५) ,, ,, की ऊसर भूमि ११,५५,६९९ एकड़।
(६) ,, ,, के प्राथमिक स्कूल ३१,९५१।
(७) ,, ,, के जूनियर हाईस्कूल ३,२४४।
(८) ,, ,, के हाईस्कूल (हायर सेकेण्डरी) १,२१५।

योजना का उद्देश्य प्रत्येक जूनियर हाईस्कूल को एक दायरे के अन्दर निकट-वर्ती गाँवों के लिये एक सामाजिक केन्द्र के रूप में परिवर्तित करना है। प्रत्येक

जूनियर हाईस्कूल के अधीन सामाजिक क्षेत्र का विस्तार इस प्रकार सोचा गया था कि एक जूनियर हाईस्कूल के प्रभाव-क्षेत्र में—

(१) क्षेत्रफल ३५ वर्गमील,
(२) जनसंख्या २०,०००,
(३) गाँव ३४,
(४) उपजाऊ भूमि १२,५१८ एकड़,
(५) ऊपर भूमि ३,५६२ एकड़, तथा
(६) प्राइमरी स्कूल १० हों।

इस प्रकार आदर्श रूप में एक जूनियर हाईस्कूल उपर्युक्त क्षेत्र में आर्थिक, सामाजिक एवं कृषिसम्बन्धी उन्नति का कार्य कर सकेगा। प्रत्येक स्कूल-फार्म सहयोगिता के आधार पर चलनेवाला सामाजिक जीवन का एक वर्कशॉप होगा। कृषि के अतिरिक्त स्कूल में पुस्तकालय, वाचनालय तथा मनोरंजन के साधन आदि भी रहेंगे। स्कूल का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होगा और वह समाज के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित कर सकेगा। स्कूल ग्रामीण विकास-सेवा का केन्द्र रहेगा। विद्यार्थी और शिक्षक पारस्परिक सहयोग से स्कूल को आकर्षक एवं स्वच्छ बनायेंगे और उसके चारों ओर उद्यान लगायेंगे। कृषि के आधुनिकतम औजारों की प्रदर्शनी और औजारों की मरम्मत के लिये कारखानों का भी प्रबन्ध स्कूल में रहेगा। कारखानों में लकड़ी तथा लोहा आदि के कार्य विद्यार्थी सीखेंगे। मनोरंजन के लोकगीत, लोकनृत्य, तथा अभिनय आदि विभिन्न साधनों द्वारा विद्यार्थियों तथा समाज का सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्थान करने का प्रयत्न किया जायेगा।

विद्यार्थियों में नेतृत्व के गुणों के प्रशिक्षण और विकास के लिये प्रत्येक गाँव में एक युवक-दल की स्थापना भी योजना में रखी गई। इस प्रकार बालक के सम्पूर्ण जीवन को शिक्षा के अन्तर्गत लाने का प्रयास किया गया है। युवक-दल का नेता विद्यार्थियों द्वारा चुना जायेगा। **प्रसार**-शिक्षक दल का सलाहकार होगा। गाँव के अन्य लोग भी सलाहकार की हैसियत से दल में सम्मिलित हो सकते हैं। दल के प्रत्येक सदस्य के लिये आवश्यक होगा कि वह सफाई, कताई, वृक्ष लगाना, पशु-पालन, तथा मधुमक्खी का पालन आदि जैसे कुछ वैयक्तिक उत्पादक कार्य करे। वर्ष में प्रत्येक युवक-दल के सड़क-निर्माण, गाँव की नाली बनाना, वृक्ष लगाना तथा ड्रामा खेलना आदि जैसे सामूहिक कार्य भी होंगे। दल की माहवारी बैठकें भी हुआ करेंगी। दो-तीन दल सम्मिलित होकर भी कुछ सामाजिक

हित के कार्य करेंगे। युवक-दलों को सामाजिक हित के कार्य करने के उद्देश्य से आग बुझाने, टिड्डियों को नष्ट करने, फसलों के कीड़ों को नष्ट करने तथा कृषि-प्रदर्शनी के प्रबन्ध करने आदि की भी विशेष शिक्षा दी जायेगी। खेलकूद और मनोरंजन के विशेष कार्यक्रम भी प्रत्येक दल में तथा कई दलों को मिलाकर हुआ करेंगे। विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य ग्रामीण बालक भी इनमें सम्मिलित हो सकेंगे। विद्यालय तथा अभिभावक परस्पर सहयोग द्वारा बालकों के सर्वांगीण विकास में योग देंगे। योजना को सफल बनाने के लिये ग्रामीण जनता का सहयोग और सहानुभूति वांछनीय होगी।

विद्यालय का प्रबन्ध करने के लिये एक विद्यालय-समिति होगी। इसका प्रधान गाँव-सभा का प्रधान होगा। मुखिया और ग्रामीणों के प्रतिनिधि इसके सदस्य होंगे और प्रसार-शिक्षक इसका मंत्री होगा। इसी प्रकार जिले में जिला-नियोजन समिति की एक विशेष समिति इसके देखभाल के लिये होगी। इस समिति के प्रधान जिलाधीश तथा उप-प्रधान जिला बोर्ड के प्रधान होंगे। जिले में विधान-सभा के सदस्य तथा शिक्षा, नियोजन एवं कृषि के जिला अफसर इसके सदस्य होंगे। जिला शिक्षा-निरीक्षक इसके मंत्री का कार्य करेंगे। इसी प्रकार इस योजना को सफल बनाने के लिये राज्य के केन्द्र में राज्य शिक्षा परिषद् होगी। प्रधानमन्त्री इसके अध्यक्ष होंगे और शिक्षामन्त्री इसके उप-प्रधान। विकास विभागों के मन्त्री भी इसके सदस्य होंगे।

इस योजना की सफलता या असफलता का अधिकांश उत्तरदायित्व प्रसार-शिक्षक पर निर्भर है। वह सम्पूर्ण योजना की धुरी है। उसमें कृषि-ज्ञान के साथ-साथ संगठन एवं नेतृत्व शक्तियाँ होनी चाहिये। उसमें सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन को आदर्शों के अनुकूल संचालित करने की भी शक्ति होनी चाहिये। योजना को लागू करने के लिये सन् १९५४ में २,८०० प्रसार-शिक्षकों का चुनाव हुआ था। इसमें से २,४०० की नियुक्ति हुई। नियुक्ति से पूर्व इन शिक्षकों को रिफ्रेशर कोर्स देकर कृषि की व्यावहारिक शिक्षा दी गई। जिले में प्रति १० प्रसार-शिक्षकों के ऊपर एक प्रसार-निर्देशक रहता है, जिले के हेडक्वार्टर पर ८ प्रसार-निर्देशक रखे गये हैं। इनका कार्य कृषि-सम्बन्धी ज्ञान को विभिन्न विकास विभागों से एकत्रित करके प्रसार-शिक्षकों के पास तक पहुँचाना है। सन् १९५५–५६ में लगभग ४०० शिक्षक फिर भर्ती किये गये हैं।

राज्य में प्रायः ३,००० जूनियर तथा हायर सेकेण्डरी स्कूलों में यह योजना लागू कर दी गई। इनमें प्रायः ढाई हजार स्कूलों को ५ से १० एकड़ तक भूमि प्राप्त हो चुकी है। औजारों के लियें गाँववालों के चंदे से भी २५ लाख रुपये के लगभग सहायता मिल चुकी है। शिक्षा विभाग ने कुछ आवश्यक कृषि औजार तथा प्रारम्भिक सहायता दे दी है। कुछ स्कूलों को बैल भी सन् १९५५-५६ में दे दिये गये है। अनुमान है कि उचित प्रबन्ध एवं उत्साह के साथ योजना स्वावलम्बी और लाभदायक हो जायेगी। केन्द्रीय सरकार भी योजना के पक्ष में है और योजना के व्यय का अधिकांश भाग केन्द्रीय सरकार वहन कर रही है।

जहाँ कृषि का प्रबन्ध नहीं हो सका है वहाँ किसी स्थानीय हस्तकला में प्रशिक्षण दिया जाता है।

योजना के उद्देश्य—इस प्रकार इस योजना के मुख्य उद्देश्य ये हैं :—

(१) बालकों को कृषि अथवा हस्तकला प्रधान शिक्षा देकर उनमें समन्वित (well-integrated) व्यक्तित्व का विकास करना।

(२) एक जनतन्त्रीय समाज की सफल नागरिकता की ट्रेनिंग देना।

(३) शिक्षा को प्रत्येक स्तर पर उत्पादक बनाना।

(४) बालक को समाज की एक उत्पादक इकाई बनाने की तैयारी करना।

(५) श्रम के महत्त्व का अनुभव कराना।

(६) स्कूल को सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का केन्द्र बनाना तथा उसे उन्नति-पथ का अग्रदूत बनाना।

(७) युवक-दलों द्वारा स्वावलम्बन एवं नेतृत्व का प्रशिक्षण कराना।

योजना का व्यय—योजना का स्थायी व्यय ४१,३२,००० रु० वार्षिक और अस्थायी व्यय ३१,००,००० रु० वार्षिक आँका गया था। इसमें १,००० कृषि-स्नातक एवं २,००० इण्टर की योग्यताप्राप्त अन्य शिक्षक तथा २०० क्राफ्ट-मास्टर रखने का प्रबन्ध किया गया था। प्रधानमन्त्री के नाम से एक शिक्षा-कोष भी स्थापित किया गया था जिसमें लोगों से चन्दा लिया गया था।

इस प्रकार योजना का लक्ष्य बहुत ऊँचा रखा गया था। योजना को सफल बनाने के लिये सरकार यथासम्भव प्रयत्न कर रही है। प्रायः सभी जूनियर हाई-स्कूलों को जमीन मिल गई है और बालकों एवं शिक्षकों के प्रयत्न से बहुत-सी बेकार भूमि उपजाऊ बनाई जा रही है। जूनियर हाईस्कूल के बाद जो विद्यार्थी कृषि में लग जा रहे हैं वे कृषि के उन्नत तरीकों को अपना रहे हैं। जनता और स्कूलों का सम्पर्क अधिक घनिष्ट बनता जा रहा है।

आलोचना—किन्तु योजना की आलोचना भी बहुत हुई है। योजना के विरुद्ध मुख्य दोष निम्नलिखित बताये गये हैं:—

(१) योजना के कारण ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों की शिक्षा में अन्तर पड़ जायेगा। ग्रामीण क्षेत्रों के बालक कृषि पर अधिक समय और ध्यान देने के कारण शहरी बालकों की अपेक्षा सामान्य शिक्षा में पीछे रह जायेंगे। कुछ उग्रवादी यहाँ तक कहते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों को शिक्षा में पीछे रखने के लिये ही सरकार ने इस प्रकार की योजना चलाई है।

(२) उच्चशिक्षा का मानदण्ड गिर जायेगा। स्वाभाविक है कि बालक जब कृषि और हस्तकला पर अधिक समय देंगे तो अन्य विषयों में उनकी क्षमता कम होगी और आगे चलकर उच्चशिक्षा का स्तर नीचा हो जायेगा।

(३) अभिभावक भी योजना के उद्देश्यों को ठीक तरह से न समझ पाने के कारण कहते हैं कि कृषिशिक्षा तो बालक घर पर ही प्राप्त कर सकता है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि हमारी कृषि-प्रणाली आधुनिक नहीं है।

(४) योजना पूर्व-नियोजित नहीं है। आरम्भ होने के बाद अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुई। प्रसार-शिक्षकों में से बहुत कम कृषि-स्नातक हैं। शेष को तीन महीने की ट्रेनिंग से कोई विशेष अनुभव नहीं हुआ। हल, बैल, बीज तथा औजार आदि की भी कठिनाई पड़ी। स्कूलों को मिलनेवाली अधिकांश भूमि उपजाऊ नहीं है। उनको उपजाऊ बनाने के लिये धन और साधन अपेक्षित हैं। अनेक भागों में सिंचाई का भी समुचित प्रबन्ध नहीं है।

(५) लड़कियों की शिक्षा पर इस योजना का बुरा प्रभाव पड़ सकता है। उनके लिये योजना में कोई स्थान नहीं है।

इन दोषों के निराकरण से यह योजना सफल हो सकेगी तथा इससे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होने की सम्भावना है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (उत्तरप्रदेश) में सीनियर बेसिक विद्यालयों के खोलने पर बल दिया जा रहा है और ५०० नये सीनियर बेसिक विद्यालय राज्य में खोले जायेंगे।

माध्यमिक शिक्षा (२) (उच्चतर माध्यमिक)

माध्यमिक शिक्षा का दूसरा भाग उच्चतर माध्यमिक है। अंग्रेजी शासन में माध्यमिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य प्रशासन के लिये क्लर्क एवं साधारण कर्म-

चारी तैयार करना था। जैसा कहा जा चुका है राज्य में सरकारी तथा सहायता-प्राप्त दोनों ही प्रकार के उच्चतर माध्यमिक शिक्षालय स्थापित हैं। जुलाई सन् १९४८ में प्रान्तीय सरकार ने उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के लिये अपनी शिक्षा-योजना लागू की। इस योजना में प्रथम नरेन्द्रदेव-समिति (सन् १९३९) के कुछ सुझावों को कार्यान्वित किया गया और देश की बदली हुई राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार इसमें सुधार भी किये गये। योजना का संक्षिप्त रूप निम्नलिखित है :—

(१) उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की अवधि चार वर्षों की होगी। इसमें ९, १०, ११ और १२वीं कक्षायें रहेंगी। शिक्षालयों को उच्चतर माध्यमिक शिक्षालय कहा जायेगा। इसके प्रधानाध्यापकों को प्रिंसिपल कहा जायेगा।

(२) जूनियर हाईस्कूलों में जो विद्यार्थी अंग्रेजी नहीं पढ़े हैं उनको अंग्रेजी पढ़ाने की व्यवस्था उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में की जायेगी।

(३) उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में विभिन्न पाठ्यक्रम रहेंगे। उनको (अ) साहित्यिक, (आ) वैज्ञानिक, (इ) रचनात्मक, तथा (ई) कलात्मक वर्गों में विभक्त किया जायेगा।

(४) अधिकतर माध्यमिक विद्यालयों में बहुमुखी (multilateral) पाठ्यक्रम रहेगा किन्तु एकमुखी तथा द्विमुखी माध्यमिक विद्यालय भी रहेंगे।

(५) वर्त्तमान हाईस्कूल तथा इण्टर कालेजों को उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया जायेगा। उनमें से ३, ४ और ५वीं कक्षायें हटा दी जायेंगी किन्तु वे जूनियर हाईस्कूल की कक्षाओं को रख सकेंगे।

(६) परिवर्तन-काल में एक सार्वजनिक परीक्षा जूनियर हाईस्कूल के बाद, एक १०वीं कक्षा के बाद और एक १२वीं कक्षा के उपरान्त होगी।

(७) साहित्यिक एवं वैज्ञानिक वर्गों के लिये अंग्रेजी अनिवार्य विषय होगा। अन्य वर्गों में वैकल्पिक विषयों को बढ़ा दिया जायेगा। रचनात्मक वर्ग में प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की जायेगी। माध्यमिक शिक्षा के साथ अनिवार्य सैनिक शिक्षा की भी व्यवस्था रखी जायेगी।

योजना के अनुसार जुलाई सन् १९४८ में कार्य आरम्भ हो गया। सभी हाई-स्कूल एवं कुछ मिडिल स्कूल उच्चतर माध्यमिक विद्यालय बना दिये गये। नये हाईस्कूल और कालेज खुले। माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक और कलात्मक वर्गों के अनुसार कर दिये गये। माध्यमिक

शिक्षा का व्यापक प्रसार हो चला। देहातों में भी उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में बड़ी वृद्धि हुई है। सन् १९५४ तक प्रान्त में १,१८२ हाईस्कूल और ६१८ इण्टर कालेज हो चुके थे। विद्यार्थियों की संख्या में भी बड़ी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई।

किन्तु सन् १९४८ की योजना न तो सरकार ने पूर्णरूपेण लागू की और न उस पर आवश्यक ध्यान ही दिया गया। इसकी बड़ी आलोचना हुई अतः सरकार ने सख्ती से योजना पर अमल नहीं किया। अधिकांश बालकों ने साहित्य-वर्ग को ही अपनाया। वैज्ञानिक वर्ग भी सफल रहा। किन्तु रचनात्मक और कलात्मक वर्गों को न तो सर्वप्रिय बनाया जा सका और न उनको पढ़ाने की समुचित व्यवस्था ही की गई। अध्यापकों की कठिनाई का भी हल न हो पाया। विषयों को अनिवार्य, प्रमुख और सहायक के जाल में इस प्रकार उलझा दिया गया कि साधारण बालकों, अभिभावकों और शिक्षकों के लिये एक समस्या खड़ी हो गई। आर्थिक कठिनाइयों के कारण विषयों को अलग-अलग पढ़ाना सम्भव न हो सका। माध्यमिक शिक्षा का विकास स्वतन्त्रता के पश्चात् इतनी शीघ्र गति से हुआ कि सरकारी योजना पीछे पड़ गई और शिक्षा पर उचित नियन्त्रण न हो सका।

अतः उत्तरप्रदेश सरकार ने माध्यमिक शिक्षा की प्रगति और सन् १९४८ की शिक्षा-योजना की सफलता की जाँच-पड़ताल के लिये मार्च सन् १९५२ में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में पुनः एक "माध्यमिक शिक्षा पुनस्संगठन समिति" की नियुक्ति की। समिति ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक राज्य में माध्यमिक शिक्षा की दशा का पर्यवलोकन किया और सन् १९५३ मई में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया। राज्य की माध्यमिक शिक्षा पर यह नवीनतम रिपोर्ट है।

समिति के प्रस्ताव—समिति ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित प्रस्ताव किये हैं :—

(१) उच्चतर माध्यमिक शिक्षा योजना (सन् १९४८) का प्रान्त की जनता ने स्वागत नहीं किया है। योजना को कार्यान्वित करने में वास्तविक कठिनाइयाँ हैं। इसकी मुख्य त्रुटियाँ इस प्रकार हैं :—

(अ) लागू करने से पूर्व योजना का पर्याप्त परीक्षण नहीं किया गया।

(आ) योजना को केवल आंशिक सफलता मिली है।

(इ) इसके कारण कार्य-प्रणाली में अव्यवस्था तथा विद्यार्थियों के मस्तिष्क में प्रश्न-पत्रों का चुनाव करने में उलझन आ गई है।

(ई) विषयों के अनिवार्य, मुख्य, गौण उप-विभाजन से शिक्षण में कठिनाइयाँ बढ़ गई हैं।

(उ) सामान्य विज्ञान जैसे विषय के अनिवार्य बना दिये जाने से किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ है।

(ऊ) हिन्दी को प्रारम्भिक हिन्दी के नाम से अनिवार्य विषय बना दिया गया है किन्तु उसके अंक परीक्षा-फल में नहीं जोड़े जाते अतः हिन्दी को वांछनीय समर्थन नहीं मिला है।

(ए) विद्यार्थियों को विषयों के चुनाव में मार्ग-दर्शन की सुविधा का संकेत योजना में है किन्तु इसको पूरा करने का कोई ठोस साधन नहीं बतलाया गया है जिससे इस प्रकार का मार्ग-दर्शन प्रान्त में किया जाये।

(२) संस्कृत को हिन्दी के साथ अनिवार्य कर दिया जाये। दोनों में उत्तीर्ण होना अनिवार्य रहे। हिन्दी के अतिरिक्त एक अन्य आधुनिक भारतीय भाषा अथवा एक आधुनिक विदेशी भाषा अनिवार्य कर दी जाये। सामान्य ज्ञान को पाठ्यक्रम से हटा दिया जाये। गणित को कक्षा ९, १० में अनिवार्य रखा जाये और कक्षा ११, १२ में वैकल्पिक कर दिया जाये। लड़कियों के लिये कक्षा ९, १० में भी गणित वैकल्पिक हो। गृह-विज्ञान लड़कियों के लिये अनिवार्य कर दिया जाये। प्रथम दो वर्षों में छः विषय और अंतिम दो वर्षों में पाँच विषय पढ़ाये जायें। इनके अतिरिक्त वैकल्पिक विषयों को पढ़ने की भी सुविधा प्रदान की जाये। मुख्य तथा गौण का उप-विभाजन समाप्त कर दिया जाये। संस्थाओं को विभिन्न वर्गों के शिक्षण की स्वीकृति देते समय उनकी आवश्यकता तथा उनके साधनों पर विचार कर लिया जाये। माध्यमिक शिक्षा में सुधार करने के लिये प्राथमिक, बेसिक तथा जूनियर हाईस्कूलों के पाठ्यक्रम में सुधार कर लिया जाये जिससे एकरूपता एवं समन्वय स्थापित हो सके।

(३) टेक्नीकल स्कूलों में विशेष टेक्नीकल शिक्षा के साथ-साथ सामान्य शिक्षा भी दी जाये। टेक्नीकल स्कूलों को भी राज्य के शिक्षा विभाग के अन्तर्गत रखना चाहिये। उद्योगों और शिक्षा विभाग में समन्वय (co-ordination) लाने के लिये एक बोर्ड स्थापित कर दिया जाये। टेक्नीकल संस्थाओं को खोलते समय स्थान की भौगोलिक उपयुक्तता तथा आवश्यक बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। टेक्नीकल स्कूलों को अधिक संख्या में खोलना आवश्यक है। इनमें कुछ को बहूद्योगिक (polytechnic) कर दिया जाये। प्रत्येक जिले में कम-से-कम एक बहूद्योगिक (पॉलीटेक्नीक) स्कूल हो। जूनियर हाईस्कूलों के बाद

व्यावसायिक शिक्षा के लिये अलग स्कूल हों। टेक्नीकल (प्राविधिक) शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिये। रचनात्मक विषयों पर अधिक बल दिया जाये। टेक्नीकल शिक्षा के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये प्रशिक्षणमहाविद्यालयों का पुनस्संगठन किया जाये।

(४) मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं के माप (tests) तैयार किये जायें। उनके द्वारा मनोवैज्ञानिक जाँच के बाद विद्यार्थियों को विषय चुनने के विषय में मार्गदर्शन किया जाये। जिलों में मनोवैज्ञानिक केन्द्र खोले जायें। मनोवैज्ञानिक जाँच के लिये माध्यमिक स्कूलों के शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाये। प्रत्येक स्कूल में ऐसा एक शिक्षक अवश्य हो। उसे रिफ्रेशर कोर्स बराबर दिये जाते रहें। राज्य में एक मनोवैज्ञानिक शिक्षा-अनुसंधान परिषद् की स्थापना की जाये। मनोविज्ञान शिक्षा-केन्द्र, इलाहाबाद में एक वर्ष का प्रशिक्षण कोर्स करने के बाद योग्य व्यक्तियों को प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिक का प्रमाण-पत्र दिया जाये। प्रशिक्षण महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सुधार कर उनमें मनोवैज्ञानिक जाँच और मार्गदर्शन के ऊपर विशेष बल दिया जाये। विद्यार्थियों का सम्पूर्ण लेखा (cumulative records) रखा जाये और उनकी रुचि का अध्ययन किया जाये।

(५) इण्टर की १२ वीं कक्षा को डिग्री कोर्स के साथ मिलाकर तीन वर्ष डिग्री कोर्स कर दिया जाये। उच्चतर माध्यमिक में ९, १०, ११ की कक्षाओं का केवल तीन वर्ष का कोर्स रखा जाये और इनके अन्त में उच्चतर माध्यमिक परीक्षा हो। बीच की अवधि के लिये परीक्षा के नियमों को परिवर्तित कर दिया जाये। १६ वर्ष से कम अवस्था में उच्चतर माध्यमिक परीक्षा की आज्ञा न दी जाये। उपस्थिति ७५ प्रतिशत से कम न हो। कक्षा ८ के बाद हाईस्कूल छात्रवृत्ति परीक्षा हो और योग्य बालकों को दो वर्ष के लिये छात्रवृत्ति दी जाये। एक कक्षा से दूसरी कक्षा में तरक्की देते समय तीन तिमाही परीक्षाओं के अंक शामिल कर लिये जायें।

(६) इलाहाबाद का सरकारी मनोविज्ञान शिक्षा-केन्द्र एक उपयोगी संस्था है। इसे अधिक व्यय देकर सुधारा जाये और इसे कायम रखा जाये। प्रादेशिक मनोवैज्ञानिक शिक्षा-केन्द्रों में तीन के स्थान पर पाँच व्यक्ति नियुक्त किये जायें।

(७) प्रत्येक संस्था में पढ़ाई के २०० दिन अथवा ४०० बैठकें हों। २३५ से अधिक कार्य-दिवस न हों। स्कूल ८ जुलाई से खुला करें। छुट्टियों की संख्या (३१ दिन) निश्चित कर दी जाये और ग्रीष्म अथवा शीत (पहाड़ी प्रान्त) की छुट्टियाँ ६ या ७ सप्ताह की हों। प्रधानाध्यापक स्थानीय आवश्यकता के अनुसार कुछ छुट्टियाँ दे सके। नैतिक तथा मानवीय गुणों की शिक्षा हमारी शिक्षा का

आवश्यक अंग होना चाहिये। स्कूल का काम १० मिनट की प्रार्थना के पश्चात् आरम्भ किया जाये। विभिन्न धर्मों के मूल सिद्धान्तों को बालकों को पढ़ाया जाये और महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र पर उनको भाषण दिये जायें। विद्यार्थी और शिक्षक के पारस्परिक सम्बन्ध को घनिष्ठ बनाने का प्रयत्न किया जाये। २० या ३० बालकों पर एक शिक्षक-संरक्षक (Tutor-Guardian) हो। अच्छा अनुशासन रखनेवाले शिक्षालयों को पुरस्कृत किया जाये। प्रधानाध्यापक के अधिकार और बढ़ा दिये जायें तथा शिक्षकों और अभिभावकों का सम्पर्क घनिष्ठ हो। शारीरिक श्रम पर बल दिया जाये अतः सामाजिक कार्य प्रत्येक बालक के लिये अनिवार्य हो। छोटे बालकों को सिनेमा से दूर रखा जाये। स्कूल-योग्य चित्र अलग से दिखलाये जायें। स्कूल में एक रेडियो भी रखा जाये। इस प्रकार अनुशासन को सुधारा जाये।

(८) सहायताप्राप्त स्कूलों के प्रबन्ध को सुधारा जाये। अच्छी प्रबन्ध-समितियों में हस्तक्षेप न किया जाये, किन्तु अयोग्य प्रबन्ध-समितियों को समाप्त कर सरकारी प्रशासक नियुक्त कर दिया जाये। प्रधानाध्यापक और शिक्षकों के एक प्रतिनिधि को प्रबन्ध-समिति में रखा जाये। प्रबन्ध-समिति में अधिक-से-अधिक १२ सदस्य हों। ३ वर्ष में सदस्यों का पुनः चुनाव हो। शिक्षक-प्रतिनिधि वरिष्ठता और अनुभव के क्रम से प्रत्येक वर्ष बदल दिया जाये। अध्यापकों की नियुक्ति के लिये प्रधानाध्यापक के साथ पाँच व्यक्तियों की उपसमिति हो। नियुक्ति की स्वीकृति जिला निरीक्षक से लेनी चाहिये। शिक्षक से सहमति-पत्र (Agreement form) भराया जाये। प्रबन्ध-समितियाँ पूर्णतः धर्म और जाति के आधार पर न हों। स्कूलों में प्रबन्ध-सम्बन्धित झगड़ों के लिये पंचायतें बना दी जायें। पंचायत का फैसला अन्तिम माना जाये और उसको सख्ती से मनवाया जाये। सहायता के नियमों में संशोधन किया जाये और उनको अधिक उपयोगी बनाया जाये। शिक्षा-कोड में भी समयानुकूल परिवर्तन कर दिये जायें।

शिक्षकों के स्थानान्तरण के लिये स्थानान्तरण-बोर्ड बनाये जायें। शिक्षकों की अन्य दशाओं में भी सुधार किया जाये।

(९) पाठ्य-पुस्तकों को स्वीकार करने की विधि समाप्त कर दी जाये। कक्षा ९ से १२ तक किसी विषय में पाठ्य-पुस्तक स्वीकृत न की जाये। केवल पाठ्यक्रम निर्धारित कर दिया जाये और प्रधानाध्यापक को अधिकार दे दिया जाये कि वह विषयाध्यापक के परामर्श से अपने स्कूल के लिये पाठ्य-पुस्तकें चुन ले। सहायता और निर्देशन के लिये शिक्षा-विभाग कुछ पुस्तकों की सूची प्रकाशित

कर दिया करे। पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण तथा प्रकाशन विशेष समितियों और संस्थाओं द्वारा होना चाहिये। एक बार की चुनी हुई पुस्तक कम-से-कम तीन वर्ष तक चलती रहनी चाहिये। सरकार पुस्तकें स्वयं प्रकाशित न करे किन्तु उच्च कोटि की पुस्तकें उपलब्ध हो सकें इसका उत्तरदायित्व वह ले ले।

इस प्रकार समिति ने एक विस्तृत और उपयोगी प्रतिवेदन दिया है। किन्तु रिपोर्ट में पाठ्यक्रम पर कोई ठोस सुझाव न देकर सन् १९४८ के सरकारी पाठ्यक्रम के वर्गों को ही मान लिया है। शिक्षकों के वेतन के विषय में भी कोई निश्चित सुझाव नहीं दिया गया है। राज्य में गैरसरकारी प्रबन्ध-समितियों में विभिन्न बुराइयाँ चल रही हैं। जब तक सरकार कठोर कदम न उठायेगी शिक्षा में सुधार होना कठिन है।

राज्य सरकार समिति के अनेक प्रस्तावों को कार्यान्वित कर रही है परन्तु इस दिशा में प्रगति सन्तोषजनक नहीं है।

उच्चशिक्षा

उत्तरप्रदेश की उच्चशिक्षा का बहुत-कुछ वर्णन पहले ही आ चुका है। अब तक राज्य में छः विश्वविद्यालय खुल चुके हैं। निकट भविष्य में दो और खुलनेवाले हैं। इलाहाबाद, बनारस, अलीगढ़, लखनऊ, आगरा एवं रुड़की के विषय में हम पहले ही लिख आये हैं। गोरखपुर में ग्रामीण विश्वविद्यालय और बनारस में संस्कृत विश्वविद्यालय ये द्वितीय पंचवर्षीय योजना में स्वीकृत हो चुके हैं। आगरा के अतिरिक्त अन्य सभी विश्वविद्यालय शिक्षक-विश्वविद्यालय हैं। आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित अनेक कृषि, वाणिज्य, कला तथा विज्ञान आदि कालेज हैं। मेडीकल शिक्षण के लिये लखनऊ विश्वविद्यालय का मेडीकल कालेज तथा आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित आगरा और कानपुर मेडीकल कालेज हैं। पशु-चिकित्सा-विज्ञान कालेज, मथुरा भी आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित है। वन-विज्ञान-शिक्षा-केन्द्र देहरादून में तथा हरकोर्ट बटलर टैक्नोलॉजिकल इन्स्टीट्यूट कानपुर में हैं। बनारस विश्वविद्यालय में भी इंजीनियरिंग की शिक्षा दी जाती है। नैनीताल और कानपुर के सरकारी डिग्री कालेज भी आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित हैं। इन विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय परम्परा से शिक्षा देनेवाले तथा परीक्षा लेनेवाले कई उच्चशिक्षा-केन्द्र उत्तरप्रदेश में स्थित हैं; जैसे काशी विद्यापीठ, गुरुकुल काँगड़ी तथा वृन्दावन, संस्कृत कालेज बनारस, साहित्य सम्मेलन प्रयाग, महिला विद्यापीठ प्रयाग, संगीत विद्यापीठ लखनऊ तथा दारुलउलूम आजमगढ़ आदि।

प्रशासकीय दृष्टिकोण से बनारस और अलीगढ़ के विश्वविद्यालय केन्द्रीय सरकार के अधीन ह। इनका व्यय केन्द्र सरकार वहन करती है। रुड़की इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय का प्रबन्ध उत्तरप्रदेश सरकार प्रत्यक्ष रूप से अपने अधीन रख कर करती है। अन्य तीन सरकारी सहायताप्राप्त स्वायत्त-सत्ता-सम्पन्न विश्वविद्यालय हैं।

विश्वविद्यालयों में व्याप्त बुराइयों को हटाने के लिये उत्तरप्रदेश सरकार ने हाल ही में कुछ कदम उठाये हैं। जनता और सरकार दोनों ही विश्वविद्यालयों के आदर्शों को ऊँचा रखना चाहते हैं। अभाग्यवश विश्वविद्यालयों में दलबन्दी, पक्षपात, और भ्रष्टाचार के उदाहरण मिलते रहते हैं। सरकार इनको निर्मूल करना चाहती है।

इलाहाबाद प्रदेश का प्रथम विश्वविद्यालय होते हुये भी कुछ दिनों से बुराइयों का गढ़ बन रहा था और उसकी आर्थिक दशा दयनीय हो चली थी अतः उत्तरप्रदेश सरकार ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की जाँच-पड़ताल तथा इसकी दशा में सुधार करने के लिये दिसम्बर सन् १९५१ में हाईकोर्ट के जस्टिस मूथम की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति कर दी। समिति ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की विस्तृत जाँच करके फरवरी १९५३ में अपनी विस्तृत रिपोर्ट तथा सिफारिशें पेश कर दीं। रिपोर्ट बहुत उपयोगी है। इसमें विश्वविद्यालय के शिक्षण, प्रबन्ध तथा व्यय आदि सभी पक्षों का सूक्ष्म अध्ययन और विश्लेषण किया गया है। इसकी सुधार-सम्बन्धी सिफारिशें अति उपयोगी हैं।

मूथम रिपोर्ट के आधार पर उत्तरप्रदेश सरकार ने विश्वविद्यालय के विधान में उपयोगी संशोधन कर दिये हैं। इलाहाबाद के अन्य डिग्री कालेज भी एसोशिएट कालेजों के नाम से इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दिये गये हैं। अतिरिक्त धन देकर सरकार ने इसकी आर्थिक दशा को सुधार ने का प्रयत्न किया है। उपकुलपति की नियुक्ति तथा कार्यकारिणी और सिनेट के अधिकारों का भी स्पष्टीकरण किया गया है। शिक्षण तथा अनुसंधान कार्य को ऊँचा उठाने की भी व्यवस्था की गई है।

सन् १९५३ में आगरा विश्वविद्यालय संशोधन विधेयक भी उत्तरप्रदेश विधान सभा द्वारा स्वीकृत हो गया। इसके द्वारा आगरा विश्वविद्यालय में फैली हुई तथाकथित बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। उपकुलपति की नियुक्ति, कार्यकारिणी तथा सिनेट के चुनाव, परीक्षायें तथा परीक्षकों की नियुक्ति, नौकरी पेशा लोगों के लिये तीन वर्ष का डिग्री पाठ्यक्रम तथा विश्वविद्यालय द्वारा प्रत्यक्ष शिक्षण आदि के नियम बना दिये गये हैं। इनके अनुसार कार्य आरम्भ हो गया है।

इसी प्रकार लखनऊ विश्वविद्यालय की दशा को उन्नत बनाने का कार्य सरकार कर रही है।

कृषि और कृषि कालेजों की उन्नति का भी पर्याप्त प्रयत्न किया जा रहा है। प्रदेश सरकार शिक्षा पर अधिकाधिक धन व्यय कर रही है और आशा है निकट भविष्य में उच्चशिक्षा का स्तर तथा उपयोगिता बढ़ जायेगी। गोरखपुर में ग्रामीण विश्वविद्यालय तथा काशी में संस्कृत विश्वविद्यालय खोलने के लिये विधेयक उत्तरप्रदेश विधान सदन में पास हो गये हैं तथा इस दिशा में कार्य आरम्भ हो गया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में राज्य के विश्वविद्यालयों को अधिक सहायता प्रदान की जायेगी।

स्त्री-शिक्षा

सम्पूर्ण देश के विषय में स्त्री-शिक्षा का वर्णन हम कर चुके हैं। उसकी अधिकांश बातें उत्तरप्रदेश में स्त्री-शिक्षा के विषय में भी लागू होती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अतीत में स्त्री-शिक्षा की उपेक्षा की गई है। किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार तथा जनता ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है। प्राथमिक शिक्षा के स्तर में बालक-बालिकाएँ साथ-साथ भी पढ़ते हैं और लड़कियों के लिये अलग प्राथमिक स्कूल भी हैं। जहाँ लड़कियों के अलग प्राथमिक स्कूल नहीं हैं वहाँ वे बालकों के स्कूलों में पढ़ती हैं। लड़कियों के जूनियर हाईस्कूल भी हैं जहाँ गृह-विज्ञान एवं हस्तकला बालिकाओं के लिये अनिवार्य हैं। प्रायः सभी नगरों में माध्यमिक स्तर पर लड़कियों के बहुत-से स्कूल खुले हुये हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अभी माध्यमिक स्तर पर लड़कियों की शिक्षा का नगण्य प्रसार हुआ है। लड़कियों के माध्यमिक पाठ्यक्रम में गृह-विज्ञान, संगीत, चित्रकला तथा मातृत्व-शिक्षा के विषय भी रखे गये हैं। वैसे लड़कियों को लड़कों के स्कूलों और कालेजों में लड़कों के साथ और उनके पाठ्यक्रम को पढ़ने में भी किसी प्रकार की रुकावट नहीं है। उच्च-शिक्षा में लड़कियों को लड़कों के समान ही इच्छानुसार अध्ययन करने की स्वतन्त्रता और अधिकार प्राप्त हैं।

प्रथम आचार्य नरेन्द्रदेव समिति की सिफारिशों में स्त्री-शिक्षा पर विशेष बल दिया गया था। स्त्री-शिक्षा के निरीक्षण के लिये अलग स्त्री-निरीक्षिकाओं की नियुक्ति की सिफारिश की गई थी। स्त्री-शिक्षिकाओं के लिये अधिक वेतन तथा मुफ्त निवासस्थान देने की सिफारिशें भी उसमें सम्मिलित थीं। प्रारम्भिक बालकों के स्कूलों में अगर अधिक लड़कियाँ पढ़ती हों तो वहाँ पुरुषों के साथ-साथ स्त्री-अध्यापिका रखने का भी सुझाव दिया गया था। गृह-विज्ञान की शिक्षा को

अधिक व्यावहारिक बनाने की भी सिफारिश की गई थी। लड़कियों के लिये प्रदेश में प्राय: १७५ हाईस्कूल तथा ९० इण्टर कालेज हैं। कुछ डिग्री कालेज भी लड़कियों के लिये अलग हैं। वैसे सभी विश्वविद्यालयों में लड़कियाँ पढ़ती हैं। इस प्रकार प्रदेश में स्त्री-शिक्षा बढ़ रही है। किन्तु लड़कियों की मुख्य कठिनाई अभी दूर नहीं हो सकी है। ग्रामीण क्षेत्रों से लड़के तो उच्चशिक्षा के लिये शहरों में चले जाते हैं किन्तु लड़कियाँ ऐसा नहीं कर पातीं। सामाजिक स्थिति भी उनकी शिक्षा के मार्ग में रुकावट डालती है।

लड़कियों के स्कूलों के निरीक्षण के प्रबन्ध के लिये चीफ इन्स्पेक्ट्रेस तथा सर्कल इन्स्पेक्ट्रेस आदि हैं। जो स्त्रियाँ अध्ययन के पश्चात् अध्यापिकायें बनना चाहती हैं उनके लिये नार्मल, सी०टी० तथा एल०टी० के सरकारी प्रशिक्षण महाविद्यालय हैं। प्रशिक्षित अध्यापिकायें अधिक संख्या में प्राप्त होने के कारण लड़कियों के स्कूलों की संख्या में संतोषजनक वृद्धिहो रही है। सन् १९३२–३७ के बीच लड़कियों की अनिवार्य शिक्षा कुछ नगरपालिकाओं और कुछ भागों में लागू की गई है। स्वतन्त्रता के उपरान्त इस दिशा में अधिक ध्यान दिया गया है और क्रमशः लड़कियों की शिक्षा भी अनिवार्य करने का प्रयत्न हो रहा है। लड़कियों के लिये शिक्षा-विभाग प्रतिवर्ष नए हाईस्कूल खोलता जा रहा है और गैर-सरकारी स्कूलों को पर्याप्त आर्थिक सहायता दे रहा है।

विशिष्ट वर्गों की शिक्षा

भारत में विशिष्ट वर्गों की शिक्षा का वर्णन हम पहले कर आये हैं। अभी तक इस प्रकार की शिक्षा की पर्याप्त उन्नति देश में नहीं हुई थी किन्तु अब राष्ट्रीय सरकार ने इसपर ध्यान दिया है और विशिष्ट वर्गों की शिक्षा की व्यवस्था का अधिकाधिक प्रसार हो रहा है। उत्तरप्रदेश में भी इस उद्देश्य से कुछ संस्थायें खोली गई हैं। मानसिक-हीनताग्रस्त और शारीरिक-हीनताग्रस्त दोनों वर्गों की शिक्षा में सरकार रुचि दिखा रही है। इन वर्गों के लिये ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है जो उन्हें जीविकार्जन के लिये उत्पादक कार्यों के योग्य बना सके। अंधे, बहरे, गूंगे तथा अपाहिज बच्चों की शिक्षा के लिये लखनऊ, इलाहाबाद और गोरखपुर में मूक एवं बहरों की शिक्षा के स्कूल हैं। कुछ अन्य शहरों में भी इस प्रकार की व्यवस्था है। इनके लिये विशेष प्रशिक्षणप्राप्त अध्यापक नियुक्त किये गये हैं। संगीत, नृत्य तथा ललितकलाओं आदि के शिक्षण की व्यवस्था भी प्रदेश में क्रमशः बढ़ रही है। सरकार कुछ गैरसरकारी संस्थाओं को अनुदान

देकर उत्साहित कर रही है और सरकार स्वयं भी इस प्रकार की संस्थायें खोलने का प्रयत्न करती है।

गरीब, हरिजन तथा विस्थापित छात्रों के लिये शिक्षा निशुल्क बना दी गई है और अधिकांश बालकों को छात्रवृत्ति तथा उनका शुल्क देकर सरकार उनमें शिक्षा-प्रसार का प्रयत्न कर रही है। हरिजन तथा पिछड़ी हुई जातियाँ सरकारी सहायता का लाभ उठाकर शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं। यह कहीं अधिक अच्छा हो कि प्रत्येक प्रकार की सुविधायें वर्गीय अथवा जातीय आधार पर न दी जाकर शुद्ध आर्थिक आधार पर दी जायें।

प्रौढ़ एवं सामाजिक शिक्षा

भारत में प्रौढ़-शिक्षा के विकास का इतिहास हम पहले ही दे चुके हैं। इस प्रान्त में प्रौढ़-शिक्षा का आरम्भ सन् १९२१ में विशेष प्रकार से हुआ। इससे पूर्व कुछ साधारण गैरसरकारी प्रयत्न हो रहे थे। सन् १९२७ में प्रान्त सरकार ने इसे सरकारी तौर पर अपनाया। प्रारम्भ में इसके मुख्य उद्देश्य साक्षरता-प्रसार एवं साक्षरता को बनाये रखने के थे। प्रान्त के अनेक भागों में प्रौढ़-शिक्षण के लिये पाठशालायें खोली गईं जिनमें रात्रि अथवा मध्याह्नोत्तरकाल में प्रौढ़ों अथवा निरक्षरों को पढ़ना, लिखना एवं गणित सिखलाया जाता था। बाद में सरकार का ध्यान इस ओर कम हो गया और प्रौढ़-शिक्षा की गति मन्द हो गई। किन्तु सन् १९३७ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बन जाने के कारण इसमें फिर जीवन आगया और उत्साह के साथ सरकार तथा जनता निरक्षरों को साक्षर बनाने में जुट गई। प्रौढ़-शिक्षा के लिये एक शिक्षा-प्रसार अफसर नियुक्त कर दिया गया।

सन् १९३९–४० में साक्षरता-प्रसार आन्दोलन प्रान्त में बड़े पैमाने पर चलाया गया। लाखों व्यक्तियों ने कम-से-कम एक निरक्षर को साक्षर बनाने की प्रतिज्ञा ली। स्कूलों और कालेजों में साक्षरता-दिवस तथा साक्षरता-सप्ताह मनाये गये। इस प्रकार प्रान्तभर में निरक्षरता के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ हो गया। सन् १९३८-३९ में इस प्रान्त में प्रौढ़ स्कूलों की संख्या २,६८९ थी। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से लोग लोक-कल्याण की भावना से भी शिक्षा देने लगे थे। प्रान्त में ग्रामीण स्कूलों तथा अन्य केन्द्रों में सरकारी और गैरसरकारी पुस्तकालय खोले गये। साक्षरता को कायम रखन के उद्देश्य से चल-पुस्तकालयों की भी स्थापना की गई। विभिन्न स्थानों पर वाचनालयों का प्रबन्ध भी किया गया। सन् १९४० में एक अलग प्रौढ़-शिक्षा विभाग भी खोल दिया गया। सरकार ने प्रौढ़ों के योग्य उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन भी कराया।

युद्ध-काल में प्रौढ़-शिक्षा की गति पुनः मन्द हो गई। स्वतन्त्रता के उपरांत राष्ट्रीय सरकार ने फिर इस ओर ध्यान दिया है और प्रौढ़-शिक्षा का नाम सामाजिक शिक्षा कर दिया गया है। इसके अनुसार साक्षरता-प्रसार, साक्षरता बनाये रखना, योग्य नागरिकता की शिक्षा देना तथा प्रौढ़ नर-नारियों के जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाना मुख्य उद्देश्य हैं। उत्तरप्रदेश सरकार ने अपनी प्रथम पंचवर्षीय शिक्षा-योजना (सन् १९४७) में सामाजिक शिक्षा के लिये एक अलग विभाग खोल दिया है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् से उत्तरप्रदेश में सामाजिक शिक्षा सफलतापूर्वक चल रही है। पुरुषों तथा स्त्रियों के लिये सरकारी वयस्क-स्कूल खोले गये हैं। पुस्तकालय तथा वाचनालय भी बढ़ाये जा रहे हैं। कुटीर-उद्योगों का शिक्षण भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है। सरकारी विकास-योजनाओं को इस कार्य से सम्बन्धित कर दिया गया है। समाज-कल्याण, खेलकूद तथा पर्यटन की सुविधायें भी इसी उद्देश्य से बढ़ाई जा रही हैं। इस आयोजन को सफल बनाने के लिये जनता के और अधिक उत्साहपूर्ण समर्थन की आवश्यकता है।

प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा

प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षण की ओर भी उत्तरप्रदेश में पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। उच्चशिक्षा के सम्बन्ध में हम लिख चुके हैं कि प्रदेश में मेडीकल, कृषि-प्रशिक्षण, इंजीनियरिंग तथा पशु-चिकित्सा के नये कई महाविद्यालय खुले हैं। कानून, प्रयोगात्मक रसायन तथा वाणिज्य आदि में भी विश्वविद्यालयों में डिग्रियाँ हैं। बेसिक, जूनियर तथा माध्यमिक सभी के पाठ्यक्रम में प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का समावेश कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षण के लिये तीन प्रकार की संस्थायें हैं:—(१) प्रारम्भिक व्यावसायिक शिक्षा-संस्थायें प्राथमिक शिक्षाप्राप्त बच्चों को कताई, रंगाई, बुनाई, धुलाई, सिलाई, बागवानी, छपाई, बढ़ईगीरी तथा चमड़े का कार्य आदि सिखाने के लिये हैं। इनका स्तर जूनियर हाईस्कूलों के बराबर है। (२) उच्च माध्यमिक स्तर की शिक्षा—इस प्रकार की व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा-संस्थाओं में जूनयर हाईस्कूल पास विद्यार्थी प्रवेश पाते हैं। इनमें भी उपर्युक्त विषयों की शिक्षा का चारवर्षीय पाठ्यक्रम रहता है। (३) उच्च व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा की संस्थायें अथवा विभाग विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित हैं। इनमें उपरोक्त विषयों के अतिरिक्त पत्र-संपादन (Journalism), समाज-सेवा (Social Service), जन-प्रशासन (Public administration), युद्ध-विज्ञान

(Military Science) आदि विषय और बढ़ा दिये गये हैं।

केन्द्रीय सरकार भी अपनी योजना के अनुसार प्राविधिक शिक्षा के लिये राज्य सरकार से सहयोग कर रही है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के खनि-कर्म तथा धातु-विज्ञान-विभाग (Department of Mining and Metallurgy) को सहायता देकर विस्तृत किया जा रहा है। अखिल भारतवर्षीय प्राविधिक परिषद् (All-India Council for Technical Education) ने पंचवर्षीय योजना में वैज्ञानिक-जनशक्ति-समिति (Scientific Manpower Committee) (१९४९–५०) के प्रस्तावों के आधार पर प्रत्येक राज्य को प्राविधिक शिक्षा के प्रसार और विकास के लिये प्रोत्साहित किया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है। उत्तरप्रदेश ने अपनी योजनाओं के अनुसार तथा केन्द्रीय योजनाओं के अनुसार कार्य कर इस दिशा में अच्छी उन्नति की है।

उत्तरप्रदेश की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ४ करोड़ ९४ लाख रुपये की धनराशि प्राविधिक शिक्षा और प्रशिक्षण के लिये निर्धारित कर दी गई है। प्राविधिक शिक्षा प्रदान करने के लिये सुविधाओं का यथेष्ट विस्तार किया जायेगा, जिससे सभी प्रकार के कार्यों के लिये टेक्नीकल और वैज्ञानिक व्यक्तियों की व्यवस्था हो सके। ओवरसियरों और सर्वेक्षकों की बहुत कमी है अतः उनके प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जायेगी।

पीछे हम लिख आये हैं कि आचार्य नरेन्द्रदेव समिति (द्वितीय) ने प्राविधिक शिक्षा पर क्या सिफारिशें की हैं। उत्तरप्रदेश की सरकार उनको भी कार्यान्वित करने के लिये प्रयत्नशील हैं।

शिक्षक–प्रशिक्षण

उत्तरप्रदेश की शिक्षा के विकास का हम वर्णन कर चुके हैं। इस विकास एवं शिक्षा-प्रसार के लिये प्रशिक्षित एवं कुशल अध्यापकों की भी अधिक आवश्यकता बढ़ती जा रही है। अतः उत्तरप्रदेश सरकार ने शिक्षक-प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया है। सन् १९४६ के पश्चात् नार्मल स्कूलों की संख्या बढ़ाई गई और V.T.C. और P.T.C के स्थान पर H.T.C. के नाम से प्रत्येक जिले में अब नार्मल स्कूल खुल गये हैं। इनमें प्राथमिक स्कूलों और जूनियर हाईस्कूलों के लिये शिक्षक तैयार किये जाते हैं। नार्मल स्कूलों के पाठ्यक्रम में संशोधन कर दिया गया है और बेसिक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम भी इनमें शामिल कर लिया गया है।

सी०टी० के स्थान पर लड़कियों को छोड़कर लड़कों के लिये जूनियर टीचर्स सर्टीफिकेट (J.T.C.) की व्यवस्था कर दी गई है। इनमें हाईस्कूल तथा इण्टर पास

विद्यार्थियों का प्रशिक्षण होता है। प्रशिक्षण के पश्चात् इन अध्यापकों को जूनियर हाईस्कूलों तथा माध्यमिक स्कूलों की जूनियर कक्षाओं के लिये नियुक्त किया जाता है।

नार्मल स्कूलों का पाठ्यक्रम दो वर्ष का है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् शिक्षकों की माँग अधिक होने के कारण शिक्षा विभाग ने नार्मल स्कूलों की संख्या-वृद्धि के साथ-साथ 'चलशिक्षण-दल' (Mobile Training Squads) का भी प्रयोग किया। इस योजना में प्रत्येक दो जिलों में एक 'चलशिक्षण-दल' की स्थापना कर दी गई थी। प्रत्येक दल में एक बेसिक-शिक्षाप्राप्त ग्रेजुएट तथा दो या तीन बेसिक-प्रशिक्षित बी० टी० सी० रखे गये थे। दल दो वर्ष की अवधि में गाँव के अध्यापकों को शिक्षा-सिद्धान्त, शिक्षा-पद्धति, स्वास्थ्य-विज्ञान, कला एवं हस्तकला तथा शारीरिक व्यायाम आदि का नार्मल के स्तर का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करता था। प्रशिक्षण के साथ-साथ वह अध्यापकों को सामूहिक जीवन, मनोविनोद, जनसंपर्क तथा अन्य सांस्कृतिक 'कार्यों का भी प्रशिक्षण देता था। यह योजना पूर्णरूप से सफल न हो सकी। अब इसे समाप्त कर दिया गया है।

ग्रेजुएट पथा पोस्ट-ग्रेजुएट विद्यार्थियों के प्रशिक्षण के लिये सन् १९४६ तक केवल चार निम्नलिखित प्रशिक्षण महाविद्यालय प्रान्त में थे—इलाहाबाद का सरकारी प्रशिक्षण कालेज तथा लखनऊ का ग्रेजुएट लड़कियों का सरकारी प्रशिक्षण महाविद्यालय और अलीगढ़ तथा बनारस विश्वविद्यालयों के बी० टी० प्रशिक्षण महाविद्यालय। इनके अतिरिक्त प्रान्त में तीन सी०टी० कालेज भी थे। सन् १९४६-४७ में दो सी० टी० कालेज लड़कों के लिये और दो स्त्रियों के लिये खुले। किन्तु सन् १९४७–४८ से इस दिशा में विशेष प्रगति हुई। इस वर्ष शिक्षा विभाग ने गैर-सरकारी संस्थाओं को भी प्रशिक्षण-कक्षाएँ खोलने की अनुमति दी। लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, आगरा, गोरखपुर तथा फतेहपुर में गैरसरकारी सी० टी० कालेज और बलवन्त राजपूत कालेज आगरा, दयालबाग तथा लखनऊ विश्वविद्यालय में स्नातक प्रशिक्षण कालेज खुले। सरकारी मनोविज्ञान-शाला इलाहाबाद की भी स्थापना हुई। सन् १९४८–४९ में तीन सी० टी० तथा ४ एल०टी० कालेज और खुले। सन् १९५१–५२ तक ३१ ट्रेनिंग कालेज (२४ पुरुषों और ७ महिलाओं के) और ८० ट्रेनिंग स्कूल खुल गये थे। फिर सी० टी० कक्षायें लड़कों के लिये समाप्त कर दी गई और इनका स्थान J.T.C. स्कूलों ने ले लिया। छः गैं सरकारी एल० टी० कालेज भी समाप्त कर दिये गये।

एल०टी० के पाठ्यक्रम में भी विभाग ने एक समिति नियुक्त कर सन् १९५२-५३ में परिवर्तन कर दिया है। प्रयोगात्मक शिक्षण के अतिरिक्त सामूहिक कार्य भी इसमें सम्मिलित कर दिया गया है। इसके अनुसार प्रशिक्षार्थियों को गाँवों में जाकर सामाजिक कल्याण-कार्य भी करना पड़ता है।

विभागीय एल०टी० प्रशिक्षण के अतिरिक्त प्रान्त के सभी विश्वविद्यालयों में बी० टी० और बी० एड० के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है। इनमें से इलाहाबाद, लखनऊ, अलीगढ़ तथा बनारस में एम०एड० पाठ्यक्रम की व्यवस्था भी हो गई है और आगरा में उसके लिये प्रयत्न चल रहा है।

शिक्षकों के वेतन-क्रम में भी परिवर्तन किया गया है। प्राथमिक स्कूलों के प्रधानाध्यापक तथा सहायक अध्यापकों का बुनियादी वेतन अब क्रमशः ४० रु० से ५० रु० तथा ३५ रु० से ४५ रु० तक कर दिया गया है। अदीक्षित अध्यापकों को ३० रु० मिलता है। जे० टी० सी० का वेतन पहले ४५ रु० से ६० रु० तक था किन्तु अब ६० रु० से ११० रु० कर दिया गया है। यह वेतन-क्रम आर्थिक कठिनाइयों के कारण अभी पूर्णतः लागू नहीं हो पाया है। माध्यमिक स्कूलों का वेतन इस प्रकार निश्चित हुआ है :—

	गैरसरकारी स्कूल रु०	सरकारी स्कूल रु०
१—अधिस्नातक (M.A.)	१५०—१०—२५०	२००—१५—४५०
२—प्रशिक्षित स्नातक	१२०—६—१६८-८-२००	१२०-८-२००-३००
३—प्रशिक्षित उपस्नातक (Inter.)	७५—१२०	७५—२००
४—अप्रशिक्षित उपस्नातक	५०—८०	

५—अप्रशिक्षित स्नातक को प्रशिक्षित स्नातक का दो-तिहाई वेतन दिया जाता है।

कुछ विशेष प्रकार के प्रशिक्षण महाविद्यालय भी उत्तरप्रदेश में स्थापित हो चुके हैं। इनमें रचनात्मक प्रशिक्षण महाविद्यालय (Constructive Training College), लखनऊ, शारीरिक शिक्षण महाविद्यालय, लखनऊ और नर्सरी ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद मुख्य हैं। रचनात्मक प्रशिक्षण महाविद्यालय सन् १९४८ में इलाहाबाद में खोला गया था किन्तु बाद में लखनऊ में आगया। माध्यमिक शिक्षा में बहुमुखी पाठ्यक्रम को लागू करने तथा रचनात्मक-वर्ग के लिये शिक्षक प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से इसमें विभिन्न हस्तकलाओं का प्रशिक्षण दिया जाता है। उत्तरप्रदेश में एक स्वास्थ्य-शिक्षा संचालक भी है। शारीरिक

प्रशिक्षण कालेज में स्नातक तथा उपस्नातक स्त्री-पुरुषों को विभिन्न शारीरिक व्यायामों का प्रशिक्षण दिया जाता है।

शिक्षा विभाग की ओर से प्रयत्न चल रहा है कि प्रत्येक विद्यालय में प्रशिक्षित अध्यापक ही नियुक्त किये जायें। इस प्रयत्न को सफल बनाने के लिये आवश्यक है कि विद्यालयों को अधिक उदार आर्थिक सहायता दी जाये और विद्यालयों द्वारा की जानेवाली नियुक्तियों पर अधिक कठोर नियंत्रण रखा जाये। सरकार को इतनी व्यवस्था तो करनी ही चाहिये कि विद्यालय प्रशिक्षित अध्यापकों के रहते अप्रशिक्षितों को नियुक्त न कर सकें।

अध्याय १०

भारतीय शिक्षाव्यवस्था की संगठना

अध्याय-संक्षेप:—

१. प्रस्तावना। २. विषय-प्रवेश। ३. संघीय शिक्षा-मन्त्रालय—मन्त्रालय के संविभाग, शिक्षा-मन्त्रालय के अधिकारी, शिक्षा-मन्त्रालय का संगठनवृक्ष। ४. राज्यीय शिक्षाविभाग—शिक्षाविभाग के अधिकारी, शिक्षाविभाग का संगठन-वृक्ष। ५. उपसंहार।

प्रस्तावना—विविध क्षेत्रों में शिक्षा का कितना विस्तार हो चुका है यह हम पिछले अध्यायों में दिखा चुके ह। इस अध्याय में हम सम्पूर्ण शिक्षा-संगठना को संक्षेप में प्रस्तुत करना चाहते ह।

विषय-प्रवेश—भारत एक गणतन्त्रात्मक देश है। फलतः सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था राज्यीय तथा संघीय इन दो स्तरों में विभक्त है। शिक्षा मुख्यतया एक राज्यीय विषय है अतः प्रत्येक राज्य के मन्त्रिमण्डल में एक-एक शिक्षामन्त्री भी होता है। और प्रत्येक राज्य में अन्य विभागों की भाँति एक-एक स्वतन्त्र शिक्षा-विभाग होता है जिसकी सहायता से शिक्षामन्त्री अपनी शिक्षा-सम्बन्धी नीतियों को कार्यान्वित करता है। संघीय सरकार के मन्त्रिमण्डल में भी एक शिक्षाविभाग है जो एक मन्त्री की अधीनता में रहता है। आजकल संघीय सरकार में शिक्षा-मन्त्री मौ० अबुल कलाम आजाद हैं। राज्यीय शिक्षाविभागों की भाँति केन्द्र में भी एक शिक्षा-मन्त्रालय होता है जो केन्द्रीय सरकार की शिक्षा-नीतियों को कार्यान्वित किया करता है। नीचे की पंक्तियों में हम दोनों स्तरों की शिक्षा-संगठनाओं का अध्ययन करेंगे।

संघीय शिक्षा-मन्त्रालय

शिक्षा-मन्त्रालय के संविभाग—केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय निम्नलिखित पाँच संविभागों में विभक्त है :—

१—प्रबन्ध एवं विश्वविद्यालय संविभाग।

२—हिन्दी एवं सांस्कृतिक गतिविधि संविभाग।

३—विश्वविद्यालय-पूर्ववर्ती शिक्षा तथा समुन्नति संविभाग।

४—छात्रवृत्ति एवं सूचना संविभाग।

५—औद्योगिक एवं वैज्ञानिक शिक्षा संविभाग।

प्रबन्ध एवं विश्वविद्यालय संविभाग

संघीय शिक्षाविभाग का प्रबन्ध-सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य इस संविभाग का काम है। राष्ट्रीय संग्रहालयों, पुरातत्व-विभाग तथा कलकत्ता स्थित राष्ट्रीय पुस्तकालय आदि की व्यवस्था के लिये भी यही संविभाग उत्तरदायी है। चारों केन्द्रीय विश्वविद्यालयों—हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस, मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़, देहली विश्वविद्यालय तथा विश्वभारती—तथा विश्वविद्यालय-अनुदान-समिति का सम्बन्ध भी इसी संविभाग से रहता है। संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक, सामाजिक, एवं सांस्कृतिक संगठन के साथ भी यही संविभाग सम्पर्क रखता है।

हिन्दी एवं सांस्कृतिक गतिविधि संविभाग

राष्ट्रभाषा हिन्दी का विकास एवं प्रचार, भारतीय सांस्कृतिक संगठनों की सहायता, भारत एवं विदेशों के बीच अध्यापकों का आदान-प्रदान, राष्ट्रीय संगीत-अकादमी, राष्ट्रीय साहित्य-अकादमी तथा राष्ट्रीय आधुनिक कला-अकादमी आदि सांस्कृतिक संगठनों का प्रबन्ध, आदि कार्यों के लिये यह संविभाग उत्तरदायी होता है।

विश्वविद्यालय-पूर्ववर्ती शिक्षा तथा समुन्नति संविभाग

इस संविभाग का सम्बन्ध सम्पूर्ण विद्यालयीय एवं सामाजिक शिक्षा, केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड, दृश्य-श्रव्य शिक्षा, देश में शिक्षोन्नति की पंचवर्षीय योजना, युवक-कल्याण कार्य, असमर्थों की शिक्षा, तथा केन्द्रीय शिक्षण-महाविद्यालय (C.I.E.) के साथ रहता है।

छात्रवृत्ति एवं सूचना संविभाग

इस संविभाग का कार्य अध्ययन, अनुसंधान एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिये विदेश जानेवाले भारतीय छात्रों तथा भारत में आनेवाले विदेशी छात्रों के लिये स्वदेशी, विदेशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय छात्रवृत्तियों की व्यवस्था करना है। परिगणित जातियों, पिछड़े हुए वर्गों तथा वनजातियों के लिये छात्रवृत्तियों की व्यवस्था भी यही संविभाग करता है। शिक्षा-सूचना-विभाग इसी का एक उप-संविभाग है और

शिक्षा-सम्बन्धी सूचनायें प्रसारित करना, साहित्य प्रकाशित करना तथा आँकड़ा संग्रह कराना इसका उत्तरदायित्व है।

औद्योगिक एवं वैज्ञानिक शिक्षा संविभाग

इस संविभाग का कार्य देश में उच्च औद्योगिक एवं वैज्ञानिक शिक्षा की उन्नति के लिये प्रयत्न करना है। खरगपुर में स्थापित औद्योगिक विद्यापीठ की व्यवस्था यही संविभाग करता है। इस समय यह इस प्रयत्न में है कि देश के अवशिष्ट तीनों क्षेत्रों में भी एक-एक औद्योगिक विद्यापीठ खुल जाये।

शिक्षा-मन्त्रालय के अधिकारी—मन्त्रालय के सबसे प्रमुख व्यक्ति स्वयं शिक्षा-मन्त्री होते हैं। उनका कार्य दो प्रकार का होता है; एक वैधानिक एवं दूसरा प्रशासनिक। दोनों प्रकार के कार्यों में उनकी सहायता करने के लिये उनके एक उप-मन्त्री है। इस पद पर आजकल डॉ० के० एल० श्रीमाली कार्य कर रहे हैं। उनके नीचे केवल वधानिक कार्यों को निबटाने के लिये दो सभा-सचिव हैं। इनमें से एक लोक-सभा के लिये है और दूसरा राज्य-परिषद् के लिये। प्रशासनिक कार्यों में शिक्षामन्त्री की सहायता के लिये एक शिक्षा सचिव एवं शिक्षा-सलाहकार हैं। इनके सहयोग के लिये दो सहसचिव एवं सहसलाहकार भी हैं। इनके नीचे उपशिक्षा-सलाहकार अथवा उप-सचिव होते हैं। ऊपर कहे हुये पाँचों संविभागों में से एक-एक का पर्यवधायक (In-charge) एक-एक उपशिक्षा-सलाहकार अथवा उप-सचिव होता है। इन उप-सचिवों अथवा उपशिक्षा-सलाहकारों की सहायता के लिये सहायक शिक्षा-सलाहकार अथवा अधीन-सचिव भी होते हैं। सलाहकारों तथा सचिवों के कार्यों में कार्य-विभाजन की कोई स्पष्ट सीमारेखा नहीं है। सभी लोग मन्त्रणा सम्बधित तथा कार्यालयीय कार्यों को मिलजुलकर ही निबटाते ह।

शिक्षा-मन्त्रालय का संगठन-वृक्ष—जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है उसे वृक्षरूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—
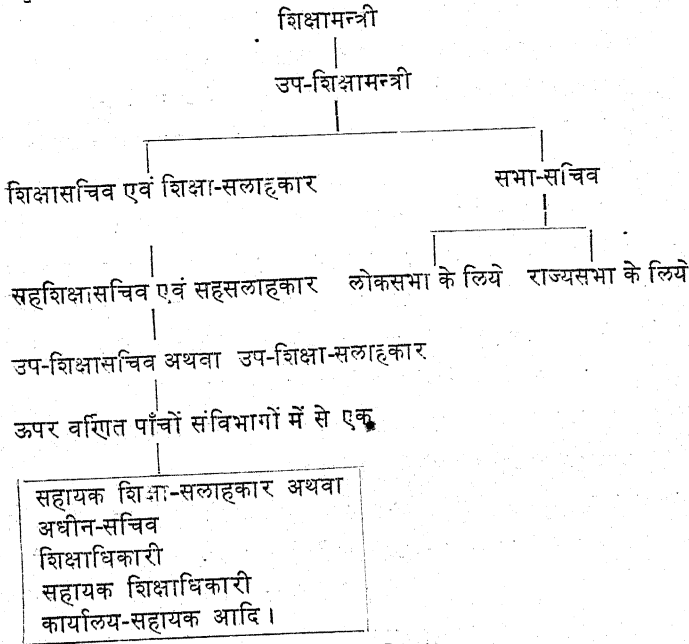
राज्यीय शिक्षाविभाग

यों तो प्रत्येक राज्य में एक-एक शिक्षाविभाग है परन्तु हम लोगों का सम्बन्ध मुख्यतया उत्तरप्रदेश के साथ है अतः नीचे की पंक्तियों में हम उसी की शिक्षा-संगठना प्रस्तुत करेंगे।

शिक्षाविभाग के अधिकारी—राज्यीय शिक्षाविभाग के सबसे बड़े अधिकारी स्वयं शिक्षामन्त्री होते हैं। उनके कर्त्तव्यों को भी वैधानिक एवं प्रशासनिक इन दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। अपने वैधानिक कर्त्तव्यों को पूरा करने में उनकी सहायता के लिये सभा-सचिव (Parliamentary Secretaries) होते हैं। शिक्षामन्त्री एवं सभा-सचिव होते तो वैतनिक ही हैं परन्तु स्थायी नहीं होते। मन्त्रिमण्डल के उलट-फेर में वे भी बदल सकते हैं। अपने वैधानिक एवं प्रशासनिक कर्त्तव्यों को शिक्षामन्त्री क्रमशः राज्यमंत्रालय के शिक्षा-अनुभाग एवं राज्यीय शिक्षाविभाग की सहायता से पूरा करते हैं। राज्य-मन्त्रालय का शिक्षा-अनुभाग एक शिक्षासचिव की देख-रेख में काम करता है।

राज्यीय शिक्षाविभाग का सर्वोच्च स्थायी अधिकारी **शिक्षा-संचालक** होता है। सम्पूर्ण राज्य की शिक्षा-व्यवस्था की देख-रेख एवं शिक्षामन्त्री को शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में सलाह देना उसका उत्तरदायित्व होता है। अपने उत्तर-दायित्वों को वह एक "अतिरिक्त शिक्षा-संचालक" एवं एक "उपशिक्षा-संचालक" की सहायता से निभाता है। उनके बाद सात क्षेत्रीय उपशिक्षा-संचालक रहते हैं। प्रबन्ध एवं निरीक्षण सम्बन्धी सुविधा के लिये सम्पूर्ण राज्य को सात क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया है। एक-एक क्षेत्र में एक-एक क्षेत्रीय उपशिक्षा संचालक अपने कार्यालय समेत रहता है, और उस क्षेत्र की शिक्षा पर अपना नियन्त्रण रखता है। इनके नीचे प्रत्येक जिले में जिला विद्यालय-निरीक्षक हुआ करते हैं। इनका काम अपने-अपने जिले में शिक्षा-व्यवस्था की देख-रेख एवं नियन्त्रण होता है। इनके नीचे उपविद्यालय-निरीक्षक तथा उनके भी नीचे उपोपविद्यालय-निरीक्षक होते हैं। इन दोनों प्रकार के निरीक्षकों का कार्य क्रमशः जूनियर हाई स्कूलों तथा प्रशिक्षण विद्यालयों और प्राथमिक विद्यालयों का निरीक्षण होता है।

यह व्यवस्था बालकों की शिक्षा से सम्बन्धित है। बालिका-विद्यालयों के मार्गदर्शन एवं निरीक्षण के लिये राज्य शिक्षा-संचालक के ही तत्त्वावधान में एक स्त्री-शाखा है। उसकी उच्चतम अधिकारिणी "सहायक शिक्षा-संचालिका" कह-लाती हैं। उनके नीचे सात क्षेत्रीय निरीक्षिकायें हैं। इनका कार्य अपने-अपने क्षेत्र के जिले में शिक्षा-व्यवस्था का मार्गदर्शन एवं नियन्त्रण है। उनके नीचे उप-विद्यालय-निरीक्षिकायें हैं जो अपने-अपने जिलों में कन्याओं के प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों का निरीक्षण करती रहती हैं।

ऊपर कहे हुये अधिकारियों के अतिरिक्त शिक्षा-संचालक के कार्यालय में तीन विशिष्ट अधिकारी—प्राथमिक शिक्षाधिकारी, माध्यमिक शिक्षाधिकारी तथा सम्पादनाधिकारी—और नियुक्त किये जाते हैं। स्थिति की दृष्टि से ये तीनों क्षेत्रीय उपशिक्षा-संचालकों के समकक्ष होते हैं। इनमें से प्रथम का कर्त्तव्य प्राथमिक शिक्षा का विस्तार, द्वितीय का कार्य माध्यमिक शिक्षा का पुनस्संगठन तथा तृतीय का कार्य 'शिक्षा' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन है। उसी कार्यालय में निरीक्षक स्तर पर भी यूरोपियनों के विद्यालयों के निरीक्षण तथा सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था और अरबी पाठशालाओं, मुस्लिम विद्यालयों तथा संस्कृत विद्यालयों के निरीक्षण के लिये एक-एक विद्यालय-निरीक्षक रहता है। प्राथमिक एवं जूनियर स्तर के मुस्लिम विद्यालयों के निरीक्षण के लिये जिलास्तर पर भी एक उपविद्यालय-

निरीक्षक रहता है। राज्य-मन्त्रालय के शिक्षा-अनुभाग तथा शिक्षाविभाग के सभी अधिकारी वैतनिक एवं स्थायी होते हैं।

शिक्षाविभाग का संगठन-वृक्ष—जो कुछ ऊपर लिखा गया है उसको चार्ट के रूप में निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है :—
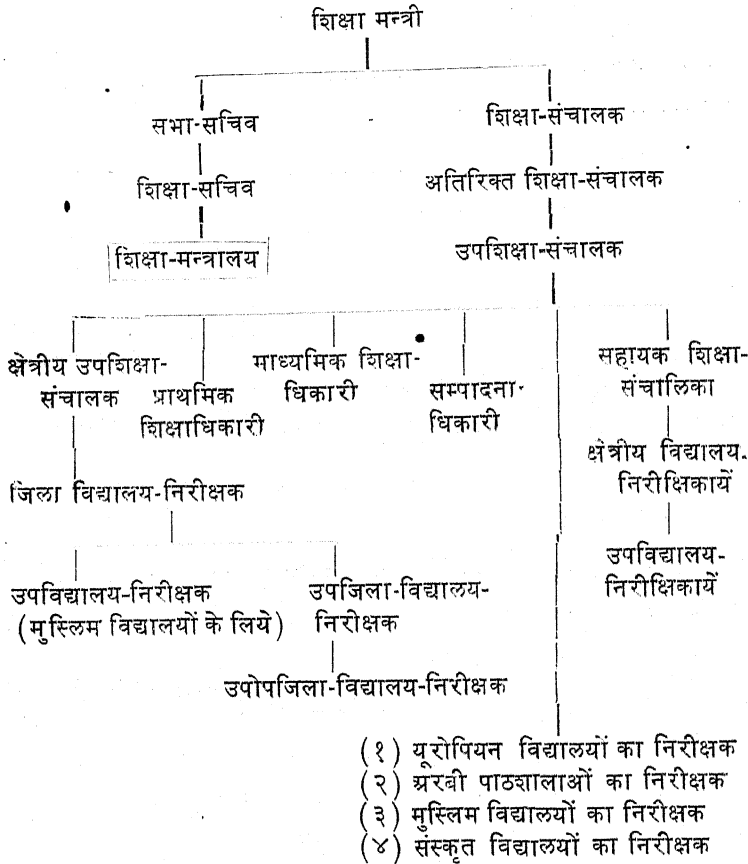
उपसंहार—ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि संघीय तथा राज्यीय दोनों स्तरों पर भारतीय शिक्षा का विस्तार बहुत तेजी के साथ हो रहा है। परन्तु, भारतीय जनता की जनतान्त्रिक आवश्यकताओं को देखते हुए जितना हो चुका है उतना भी पर्याप्त नहीं है। यह विस्तार अभी और होगा। अब भी देश में अशिक्षा और कुशिक्षा पैर तोड़ कर बैठी हुई हैं। हम सबको मिलकर देश को इन अभिशापों से मुक्त करना है। इस कार्य के लिये और अधिक प्रयत्न तथा विस्तृततर संगठन की आवश्यकता पड़ेगी।

परिशिष्ट

कतिपय परीक्षोपयोगी प्रश्न

१—वैदिककालीन शिक्षा के क्या-क्या उद्देश्य थे और उनकी प्राप्ति के लिये क्या-क्या प्रयत्न किये जाते थे ?

२—वैदिकशिक्षा में गुरु-शिष्य सम्बन्ध किस प्रकार के थे और उन सम्बन्धों के नियामक सिद्धान्त क्या थे ?

३—वैदिकशिक्षा की मुख्य-मुख्य विशेषतायें क्या थीं और वर्त्तमान काल की शिक्षा-समस्याओं को हल करने के लिये उनमें से किन-किन को स्वीकार किया जा सकता है ?

४—वैदिकशिक्षा एवं बौद्धशिक्षा में उद्देश्यों एवं साधनों की दृष्टि से जो-जो अन्तर थे उनकी विवेचना कीजिये ।

५—बौद्धशिक्षा वैदिकशिक्षा की अपेक्षा अधिक जनतान्त्रिक थी, इस कथन की विवेचना कीजिये ।

६—बौद्धकाल के कतिपय प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।

७—मुस्लिमशिक्षा के क्या उद्देश्य थे, वे किन ऐतिहासिक कारणों से प्रभावित थे और उस शिक्षा की विशेषतायें तथा त्रुटियाँ क्या थीं ?

८—वैदिक, बौद्ध तथा मुस्लिमशिक्षाओं की तुलनात्मक विवेचना करते हुये उनके प्रमुख गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये ।

९—अंग्रेज ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भारतीय शिक्षा का उत्तरदायित्व ग्रहण करने के पूर्व भारत में शिक्षा की क्या दशा थी ?

१०—सन् १८१३ के शिक्षा-विषयक घोषणा-पत्र की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए यह बताइये कि उसके परिणामस्वरूप किन-किन संघर्षों का जन्म हुआ ?

११—प्राच्य-पाश्चात्य शिक्षा संघर्ष का क्या स्वरूप था, उसका क्या परिणाम हुआ और इस विषय में लॉर्ड मैकाले को किस सीमा तक श्रेय अथवा दोष दिया जा सकता है ?

१२—शिक्षा छनने का सिद्धान्त क्या था और उसका भारतीय शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

१३—सन् १८३३ से सन् १८५३ तक भारतीय शिक्षा का विकास किस प्रकार हुआ और इस काल की मुख्य-मुख्य घटनायें क्या थीं ?

१४—उड के शिक्षा-घोषणापत्र को भारतीय शिक्षा का "मैग्नाकार्टा" क्यों कहा जाता है ? अच्छी प्रकार समझाइये।

१५—सन् १८५४ से सन् १८८२ तक भारतीय शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों का विकास किस प्रकार हुआ और सन् १८८२ के प्रथम भारतीय शिक्षा कमीशन ने शिक्षा की क्या दशा पाई ?

१६—सन् १८८२ के शिक्षा कमीशन ने भारतीय शिक्षा में क्या-क्या नवीनतायें उत्पन्न करने के प्रस्ताव किये ?

१७—सन् १८८२ से सन् १९०२ तक प्राइमरी, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षाओं के क्षेत्रों में क्या-क्या विशेषतायें रहीं ?

१८—लॉर्ड कर्जन ने भारतीय शिक्षा में सुधार करने की क्या-क्या योजनायें बनाई और उनके प्रति भारतीय लोगों की क्या प्रतिक्रिया रही ?

१९—सन् १९१३ में भारत सरकार को अपनी शिक्षा-नीति क्यों और किस रूप में दुहरानी पड़ी और उसमें किन बातों पर जोर दिया गया ?

२०—सन् १९१७ के कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन के प्रतिवेदन में भारतीय शिक्षा के किन-किन अंगों की विवेचना विशेष रूप से की गई, उनके विषय में उन्होंने क्या प्रस्ताव किये और उनका देश की शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

२१—माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों का भारतीय शिक्षा की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ा और भारतीय मन्त्रियों को अपने प्रयत्नों में किस सीमा तक सफलता मिली ?

२२—हर्टाग-समिति के शिक्षा-विषयक प्रस्ताव क्या थे और उनका शिक्षा की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

२३—सन् १९३५ के शासन-विधान का सुधार एवं प्रसार की दृष्टि से शिक्षा-क्षेत्र पर क्या प्रभाव पड़ा ?

२४—उड-एबट रिपोर्ट ने औद्योगिक शिक्षा की क्या योजना प्रस्तुत की और सरकार उससे कहाँ तक लाभ उठा सकी ?

२५—सन् १९३७ के प्रान्तीय स्वराज्य का शिक्षा-क्षेत्र पर क्या प्रभाव पड़ा और उसके परिणामस्वरूप देश की शिक्षा में कौन-कौन-सी नवीन धारायें आईं ?

२६—बेसिक शिक्षा-प्रणाली का इतिहास प्रस्तुत करते हुये उसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिये ।

२७—सार्जेण्ट योजना क्या थी और उसमें भारतीय शिक्षा के विकास के लिये कौन-कौन-से प्रमुख प्रस्ताव किये गये थे ?

२८—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भारत ने क्या उन्नति की है और वर्त्तमान प्राथमिक शिक्षा किन आदर्शों पर चल रही है ?

२९—मुदालियर कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा के स्वरूप के विषय में क्या-क्या मुख्य प्रस्ताव किये हैं और अपने देश में कहाँ तक उन पर कार्य हो सका है ?

३०—भारत में विश्वविद्यालयों की शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने के लिये क्या-क्या प्रयत्न किये जा रहे हैं ? आपकी सम्मति में इस विषय में किन-किन प्रमुख बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिये ?

३१—केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय का राज्यीय शिक्षाविभागों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है और वह उन पर क्या प्रभाव डाल सकता है ?

३२—विश्वविद्यालय अनुदान समिति, केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-परिषद्, अखिल-भारतीय माध्यमिक-शिक्षा-परिषद्, स्त्री-शिक्षा तथा प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये ।

३३—प्रौढ़शिक्षा के स्वरूप का अपने देश में किस प्रकार विकास हुआ, उससे अपने देश के कल्याण का किस प्रकार सम्बन्ध है और उसमें अभी किन-किन सुधारों की आवश्यकता है ?

३४—उत्तरप्रदेश की सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिये सन् १९४७ से अब तक क्या-क्या पग उठाये हैं और उनका क्या परिणाम हुआ है ?

३५—द्वितीय आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने उत्तरप्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिये किन बातों का प्रस्ताव किया है ?

३६—विशिष्ट वर्गों की शिक्षा के लिये उत्तर देश सरकार ने अब तक क्या सुविधायें प्रदान की हैं और उनका क्या परिणाम रहा है ?

३७—शिक्षक-प्रशिक्षण की उत्तरप्रदेश में क्या व्यवस्था है और उच्चकोटि के शिक्षक तैयार करने के लिये उसमें क्या सुधार होने की आवश्यकता है ?

३८—बढ़ती हुई जनसंख्या तथा जीविका-हीनता को ध्यान में रखते हुये माध्यमिक शिक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिये ?

३९—प्रथम पंचवर्षीय योजना में भारतीय शिक्षा का जो कुछ विकास हुआ है उसका एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कीजिये ।

४०—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने अपने सामने शिक्षा-विषयक क्या-क्या उद्देश्य एवं लक्ष्य रखे हैं ?

४१—केन्द्रीय तथा राज्यीय शिक्षा-संगठना तथा उनकी कार्य-प्रणाली समझाइये ।